

“न्यासांपोनिनि गद्यमोद्गात्र नैनातारं श्री १००८ श्रीमद् वित्तमान्मर्गभाजः।”

“Shrimad Vijayanandasoorasvarji Maharaj”



“॥ श्री १००८ श्रीमद् आत्मागमजी महागज ॥”

“श्री १००८ श्रीमद् आत्मागमजी महागज।”

ॐ कल्प विम ५-१८९१, मे १, १८९१ (१८९१) ॐ

दृष्ट दृष्ट वि-१९१०, जे (१८९१)

महोदय वि-१९१३, अन्तर (१८९१)



अन्तर वि-१९१३, अन्तर (१८९१)

महोदय वि-१९१३, अन्तर (१८९१)

“महागज-श्री आत्मागम नैनातारं-महागज।”

स० आचार्यश्रीमद्विजयानन्दसूरीशशिष्यरत्न-
चन्द्रगुर्विहितगिरोमणि-स० आचार्यश्रीमद्विजयकामन्दसूरीश्वरेभ्यो नमः ।

संक्रमकरणम् ~

प्रथमो विभागः

प्रणेतृपादाः—आचार्यश्रीमद्विजयदानसूरीशशिष्यरत्न
वाचकशेखरश्रीमत्प्रेमविजयगणिवराः



द्रव्यसहायकः—पाटणनिवासि—स्व० श्राद्धवर्य—मगनचन्द्रात्मज—
श्राद्धरत्न—श्रीयुत्—प्रेमचन्द्रः
प्रकाशकः—शेखरणात्मज—श्राद्धवर्य—शाह रणछोडदासः
मुम्बई 'धी य० मे० जे० सोसायट्या' अध्यक्षः

सप्त-अंशेरी (सुन्दर)

वीरसंस्कृतः—१९५०

विश्वसंस्कृतः—१९६०

इस्वीसंस्कृतः—१९६१

प्रतयः—६००]

[मूल्यम् १-४-०

This volume is a pure religious one describing the various states of "Karma" according
to the Supreme Omnipotent-up-All-Jain Deities'-s' Canon.

गुरु-स्तुतयः

“दुग्धाम्भोनिधिनात्र रौप्यकलशेनेशक्षितिघ्रेण च,
दिशगैः सितपक्षिभिश्च शशिना साकं सदा स्पृह्यते ।
कीर्तिर्यस्य मुनीश्वरस्य विमला विश्वस्य शुभ्रत्वतो,
जज्ञे विश्वगुणाकरोऽत्र विजयानन्दाभिधः स्मरिराद् ॥ १ ॥

“समुद्रं गाम्भीर्यात्तरणिमपि तेजोभिरनघै-
हिंसांशुर्याकृल्लैत्याद्विमलधिपणातः सुगुहम् ।
यशोभिर्दिशागान् व्यजयत मरालं च गतिना,
ततः पट्टेऽस्य श्रीविजयकमलाचार्य उदितः ॥ २ ॥

“बाध्याधुर्यजिता सिता गतमदा दीना मुखेऽधातृणम्,
येषां चित्तविशुद्धताजितनिशानाथः कलंकं दधौ ।
ते दुग्धाम्बुधिषुद्धकीर्तिनिकरा भव्यात्मभाजाममी,
कल्याणं रचयन्तु वीरविजयोपाध्यायपादाः सदा ॥ ३ ॥

“गम्भीरिमाधरितवारिनिधिः प्रवृद्ध-
बोधप्रभाप्रतिहृतांशुमदिन्दुधामा ।
रत्नत्रयीवितरणाजितपारिजातो,
जीषात् विशुर्विजयपूर्वकदानसूरिः ॥ ४ ॥”

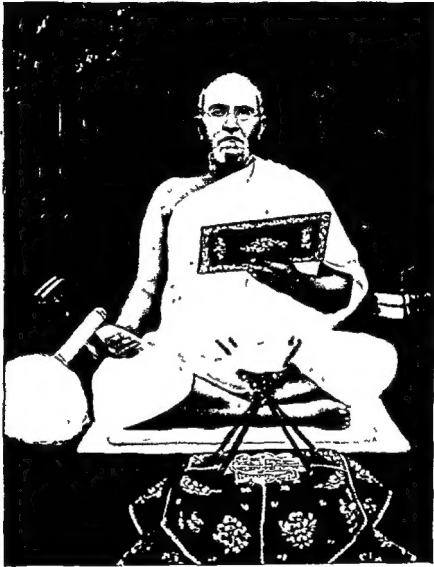
Published by Ranchhoddas Shekaran Shah, for the Donor
Shah Premchand Maganchand, Andheri. (Bombay)

Printer-Ramchandra Yesu Bhodge, at the Nirnaya-sagar
Press, 26-28 Kolbhat Lane, Bombay.

“कल्याणोदरसत्कीर्ति, श्रीतांशूज्ज्वलसंयमम् । वन्दे श्रीवीरविजयो-पाध्यायं मुनिपुङ्गवम् ॥१॥”

सद्गुणोद्धारक-न्यायाधोनिधि-श्री १००८ श्रीमद् विजयानन्दमूर्तिश्वर-गिष्परत्न-

“Upadhyaji Shree Virvijayaji Maharaj.”



“श्रीशिव भ
लक्ष्मणेश्वर
इमं २००६ ई
लक्ष्मणेश्वर

“उपाध्यायजी श्री १००८ श्रीमद् वीरविजयजी महाराज।”

जन्म वि-म-१९०७ पडवा (भावनगर)

दीक्षा वि-म-१९३५ अवाला (पंजाब)



उपाध्याय पद १९५७ पाटण (गुजरात)

स्वर्णनाम— १९७० खभात (गुजरात)

“प्रकाशक-वीरकानेर (हाल-कलकत्ता) वाला शेठ सुमेरमलजी मूरानानी।”

संक्रमकरणप्रथमविभागगत-विषयानुक्रमः ।

| विषयाः | पृष्ठाङ्कः | विषयाः | पृष्ठाङ्कः | विषयाः | पृष्ठाङ्कः |
|-----------------------------------|------------|----------------------------------|------------|---------------------------------------|------------|
| यन्त्रानुक्रमः | | नाम्नः बन्धस्थानानि | ५० | गुणस्थानेषु स्वामित्वपूर्वकानि | |
| परिशिष्टम् (रसघातविषयकम्) | | तान्येव प्रतिग्रहस्थानानि | ५३ | संक्रमस्थानानि | १५४ |
| शुद्धिपत्रम् | | नाम्नः संक्रमप्रतिग्रहसंवेधः | ५५ | बन्धस्थानानि | १५९ |
| निवेदन | | गुणस्थानद्वारेण स्वामित्वं, तत्र | | स्वामित्वपूर्वकानि | |
| वाङ्मूलम् | | चतुर्दश गुणस्थानानि च | ५९ | प्रतिग्रहस्थानानि | १६२ |
| मङ्गलम् | १ | मिथ्यात्वं सम्भेदम् | ५९ | संक्रमप्रतिग्रह- | |
| संक्रमाधिकारः, सामान्यविशेष- | | सास्वादनं, मिथं च | ६४ | स्थानादिसर्व- | |
| लक्षणं च | २ | अविरतिगुणस्थानं सविस्तरम् | ६४ | संवेधः, तत्र च | |
| अपवादनिषेधौ | ३ | देशभिरतिगुणम् | ७३ | ज्ञानावरणान्तराययोः | १६४ |
| दर्शनमोहे भूतान्तरम् | ५ | ग्रमचाम्रमत्तापूर्वाणि | ७४ | येदनीय ग्रासयोः संवेधः | १६५ |
| नवमगुणे दर्शनपरिषहचर्चा | ६ | अनिवृत्तिधृक्मरेपशमगुणस्थानकानि | ७५ | दर्शनावरणस्य | १६६ |
| संक्रमद्विविधता | ८ | क्षीणकषायम् | ७६ | मोहनीयस्य | १६७ |
| पतद्गहद्विविधता, विकल्पद्वारं च | ९ | श्रेणिद्वय उपशमश्रेणिस्वरूपं | | मोहनीयस्य प्रतिग्रहे संक्रम- | |
| साधादिप्ररूपणाधिकारः | | करणत्रिकस्थितिपाठाद्यु- | | संकलना | १७७ |
| (संक्रममाश्रित्य) | | पशमनाक्रमसर्वसमेतं | | गुणस्थानेषु नाम्नः संक्रमप्रति- | |
| संक्रमपर्यवसानाः | १० | उपशमनाप्रतिपातः | ११८ | ग्रहादिसंवेधः | १८१ |
| साधादिप्ररूपणा (पतद्गहमाश्रित्य) | ११ | क्षपकश्रेणिरपि पूर्ववत् | १२० | जीवस्थानेषु संक्रमादिविचारः | १८८ |
| " (संक्रमस्थानं प्रति- | | आपदयकचूर्णमतः | १२८ | ग्रन्थसमाप्तिः | १९० |
| ग्रहस्थानं चाश्रित्य) | १२ | सयोगिस्वरूपं, तन्नावर्तिकाकरणम् | १३० | | |
| संस्थानबन्धस्थानपूर्वक संक्रम- | | समुद्रातश्च | १३१ | सं० प्र० विभागे प्रतिकृतयः । | |
| प्रतिग्रहस्थानभजनम् | १६ | योगिनोपः | १३३ | स्व० पू. आचार्य श्रीविजयानन्द- | |
| मोहनीयस्य संस्थानानि, संक्रम- | | अयोगिकेवटी | १३७ | सूरिजी महाराज (ग्रन्थकर्ताना | |
| स्थानानि च | १८ | क्षपकसमाप्तिः | १४३ | संघाडाना मूल पुरुष) | |
| मोहस्य बन्धस्थानानि | २६ | प्रतिगुणस्थानेषु ग्रहृतिसंक्रमः | १४४ | स्व० पू. उपाध्यायजी श्री बीरविज- | |
| मोहस्य प्रतिग्रहस्थानानि | २७ | " " प्रकृतिप्रतिग्रहः | १४५ | यजी महाराज (ग्रन्थकर्तानागुरुना गुरु) | |
| मोहस्य संक्रमप्रतिग्रहसंवेधः | २८ | प्रतिगुणस्थानेषु सत्ताप्रकृतयः | १४७ | पू. आचार्य श्री विजयदानसूरिजी | |
| नाम्नः सत्तास्थानानि | ३३ | " बन्धप्रकृतयः | १४९ | महाराज, ते श्रीविजयानन्दसूरिजीना | |
| " संक्रमस्थानानि | ३३ | " प्रकृतिस्थानसंक्र- | १४९ | जनन्यपट्टधर आचार्य श्री विजयक- | |
| मिननामविषये विशेषम् | ३५ | भादिस्वामित्वे | | मल सूरिधरना आप्यपट्टालकार (ग्रन्थ- | |
| प्रस्तुतं (नाम्नः संक्रमस्थानानि) | ३८ | सत्त्वस्थानानि | १५१ | कर्ताना गुरु) | |
| | | | | पू. उपाध्यायजी श्रीप्रेमविजयजी गणी | |
| | | | | महाराज (ग्रन्थकर्ता) | |

संक्रमकरणप्रथमविभागगत-यन्त्राणि ।

अनुक्रमः

पृष्ठाङ्कः

अनुक्रमः

पृष्ठाङ्कः

| | |
|--|----|
| १ (१५४) प्रकृतीनां संक्रमसाद्यादिभङ्गकथनम् | १० |
| २ (१५४) प्रकृतीनां संक्रमपर्यवसानाः | ११ |
| ३ पतद्ब्रह्मप्रकृतीनां साद्यादिभङ्गकथनम् | १२ |
| ४ मोहायुर्नामवर्जप्रकृतिसंक्रमस्थानानां साद्यादिभङ्गकथनम् | १३ |
| ५ मोहायुर्नामवर्जकर्मणां पतद्ब्रह्मस्थानानां | " |
| ६ मोहनीयसंक्रमस्थानानां साद्यादिभ० | १५ |
| ७ मोहनीयप्रतिग्रहस्थानानां साद्यादिभ० | " |
| ८ नास्त्यः संक्रमस्थानानां साद्यादिभ० | " |
| ९ नास्त्यः प्रतिग्रहस्थानानां साद्यादिभ० | १६ |
| १० दूर्वानावरणमोहायुर्नामवर्जकर्मणां सत्स्थानादियन्त्रम् | १७ |
| ११ दूर्वानावरणीयस्य सत्स्थानादि० | " |
| १२ मोहनीयस्य सत्स्थानानि | १८ |
| १३ मोहनीयस्य सत्स्थानादियन्त्रम् | २२ |
| १४ मोहनीयस्य बन्धस्थानानि | २७ |
| १५ मोहनीयस्य प्रतिग्रहस्थानानि | " |
| १६ मोहनीयस्य संक्रमप्रतिग्रहसंवेधयन्त्रम् | ३० |
| १७ प्रकारान्तरेण तस्य यन्त्रम् | ३२ |
| १८ नास्त्यः सत्तास्थानानि | ३३ |
| १९ नास्त्यः संक्रमस्थानानि | ५० |
| २० नास्त्यः बन्धस्थानानि, तान्येव च प्रतिग्रहस्थानानि सम्भक्तानि | ५४ |
| २१ नास्त्यः प्रतिग्रहस्थानेषु संक्रमस्थानानि सत्तामिकाणि | ५७ |
| २२ अष्टभङ्गकथनम् (न जानासादेः) | ६५ |
| २३ यथाप्रवृत्तकरणविशुद्धिः (उपशमश्रेणौ १) | ७७ |
| २४ अपूर्वकरणविशुद्धिः (२) | ७८ |
| २५ उदयवतीनां—गुणश्रेणिविग्रहम् (३) | ७९ |
| २६ अनुदयवतीनां—गुणश्रेणिविग्रहम् (४) | ८० |
| २७ रसप्रतिपाते धार्यमानानुभाषपर्यवसंख्या (५) ८१ | |
| २८ गुणसंक्रमः (६) | " |
| २९ अनिष्टसिद्धिः (७) | " |
| ३० करणप्रयस्य स्थापना (८) | ८२ |
| ३१ अनन्तानुबन्धिनामुपशमनाक्रमः (९) | ८४ |
| ३२ अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनाक्रमः (१०) | ८५ |

| | |
|---|-----|
| ३३ अनादिमिथ्यात्वोपशमना उपशमसम्पत्त्वस्य प्रथमलोभो वा (११) | ९० |
| ३४ श्रेणिसत्त्वदर्शनमोहोपशमना (१२) | ८८ |
| ३५ चारित्र्यमोहस्यान्तरकरणविपमता (१३) | ९६ |
| ३६ अन्तरकरणकाले दलिकप्रक्षेपः (१४) | " |
| ३७ नपुंसकवेदोपशमना (१५) | ९८ |
| ३८ पुंवेदोपशमना (१६) | ९९ |
| ३९ संवत्सल्लोभस्य द्वितीयस्थितौ किं-टीकरणविधिः (१७) | १०३ |
| ४० चारित्र्यमोहस्य सर्वोपशमनानुक्रमः (१८) | १०६ |
| ४१ संक्षेपतः प्राचीनशैल्या मोहोपशमनाचित्रम् (१९) | ११५ |
| ४२ उ० श्रेणितः प्रतिपततः प्रथमस्थि-टीकरणम् (२०) | ११७ |
| ४३ भिन्नकपापोदयेन—विशेषः (२१) | १२० |
| ४४ भिन्नवेदेन—विशेषः (२२) | " |
| ४५ दर्शनमोहक्षपणानुक्रमः (क्षपकश्रेणौ १) | १२३ |
| ४६ पुंवेदिनः सं० मोघेन क्षपकश्रेणिक्रमः (खोमकिहिरइयप्पैकम्) (२) | १३८ |
| ४७ गुणस्थानेषु प्रकृतिसंक्रमयन्त्रम् | १४५ |
| ४८ " प्रतिग्रहयन्त्रम् | १४६ |
| ४९ " सत्तायन्त्रम् | १४८ |
| ५० " बन्धयन्त्रम् | १५० |
| ५१ " सत्त्वस्थानयन्त्रम् | १५४ |
| ५२ " संक्रमस्थानयन्त्रम् | १५९ |
| ५३ " बन्धस्थानयन्त्रम् | १६२ |
| ५४ " प्रतिग्रहस्थानयन्त्रम् | १६४ |
| ५५ " प्रथमान्तिमकर्मणोः प्रतिग्रहे संक्रमस्थानयन्त्रम् | १६५ |
| ५६ ज्ञानावरणस्य दृढकप्रकृतिविवक्षया | " |
| ५७ अन्तरायस्य | " |
| ५८ गुणस्थानेषु वेदनीयस्य संवेधः | १६६ |
| ५९ " गोत्रस्य | " |
| ६० " दूर्वानावरणस्य | १६७ |
| ६१ " मोहनीयस्य संवेधः प्रथमगुण-स्थाने | १६९ |

| अनुक्रमः | पृष्ठाङ्कः | अनुक्रमः | पृष्ठाङ्कः |
|---------------------------------|------------|---|------------|
| ६२ मोहनीयस्य—द्वितीयगुणे | - " | ७३ क्षापकद्वयेरुमयश्रेण्यां पतद्गहेषु संक्रमस्या- | - |
| ६३ " तृतीयगुणे | १७० | वसंकलना | १८१ |
| ६४ मोहनीयस्य—चतुर्थे | १७१ | ७५ नामकर्मणः पतद्गहाः सस्वामिमङ्गकाः | १८२ |
| ६५ " पञ्चमे | " | ७६ मिथ्यात्वे नाज्ञः संक्रमादिसंवेधः | १८३ |
| ६६ " षष्ठे (सप्तमेऽपि तद्वत्) | १७२ | ७७ सास्त्रादने नाज्ञः पतद्गहाः सस्वामिमङ्गकाः | १८४ |
| ६७ " अष्टमे | १७३ | ७८ " " संक्रमसंवेधः | १८५ |
| ६८ " नवमे-उपशमोपशमकानाम् | १७४ | ७९ मिथ्ये " " | " |
| ६९ " क्षायिकोपशमकानाम् | १७५ | ८० सविरतौ नाज्ञः पतद्गहाः सस्वामिमङ्गकाः | " |
| ७० " नवमे क्षपकश्रेण्याम् | १७७ | ८१ " " संक्रमसंवेधः | १८६ |
| ७१ " १०-११ मयोः उपशमोप- | | ८२ देशविरतौ, प्रमत्ते च नाज्ञः संवेधः | " |
| शमकानाम् | १७७ | ८३ अग्रमत्ते नाज्ञः संवेधः | १८७ |
| ७२ मोहनीयस्य संक्रमपतद्गहसंकलना | १७८ | ८४ अपूर्वकरणे— | " |
| ७३ " (भेगिगतानाम्) | १८० | ८५ नवमदशमगुणस्थानयोर्नाज्ञः पतद्गहे संक्रम- | १८८ |
| | | संवेधपञ्चम् | |

परिशिष्टम् ।

अष्टसप्ततितमे (७८) पृष्ठे स्थितिघातानन्तरं रसघातोऽप्यग्राधः यथोक्तस्तथा वेदितव्यः-
रसघातो नाम अशुभप्रकृतीनां यदनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषान् सर्वानप्यनुभाग-
भागानन्तमुद्भूतेन कालेन विनाशयति । ततः पुनरपि तन्मग्यादनन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषान्
सर्वाननुभागभागानन्तमुद्भूतेन कालेन विनाशयति । एषमेकैकसिन् स्थितिखण्डेऽनेकानि स्थिति-
खण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, स्थितिखण्डसहस्रैरपूर्वकरणं परिसमाप्यते च, तदुक्तं पञ्चसंग्रहे-
“अशुभागतमुद्बुधेण हणद् रसकदम्बं अर्णवसं । किरणे दिङ्खण्डाणं तन्मिभो रसकदम्बसहस्रता ॥ १ ॥” इति ।

शुद्धिपत्रम्

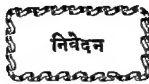
| पृ० पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-----------------|----------|----------|----------|
| ३ १५ | नुत्पद्य | नुपपद्य | ८ ३२ | यध्यमा | यध्यमा |
| ४ १५ | घन्धे | घन्धे | ९ २० | पयैत | पयत्तै |
| " २४ | ययोः | ययोश्च | १८ १८ | पट् | पट् |
| ५ १० | कल्पे | कल्पमाप्यवृत्तौ | २० ७ | पुंवद् | पुंवद् |
| " २५ | ओचि | ओ चि | २७ ८ | सचन्धधि | सर्वध धि |
| " " | जाइ | जाइ | " " | सम्मा | ससम्मा |
| " " | दिव्यं | दिव्यं | " १२ | तेप | तेपां |
| " २६ | पुणो | पुण पच्छा | " १३ | संयां | संय |
| ८ ७ | नयोप | न योप | ३०(यं०)९ | ० | ० " |
| " १२ | वयध | वयाव | " १० | ० | " ० |

| पृ० पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|-------------|-----------------|
| ३० ११ | ० | " ० |
| " १५ | ० | ० " |
| " १६ | ० | " ० |
| " २० | ० | ० " |
| " २१ | ० | " ० |
| ३४ २९ | स्याहार | स्याहार |
| ३५ २१ | प्रथक | पृथक् |
| ३६ ४ | सत्ता | सत्ता |
| " १० | सत्ता | जिननाम्नः सत्ता |
| " ११ | तत्र मने | तत्र गमने |
| " १५ | घट्टण | घट्टोव |
| ३७ २२ | कर्मती | कर्म ती |
| ३८ ३ | न | उच्यते |
| " २८ | मेतत् | मेतत् ! |
| ३९ ६ | भ्यक्तवेन | भ्यक्तवेन । |
| " १९ | तद्वन्ध | तद्वन्ध |
| " २७ | वओगे | वओगे |
| " २८ | णं | णे |
| " २९ | वण्णा | वणया |
| ४० १३ | प्रतिज | यतिज |
| " १८ | सव्येपवि | सव्येऽवि |
| ४१ १२ | पुव्वन्तो | पुव्वन्ते |
| " " | नय | न य |
| " १५ | व्यन्तरा | व्यतरा |
| " १६ | अन्तरान्तः | अतरान्तः |
| ४२ २६ | शिवंगा | शिवंग |
| ४४ १७ | तरस्यागः | तस्यागः |
| " " | यथाऽस्यानु | यथा स्यानु |
| " १८ | जिंस्यतानु | जितस्यानु |
| " २१ | क्षम-नुष्ठी | क्षमनुष्ठी |
| " २२ | चेत सा | चेतसा |
| " २४ | पुरुष | पुरुष |
| ४५ ७ | कर्त्तव्या | कर्त्तव्या |
| " १९ | सर्पतो भद्र | सर्पतोभद्र |
| " २७ | वाच्छायादि | वा च्छायादि |
| ४९ २ | सत्ताकाः | सत्ताकाश्च |
| " १३ | तिरिति | तिष्ठेति |
| " १६ | ईश्रीतिः | ईश्रीतिश्च |
| " ३१ | या | च |

| पृ० पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|--------------|--------------|---------------------|
| ५१ ३१ | पर्याप्त | अपर्याप्त |
| ५३ ६ | संख्या | संख्यया |
| " ८ | ८। | ८। सर्वोप |
| " १५ | सर्वेऽपि | यथास्वं तिर्यङ्गराः |
| " १९ | करणा च | करणाश्च |
| ५३ २१ | ख्यायऽ | ख्याया देवप्रा० अ |
| " २२ | भवति | भवन्ति |
| ५४ (शीर्षम्) | [बन्धत्स्या | [ना० बन्धत्स्या |
| ५६ ३ | रुपायां | रुपायामेकेन्द्रिय- |
| " | | प्रायोग्यायां |
| " ५ | स्थानं | स्थानानि |
| " ८ | मनुष्यो | मनुष्या |
| ६० ५ | पाविज्जति | पाविज्ज ति |
| " ६ | सम्पद्यते- | सम्पद्यते, |
| " ११ | रो च- | रोचय- |
| " १२ | रोचमानो | रोचयमानो |
| " १७ | मात्मकम् | मात्मकं च |
| ६१ ११ | खस्वाभ्यु | खस्वाभ्यु |
| ६२ १६ | नाममि | नामाभि |
| " २७ | व्यक्ता | व्यक्ता |
| ६३ ७ | मिच्छंति | मिच्छं ति |
| " ३० | जमालीं | जमाली |
| " " | संसंगाय | ससङ्गीय |
| ६४ ९ | णाणज्झा | णाणज्झा |
| " १६ | वतर्त | वर्तत |
| " २२ | साखाद् | साखाद् |
| ६५ ५ | अविरह्णं | अविरह्णं |
| ६५ ६ | असज्जम | असंजय |
| " ७ | पापक | पावक |
| " ८ | त्रयास्मि | त्रयस्मि |
| ६६ १० | उत्थि अदे | उत्थिअदे |
| " " | ग्गहि | ग्गहियाणि |
| " ११ | अणाळि | अणाळ |
| " १२ | दाणं | दाउ |
| " १३ | त्तिकं | त्तिकं |
| ६७ १२ | भावः | भाव- |
| " १३ | ओअ | ओ अ |
| ६९ ६ | पण्यदौ | पण्यदौ |
| " ११ | चयरच | चरय |

| पृ० पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|--------------|-----------------|-------------------|
| " २० | कारणं | कारणकः |
| " २५ | दुगं छाए | दुगंछाप |
| ७२ ३ | चउव्व | चाउव्व |
| " ९ | तत्रोद्गा | तत्रेपद्गा |
| " १९ | कान्तर | कान्तार |
| ७३ ११ | सर्वथाऽऽ | सर्वथाऽ |
| ७४ १४ | निघर्त | निर्वर्त्त |
| ७५ १७ | निर्वृत्ति | निवृत्ति |
| " १९ | वादर | वादरसम्पराय |
| " ३२ | कप्यन्ति | कपन्ति |
| " " | कपन्ते | कप्यन्ते |
| ७९ (यन्त्र) | अन्तर्मुहूर्तम् | अन्तर्मुहूर्तम् |
| " " | एवं वि | एवं वि |
| " " | प्यमे | प्यमे |
| ८० " | भागंप्रति | भागं प्रति |
| " " | मनुभाग | मनुभाग- |
| ८१ " | भागगा | भागग |
| " " | जघन्य | जघन्य |
| ८३ " | रुद्रावि | रुद्रा वि |
| ८७ १ | प्रति | प्रति- |
| " १३ | त्यस्य | त्यस्यारभ्य |
| ९० (नोट) | वाचनीम् | वाचनीयम् |
| ९१ १२ | देशोप | सर्वकर्मणां देशोप |
| ९२ ८ | तोऽपि | तोऽपि जघन्यत- |
| | | द्यापि |
| ९४ १६ | असद्य | असंय |
| ९५ २२ | यन्धमन्धं | यन्धं करोत्यन्यं |
| १०० ११ | लिकाकालं | लिकादिककालं |
| " २६ | शमनां | शमनां च |
| १०२ ९ | वेदनादा | वेदनादा । |
| १०३ २२ | किट्टिः | किट्टिः |
| १०४ (यन्त्र) | न्ताः द्वि० परं | न्ताः, परं द्वि० |
| " " | १५ | ५ । |
| ११८ ७ | समत्ता | समत्त |

| पृ० पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|----------------|--------------------|---------------|
| १२० (यन्त्र) २ | घञिकं (नपुं० वत्) | घञिकं |
| " " | क्रोधञिकं | क्रोधञिकं |
| " " | प्रथमं " | प्रथमं " |
| " " | " " | " " |
| " ११ ३ | मानञिकं (क्रोधवत्) | मानञिकं |
| " " | मानञिकम् | मानञिकम् |
| " " | " | " (क्रोधवत्) |
| " " | " | " (नपुं० वत्) |
| " " | " | " |
| " ४१ | मायाञिकम् | मायाञिकम् |
| " " | " | " (क्रोधवत्) |
| " " | " | " (नपुं० वत्) |
| " ५१ | लोभञिकम् | लोभञिकम् |
| १२१ ७ | रसघातं | रसघातं च |
| १२६ ३१ | त्सधया | त्समया |
| " " | प्रथमां | प्रथमां |
| १२८ १२ | गोत्रान्तराय- | गोत्र |
| १३१ ३ | प्रतिभाज्याः | प्रति भाज्याः |
| १३७ ४ | माणानि २ | माणो २ |
| " २७ | यद्वाशीलं | यद्वा शीलं |
| १४१ य० ३ | न्तर्मुहु | नार्मुहु |
| " " | भयन्धधा | भयन्ध वा |
| १४८ ६ | सुताः | , उक्ताः |
| १४९ ७ | स्याच- | स्यावर- |
| १५३ १८ | दिवन्ध | दिवन्ध |
| " ३२ | त्पद्यन्ते | त्पद्यते |
| १५४ ६ | णस्याप | णस्यापि |
| १५८ १० | यद्वा | यद्वा |
| " १४ | यद्वा | यद्वा |
| १६२ १० | त्मकमेव | त्मकमेकमेव |
| १६८ २३ | संक्रमस्या | संक्रमस्थाना |



निवेदन

આ મહાન ગ્રન્થ અગાડયી સહાયક ગ્રાહકો ડમા કરી તેમનાં મુબારક નામો સાથે પ્રગટ કરવાની યોજના પ્રથમ કરવામાં આવી હતી અને તે મુજબ પૃથ્વી કેટલીક જાહેરસ્થાનો પળ વહેંચવામાં આવી હતી, પરંતુ પાછળથી પૂ. યોજના પદ્ધતી ચુકવમાં આવી હતી. અને સ્વતંત્ર સહાયકોની ધર્મસહાયથી આ કાર્ય પાર ઉતારવાનું હુસ્સા ધારવામાં આવ્યું હતું. જેના પરિણામે આ પ્રથમ વિભાગ પાટળના આદરજ્ઞ શ્રીમાન્ પ્રેમચંદ્રભાઈ મગનચંદના સરકારી હદાર પદ્ધતો આપ સૌ કોઈ જોઈ શકશો. તેઓ સંવંધમાં આ સ્થળે કોઈક વધુ જણાવતું તે સ્વાસ્થ અનુમોદનીય હોવાના કારણથી ઘાંચનારાઓને મેશક લાભકારક છે માટે જણાવીપૂ છીપ—

રાસતવપંચા પાટળનિવાસી સંઘથી શ્રીયુત મોહનલાલ સુનીલાલ અધિરીમાંથી જ્યારે ધારિત્ર પ્રદળ કરવાના હતા ત્યારે આ વધોદ્વલ અને ધર્મરંગી પુરુષે તેઓની સાથે આ ગ્રન્થકર્તા પૂજપર્વની પાસેજ ધારિત્રની આરાધના માટે દુન્મેશ વૃક્ષાલ્પના કરવાનો અને રૂ. ૫૦૦૦ નો ધર્મના સારા કાર્યમાં સદુપ્યવ કરવાનો આત્મકલ્પાનકર નિયમ ધર્મીકાર કર્યો હતો. કયા ધર્મપ્રેમી સજ્જન માટે આ ધીના અનુમોદનીય અને અનુકરણીય ન ગણાય ? ધન્ય છે ધુમની દિવ્યતા અને દ્રવ્યતાને કે મોહનમાદુપ દીક્ષા લીધી ત્યારથી વૃક્ષો પોતાનો નિયમ નિયમીત રાલે છે. વૃક્ષોશ્રીદ પોતે ફેરેલી મોનવૃક્ષાદરી, જ્ઞાનપંચમી, તથા નવપદ્મપત્રની આરાધના નિમિત્તે આ પ્રમુખાપિત શ્રી મહામંગલસ્વરૂપ, આત્માને વિવેકવશુમાપક અને ત્રણે સુવનથી રૂચ્છા કરાતા, પરમ તારક, વૃક્ષા સદુજ્ઞાનની મકિરુપે પોતાના ઉપકારી નિર્ગ્રન્થ ગુરુવર્ષના આ ગ્રન્થરત્ને અખ્યાસીઓ આગલ પોતાના જુમ સર્વે સમર્પણ કર્યું છે. આથી તેઓ સાહેબે ગુરુમકિ અને પ્રવચનમકિ ધુમ વશ્યે લામોને વૃક્ષ સાથે ઉપાવંન કર્યા છે વૃક્ષ કહી શકાય. આ પ્રમાણે આ ગુસ્તક શ્રીયુત પ્રેમચંદ્રભાઈની ઉદાર દ્રવ્ય સહાયથી પ્રગટ થાય છે.

હવે, ધીજા કેટલાક ઉદાર ધર્મપ્રેમી ગુરુમક મહાશયોની પળ કેટલીક વરસુરળ રકમો આવેલી છે. પરંતુ તેનો ઉપયોગ ધીજા ભાગ માટે કરવાનો રાખ્યો છે. જેથી કરીને તે સ્થલેજ તેઓનો નામ નિર્દેશાદિક કરવામાં આવશે.

વજુમાં આ ગ્રન્થ સહાયકો તરફથી જો કે અખ્યાસીઓ માટે અમૂલ્ય છે. તથાપિ સહાયક અને જુમચ્છકોતી અનુમતિથી વિરોધ લામને ઉદ્દેશી સર્વ કરતાં લગભગ અઢધી ફીમત રાસતવી રૂપ જણાઈ છે. અને તેનો ઉપયોગ જ્ઞાનજ્ઞાતામાન કરવાનો રાખ્યો છે. જેથી આ વિચારને વાવકમહાશયો આદુરપૂર્વક વધાવી લેઈ સારો દેકો આપશે વૃથા અમારી વિનંતિ છે. અગાડયી જે મહાશયોપ નકલો નોંધાવી છે તેઓને વળ આ ઓછી ફીમતનો લામ અવશ્ય મલશેજ.

છેહી વૃક્ષ વાત અને તે સુંબઈ શહેરના નિર્ણેપસાગર પ્રેસના માયાલુ મેનેજર અને અનુમતી કમ્પોઝીટર આદિ સ્ટાફે આ અમૂલ્ય ગ્રન્થને તેનો વધોસહિત છાપવામાં વહુ મહેનતનું કામ હોવા છતાં સાધારળ વૃથા અમને સંતોષકારક રીતીપૂ શાંતિમી અને ધીરજથી જગાવેલું છે અને તેમાં વળ સાધારળ પ્રેસોમાં ન થઈ શકે તેવાં મતિ અટપટાં વધો વળ સફાઈવંધ કરી આપવામાં તેમણે કમાલજ કરી છે. ધીનું આ ગુસ્તકમાં આવેલ વધોનો કેટલોક માગ સીનોર નિવાસી ધાવક પંથિત વંદુલાલ નાનચંદ્રભાઈનો કરેલો છે. વિરોધ આ ગ્રંથ પ્રેસમાં ગયા વધી તેનાં મુક વિગેરે. પૂ. પા. આચાર્ય મહારાજ શ્રીવિજયમેશ્વરીશ્વરજીના દરિપયમાં વળ જઈ આવેલ છે. જેમી છપસ્ય વળાને ઐને વિરોધ સ્થલના સ્વાસ્થ રહેવા ન પામે તેથી વળ અમાં વનરી ષોજસી કરવામાં આવી છે પૂ સ્વતઃ સમજી શકાશે. આ ગ્રન્થ જેટલો સારો તેટલો ટાઈપ વિગેરેની મોટવળથી શીમારવડ, કલ્યામય અને સ્વાસ્થ આકર્ષક થયો છે તે કહેવાની અગ્યેજ જહર રહે છે. આ ગ્રંથમાં હુદા છાદા ઘળા મનનીય વિપયો ઉપરાંત પ્રાયઃ દેરક રૂક્ષીકવનાં નાનાં મોટાં સુષ્ક અને સરલ ૮૫ વધોનો સમાવેશ થયેલો છે. વાંચકો આ જોહને અવશ્ય આનંદ પામશે અને પોતે સર્વેલી ફીમતને વજુ પ્રમાણમાં સફલ થયેલી જોઈ શકશે વમાં અમને જાણ સંજાય મજી પૂજ.

લી. શાહ રળછોડમાઈ શેશકરળ પ્રમુલ. જૈ. વં મે. સો.

આ પૂજ ગ્રન્થકર્તાનાં રપેલાં સંકમરળનો ધીજો માગ તથા શ્રીમાર્તાગ્ધારવિપરળ નામનાં ગુસ્તકો આ પ્રેસમાં થાલ છે. વનો વળ મોટા વલતમં ત્રિશુઓને લામ મલશે વૃથા અને આજા રાષ્ટીપૂ છીપ.

शासन-प्रभावक, प्रवचन पारंगत-



आचार्य पद-१९८१.

महोपाध्याय

महि-पंथान पद-१९६३.

संभार

जन्म, विष्णु मं-१९२४.

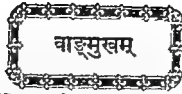
महोपाध्याय

महि-पंथान पद-१९६३.

संभार

“आचार्य श्रीमद् विजयदानसूरीश्वरजी महाराज ।”

“गम्भीरिमाधरितवारिनिधिः प्रबुद्ध- बोधप्रभाप्रतिहतांशुमदिन्दुधामा ।
रत्नप्रयोवितरणाञ्जितपारिजातो, जीयाप्रभुविजयपूर्वकदानसूरिः ॥१॥”



प्रेम्णा पारयतां द्विपद्मयुगले प्राणम्य पापापहे,
विश्वे विश्वगुणाकरान्गुरुवरान् स्थत्वा सदा सर्वज्ञान् ।
गीर्वाणीं मतिमान्धकर्तनङ्गीरमानीय हृन्मन्दिरे,
स्वल्पमोऽपि तनोमि पूज्यरूपया श्रीसंक्रमोपक्रमम् ॥ १ ॥

अथाऽस्य संक्रमकरणादभ्य संदर्भस्य भूमिकावसरे तावद्विषयत्रयेण निरूपणेनैरलालिकार्य-

सतामलङ्कार । प्रथमस्तावत्संक्रमसंदर्भसंदष्टवृत्तसमयसंज्ञा, द्वितीयः प्रकरणप्रणेतृपरिचयः, तृतीयः प्रक्रमप्रकरणोपोद्घातः । तत्र प्रथमद्वितीययोर्विषये संदर्भसंदष्टवृत्तसमयसंज्ञाप्रणेतृपरिचयमप्युक्ता न शक्ये प्रथमे विभागे उपन्यस्तुं, भूमिकाभूयस्त्वभयात्, सामप्रोक्ताकृत्यानुकृत्याभावात् । तस्माद-
पशिष्टं विषयमेकमेवाधुनोपक्रम्यते ।

तत्र तावत् कर्मकण्ठीरवानेकप्रकारकूरुनूरकदर्यनाकदर्थिते कपायकान्तागमिपरितप्यमाना-
सुमद्वनेचरजाते विषयपञ्चकानेकानेकविषयवायूपनीतविशालविदम्भनाविदम्भिते सर्वत्र विद्विष्ट-
प्रजविमुले प्रबलमोहमातङ्गमर्मभिन्त्यङ्करगर्जनाप्रतिभये पिपासापश्यतोद्वेगपरिद्विषमागदुरस्यदूरस्य-
धर्मधने विनश्वरसंयोगसुखादिनेसर्गिकोपवनादिलीलापातरमणीये धलवत्तरकालचौरव्याप्तफलभागेऽ-
स्मिन् संसारकान्तारे तावत्पुरुषार्थचतुष्टयमर्थ्यमानः प्राणभृद्भारोऽहंपूर्विकापुरस्सरं प्रवृत्तिप्रवणः परि-
दृश्यते इत्यापामरप्रत्यभिज्ञाप्रसिद्धम् । तत्रापि पुरुषार्थचक्रचूडामण्यपवर्गमुद्दिश्य प्रवर्तमानाः पुरुषाः
अत्रार्थावर्त्तावनौ आचारविचारवचनविचित्रयैकविधुतायां धर्मैरुनाग्नेय परिप्राग्व्यमानविचित्रजन्मजाल-
जटिलायां विशेषतो दरीदृश्यन्ते । कार्यकारणभावापन्नस्य पुरुषार्थचतुष्टयस्यास्य हेयहोयोपादेयात्मक-
सम्यक्सवरूपं जैमिनिदर्शनविरोधं दूरोत्सार्य सर्वज्ञेश्वरादेव यथायथं प्रवेदितुं न केनाऽपि शक्यमित्यपि
नापरोक्षं विपश्चिताम् । तत्र तावत् केयं मुक्तिर्यामुद्दिश्य जगत् प्रवर्तते इत्याकांक्षायां 'मुच्यते कर्मभिः
प्राणिनोऽत्रे'तिव्युत्पत्त्यापि क्लृप्तकर्मक्षयरूपो मुक्तिपदार्थः प्राप्यते । यद्यप्यस्मिन् विषये न केपाद्धि-
द्विदुषां, न कस्यचिद्दर्शनश्रुतो, न केपांचित् सुमनसां शब्दात्मकतया विप्रतिपत्तिः समस्ति तथापि
अर्थरूपतया तन्मुक्तिरथं भूयसां विप्रतिपत्तिविषयमस्तेव । ततोऽनेकमन्तव्यान्यत्र लक्षणात्मक-
शैल्या केवलं प्रदर्शयिष्यामि, न तु मण्डनरण्डनविचारेऽवतरिष्यामि, यतस्तनु वत्र वत्र मन्थेषु
संख्याबद्धिः स्वयमेव विलोकनीयम् । तानि मन्तव्यानि यथा—

“समानाधिकरणदुःखप्रागभावासहृष्टसिद्धुःसम्बन्धसत्त्वम्” आक्षेपादाः । “आत्यन्तिकदुःखप्राग-
भावत्वं” प्राभाकराः । अत्र आत्यन्तिकत्वं नाम स्वसमानाधिकरणदुःखासमानकालीनत्वं हेयम् । “दुःख-
साधनध्वंससत्त्वम्” अरे । “दुःखालान्ताभावत्वं” केचन । केचित् “दुःखध्वंससम्भोमत्त्वम्” । “आनन्द-
मयपरमात्मनि जीवात्मलयो”ऽद्वैतसिद्धितत्पराः । “अनुपप्लवा विचित्रसन्ततिः” शौद्रोदनाः । “प्रकृतिवदि-
कारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः” सांख्याः । “आत्मज्ञानं मुक्तिः” इति लोकायतिकाः ।

वस्तुतस्तु 'कृत्स्नकर्मक्षय एव मोक्ष' इति सिद्धान्तः । किञ्चेदमपि साधनत्वेन बोध्यम् । साधनत्वेन नामेतरेच्छाधीनेच्छाविषयत्वेनेत्यर्थः । साध्यत्वेनापरेच्छापरायत्तेच्छाविषयत्वेन तु कृत्स्नकर्मक्षयद्वारा साध्यस्य परमानन्दस्यैव मुक्तिपदवाच्यत्वं सम्यक् संगीर्यते समयाञ्जनव्यक्तसवित्तिविलोचनतेजोभिः पूर्वर्षिप्रकाण्डैः । तत्कथं युक्तियुक्तमुपपद्यते इति तु न्यायविशारदन्यायाचार्यतर्कानुशासनान्भोजोऽहर्मणिर्वाचकबुद्धाप्रणीश्रीमच्छोविजयगणिवरप्रणीतन्यायालोकाद्वसदर्थे स्वयं सुधीभिर्विलोक्यम् ।

नन्यनुपदेकमुक्तिपदवाच्यत्वस्य परमेश्वरप्रोच्यमानत्वेन तस्मिन् परमेश्वरे एवानाश्वासात् सुतरां तन्मुक्तिपदार्थे नोऽनाश्वास इति प्राक्पतिपादितमरण्यरुदनाभं सजातमिति चेन्न, ईश्वरविषयकविप्रतिपत्तिप्रस्तावेऽपि पूर्ववत् न कस्यापि सचेतसोऽस्तित्वं लोकेऽस्मिन् वर्तते यो यत्किञ्चिद्रूपापन्नमपीश्वरं न मन्येत, अत एव 'लोकव्यवहारसिद्धस्वरूपमीश्वर' मन्यमानस्य चार्थाकस्योक्तिरपि सङ्गच्छते । 'सुख मे भूयात् दुःखं मे मा भूयात्' इति कामनाकामिनीवशंवदं जगत् परमेश्वरोपास्तिपरायणं धोभूयमानं यत् दरीदृश्यते तदपि तस्मिन् प्रसिद्धानुभावे परमेश्वरे शङ्कादहनदन्दक्षमानदेहिचिते धाराधरधारानिभम् । यद्यपि जैमिनिदर्शनबद्धकक्षाः पूर्वमीमांसांसीमांसामांसला आप्तोक्तेर्नित्यनिर्दुष्टत्वसुरीकृत्य तस्मिन् श्रद्धापीयूषपराङ्मुखा धोभूयन्ते तद्यथा युक्तिसगतं न भवति तथा सम्मतितर्कन्यायकुसुमाञ्जल्यादौ धीमङ्गिः स्वयं ध्येयम् । भूयः तस्मिन्मीश्वरे क्षित्यङ्कुराविकर्तृत्वं यथा नोपपद्यते तत्तु शास्त्रवार्तासमुच्चय-समतितर्कप्रवृत्तिसदर्थसंचयेण स्वयं कणेह्यनिरीक्ष्य चिन्नेपुण्यामृतपल्लवितान्तःकरणैः । एव तस्मिन् विश्वविधुतप्रभावे परमेश्वरेऽपि शब्दात्मकतया सर्वेषां शङ्कालेशाभावेऽपि लक्षणात्मकशैल्या विद्यादकाष्टाया विप्रतिपन्नानि एव दर्शनानि यथा तथा दर्शयितुं समासेनैवायासः सेव्यते, बाङ्मुख-मानार्थं मत्प्रयत्नत्वात् । तानि यथा—

“स्वप्रकाशज्ञानात्मकोऽद्वितीय” औपनिषदाः । “स्वतश्चिद्रूपः, कर्मयोगसिद्धश्च” कपिलदेशाना-विहितादराः । “अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनवेशस्वरूपफेडैर्ज्ञात्यायुर्भोगात्मकविपाकैर्धर्माधर्मरूपाशयैर-परामृष्टः, कायमधिष्ठाय त्रयीप्रद्योतकः, शिक्षाद्वाराणुमाहकश्च” पतञ्जलिपादसेवाशरणाः । “लोकवेद-विरुद्धनिर्लेपो जगत्कर्त्ता” महापाशुपताः । “सत्त्वरजस्तमोगुणवियुक्तः” शैवाः । “पुरुषोत्तमः” वैष्णवाः । “यहपुरुषः” याज्ञिकाः । “पितामहः” पौराणिकाः । “क्षणिकसर्वज्ञः” सौगताः । “उपास्यत्वेन वैशितो यानायानस्वरूपः” मीमांसकाः । “विश्ववेत्ता, नित्यश्च” नैयायिकाः । “लोक-व्यवहारसिद्धः” लोकायतिकाः ।

इत्येवमनेका विप्रतिपत्तयः परमात्मन्यपि वरीवृत्त्यन्ते या विशारदवरेस्तेभ्यस्तेभ्यः कुसुमाञ्ज-ल्यादिदर्शनप्रन्थेभ्यो वेदितव्याः । वस्तुतस्तु तत्रापि 'वीतरागत्वम्, अष्टादशदोपरहितत्वं वा ईश्वरत्वम्' इत्येवेश्वरलक्षणं यथा युक्तियुक्तं प्रतिपद्यते, तस्मिन् रागादिदोषाविनाभाविनो जगत्कर्त्त-त्वादिविरुद्धपर्गा यथा न समन्वितं, सर्वज्ञत्वादिसम्यग्धर्माश्च समीचीनतालिकतिलकतामश्नन्ति तत्सर्वं पूर्वोक्तप्रसिद्धान्तश्रन्यनसुममन्दार एव निश्चेतव्यम् ।

साम्प्रतं साधनत्वेन इतरेच्छाधीनेच्छाविषयत्वेन कृत्स्नकर्मक्षयस्य, साध्यत्वेन चेतरेच्छान-धीनेच्छाविषयत्वेन कर्मक्षयद्वारा ज्ञानक्रियासाध्यस्य परमानन्दस्य मुक्तिपदवाच्यत्वं, सर्वज्ञत्वादिवि-

सम्यग्धर्मोपपन्नस्य, विश्वकर्तृत्वादिविरुद्धधर्मविकलस्य च वीतरागस्य परमेश्वरपदवाच्यत्वं वा प्रति-
पादयतीर्थं करग्राममोर्गं प्रतिपिपादयिष्वः कलिकाळसर्वज्ञसर्वसाहित्यस्वर्वापीशैलेशितारः श्रीमद्वेम-
चन्द्रसूरिसंक्रन्दनाः श्लोपद्वाभिधानचिन्तामणिनाममालायां प्राहुः—

“आचाराङ्गं सूत्रकृतं, स्थानाङ्गं समवाययुक्तं । पञ्चमं भगवत्तङ्गं, द्वाताधर्मकथाऽपि च ॥ १ ॥
“उपासकान्तरुदनु—तत्रोपपातिकाद् दशाः । प्रभञ्ज्याकरणं चैव, विपाकश्रुतमेव च ॥ २ ॥ इत्येकादश
“सोपाङ्गा—न्यङ्गानि द्वादशं पुनः । दृष्टिवादो द्वादशाङ्गी स्याद् गणिपिटकाह्वया ॥३॥ परिकर्मसूत्रपूर्वा—
“नुयोगपूर्वगतचूलिकाः पञ्च । स्युर्दृष्टिवादभेदाः, पूर्वाणि चतुर्दशीपि पूर्वगते ॥ ४ ॥ उत्पादपूर्वमप्रा—
“यणीयमय वीर्यतः प्रवाहं स्यात् । अस्तेर्हानात् सत्यात्, तदात्मनः कर्मणश्च परम् ॥ ५ ॥ प्रत्याप्यानं
“विद्या—प्रवादकल्याणनामधेये च । प्राणाधायं च क्रिया—विशालमथ लोकविन्दुसारमिति ॥ ६ ॥”

अनुपदोक्तं चतुर्दशपूर्वपरिकलितद्वादशाङ्गात्मिका जिनचन्द्रास्यपद्मद्वयिनिर्गता गणभृश-
चूडामणिगङ्गावर्तनं सम्प्राप्ता ज्ञानोदकेन संपूर्णा कर्ममलपहारीणी मिथ्यात्वमयधैताह्यभूभृत्प्रविभेद्री
मान्यमुमुक्षुमार्तण्डैश्चारिप्रभुवि कल्पिता द्रव्यगणितवार्ताचरणकरणानुयोगरूपचतुःप्रवाहविधुता जिन-
प्राज्ञीसुधासरिद्वीपे प्रकृतिविरसे विधेऽस्मिन् निरन्तरं लहरीयति जगज्जीवोजीवनाय । तत्र द्रव्यानुयोगे
पुनस्तर्कसरोरुहारण्यसमुद्भासनभाररुश्रीमहिसिद्धसेनविवाकरसंहत्याः संमतितर्कप्रकरणसन्निभा ग्रन्था-
स्तर्कविषयनिर्भरा आन्वीक्षिकीनिरूपका वेद्या विद्वद्भिः । तत्रैव पुनर्द्रव्यानुयोगे देवाधुरेन्द्रसेवितपाद-
पद्मश्रीमदेवेन्द्रसूरिविद्वत्कर्मग्रन्थाः, शिवाध्वप्रकाशनैकपटुपद्मश्रीमच्छिवशर्माचार्यामणीसंदर्भित-
श्रीकर्मप्रकृतिः, चिन्तातुर्धारणान्यतमसापासनैकचुञ्चुचन्द्रमाभश्रीमच्चन्द्रप्रतिविनिर्मितपडशीति-शतक-
सप्ततिका-कपायप्राभृत-सत्कर्ममयपञ्चसंग्रहप्रभृतिग्रन्थाः कर्मसाहित्यप्रतिपादनैकप्रतीते सूक्ष्मतमकर्म-
स्वरूपावारपारावारकल्पे जैनागमे द्रव्यानुयोगानिमेषापगमाप्रवाहप्रवर्तनपार्वतीपितृप्रभा जगज्जन्तुसा-
धारणारिकर्मस्वरूपविज्ञानावश्यकपथ्यना द्रष्टव्याः सद्भूतभावस्वरूपनिरूपणैरुनीलीनप्रेक्षाचक्षुषैः ।
तस्मान्मुक्तिरमणीपरिप्लव्णपानीयपिपासुभिर्जगज्जन्मभिः कर्मस्वरूपबोधकरगङ्गेयमवश्यमेपितव्या । तत्र
किंनानेदं कर्म यदुद्दिश्यार्हतदर्शनेऽन्यत्रादृष्टस्वरूपं प्रतिपाद्यते, तत्तत्त्वाभ्युपगमवादे किं प्रमाणं,
तस्मिन् विषयेऽन्येषां का विप्रतिपत्त्यः, तस्य चास्मिन् प्रकरणे का संगतिः—इत्यादिजिज्ञासायां जिज्ञा-
सुजनानामुच्यतेऽधुना । प्रथमं तावत् प्राग्बद्धाणि दर्शनानि विप्रतिपन्नान्येव, यथा—

विमर्शातीतवर्त्मनां सार्वभौमसत्ताशालिनां जगत्कर्तृत्वान्यथासिद्धिप्रकुर्वतां कर्मणां निर्वाहार्थं
योगाचारादिसौगते “वासना”भिमता, अर्थात् तैर्विश्वविचित्रता वासनाभिख्यपदार्थेन नियन्त्रिता ।
वेदान्तिभिस्तत्कर्मतत्त्वं “मायाविद्यादिपर्यायरूपेण” चरितार्थितं, तदपि व्यवहारमात्रेण, वस्तु-
वस्तु ‘सर्वमसत्’ एव ते कक्षीकुर्वन्ति, अद्वैतवादित्वात्, ब्रह्मण एव सत्त्वसमर्थकत्वात् । अत्र सांख्याः
“प्रधानपरिणामः कृष्णं, शुक्लं च कर्म” इत्यादिना प्रकृतिपरिणामत्वेन तत्कर्मपदार्थं प्रतिपादयन्ति,
‘अन्यथातिरिक्तपदार्थकक्षीकारे पञ्चविंशतितत्त्वमङ्गप्रसङ्गः स्यात्’ इति संगिन्ते । कणादादिकर्म-
सेविनो “धर्माधर्माभ्याम”नयान्तरश्रद्धाभ्यां तत्कर्मपदार्थं गतार्थोच्यते । भट्टप्रभाकरप्रभृतयो मीमां-
सामर्मदोषहा अपि “अदृष्टा”दिशब्दवाच्यत्वं कर्मपदार्थस्य मन्यमानास्तत्त्ववास्तव्यं समर्थ-

नापि च सिद्धिसौधसोपानसन्निभे गुणस्थानके समारोहानन्तरं निरोधोपायं ज्ञातुं शक्यते तस्मादावश्य-
म्मेव प्रस्तुतप्रकरणपठनपाठनम् ।

कर्मस्वरूपविवोधनैकाग्रणीपूज्यपादश्रीशिवशर्मसुरिपुङ्गवैर्विरचितानुपदोक्तकर्मप्रकृतेरुपरि विवि-
धदुर्वोद्यप्राचीनग्रन्थानां सरलतरटीकानिर्मातृत्वेन विश्वविरयातवैदुष्यवैभवैर्वाच्यमधिष्ठात्रीमन्मलयनि-
रिपादैः सरलायां, हृदयंगमायां, मृदुधियामपि सुगमायां च गीर्वाणवाण्यामेका टीका निरमायि । अपरा
तु चाराणसीयविद्वज्जनाहमहमिकोपदीकृतन्यायविशारदपदैर्वादे तैलङ्गिपण्डितजयेनारण्डवाक्चातुर्यनि-
निर्मितशतप्रमाणतर्कग्रन्थसंप्राप्तन्यायाचार्यपदैस्तर्कपञ्चाननैः श्रीमद्यशोविजयैर्वाचकपुङ्गवैर्गुम्फितापि वरी-
वर्ति । द्वे टीके प्रायः पंक्तिश्रेण्या बहुत्र सादृश्याभावतिरस्कृता वर्तते । सोऽयं प्रसङ्गागतः कर्मप्रकृति-
नामग्रन्थो दशप्रकरणैर्बिभ्रियते । तत्राष्टौ करणान्युदयसत्ते च । तत्र कर्मस्वरूपविज्ञानं करणस्वरूप-
वोधार्थं प्रागावश्यकं । ततः कर्मस्वरूपबुधोद्ययिषुभिः कर्मग्रन्थादिप्रक्रियारचनासु कर्मस्वरूपभेदप्रभेदा-
द्यर्थवित्तरो द्रष्टव्यः । कर्मप्रकृत्याख्यग्रन्थे यन्धनकरणम्, संक्रमकरणम्, उद्वर्तनाकरणम्, अपवर्तना-
करणम्, उदीरणाकरणम्, उपशमनाकरणम्, निषेत्तिकरणम्, निकाचनाकरणम्, उदयः, सत्ता
चेति दशप्रकरणानि दर्शितानि ।

तत्र करणशब्देन वीर्यविशेष उच्यते । अर्थाद् येन वीर्यविशेषेणाष्टप्रकारकं कर्म घट्यते तत्
यन्धनकरणं प्रथमम् । येन वीर्यविशेषयोगेनान्यप्रकृत्यादिचतुष्कमन्यप्रकृत्यादिचतुष्करूपतया परिण-
मति तत् संक्रमकरणम् । यद् वीर्यविशेषपरिणत्या कर्मस्थितिरसौ घटते तदुद्वर्तनाकरणम् । येन वीर्य-
विशेषपरिणतितः कर्मस्थितिरसाधत्पीक्रियेते तदपवर्तनाकरणम् । यद्वीर्यविशेषरलेनोदयकालमप्राप्ताः

यामासुः । एवं लोकेऽपि 'दैवं', 'भाग्यं', 'भविष्यता' धनर्थान्तराभिधानैः प्रयुज्यमानं कर्मास्तित्वं दृढीभूयादेव । परलोकात्मकमोक्षादितत्त्वाद्यनङ्गीकृतवतां प्रत्यक्षैकप्रमाणपारावारनिमज्जतां संमतिविमति-
वैयर्थ्यभाजां सर्वपरिहासात्पदानां चार्वाकप्रभृतीनां वस्तुतस्तु प्रतियोगितया प्रतिषेधविषयीभूत-
पदार्थानां विद्यमानत्वं अकामेनापि स्वीकृवंतां तेषां मन्तव्यं विचारासहं मत्वा तन्मुक्त्वा दर्शनम-
न्तव्यविषयपरमियदुक्तम् । विस्तरस्तु अस्य संक्रमप्रकरणस्य प्रणेतृप्रणीत 'कर्मसिद्धि' नाम्नि ग्रन्थेऽनु-
सन्धेयः । अधुना किञ्चिन्मात्रं सोपयोगि उद्ध्रियते, तद्यथा—“क्रियते जीवैः मिथ्यात्वाविरतिकपाययोग-
रूपहेतुयोगेनेति व्युत्पत्त्या कर्मशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थं लभ्यते । क्रियाशब्दो बहुलं विधेयतया कृतिवि-
षयत्वेन जगति प्रयुज्यमानो दृष्टचरः, धर्माधर्मपुण्यपापादृष्टादिशब्दास्तु उद्देश्यतया कृतिविषयत्वेन
क्रियाजन्यापूर्वादिक्संज्ञकपदार्थं प्रयुज्यन्ते तस्मादुपर्युक्तं “क्रियते जीवैर्मिथ्याविरतिकपाययोगावि-
हेतुयोगेन येन तत्कर्म भण्यत” इत्युभयत्र साधारणलक्षणं सङ्गच्छत” इति । कर्मसत्त्वसा-
धकप्रमाणप्रस्तावे तु पाठकपुङ्गवाः श्रीमद्यशोविजयानूचानार्याः प्राहुः—“येषां भ्रूमङ्गमात्रेण,
भज्यन्ते पर्वता अपि । तैरहो कर्मवैषम्ये, भूपैर्मिक्षापि नाप्यते ॥” इति । एवमन्यत्राप्युक्तम्—
“नीचैर्गोत्रावतारश्चरमजिनपतेर्महिनाथेऽधलात्व-मान्ध्र्यं श्रीब्रह्मदत्ते भरतनृपजयः सर्वनाशश्च कृष्णे ।
निर्वाणं नारदेऽपि प्रशमपरिणतिः स्याच्चिल्लातीसुते वा, त्रैलोक्याभ्यर्थेहेतुर्जयति विजयिनी कर्मनिर्मा-
णशक्तिः ॥” इति । परैरपि प्रतिपादितम्—“ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे, विष्णु-
र्येन दशावतारगहने क्षितो महासङ्कटे । रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षादनं सेवते, सूर्यो भ्रान्त्यति
नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥” इति । श्रीशास्त्रवार्तासमुच्चयसंदृष्टपादाः श्रीमद्भरिभद्रसुरिवरा
अपि तत्राहुः—“आत्मवेनाविशिष्टस्य, वैचित्र्यं तस्य यद्वशात् । नरादिरूपं तच्चित्र-मदृष्टं कर्मसंज्ञि-
तम् ॥” इत्येवमनेकप्रमाणतो 'दरिद्राढ्य-गताक्षचक्षुःपाटव-मूर्खत्वामूर्खत्व-रोगित्वनीरोगित्व'-प्रभृतिवि-
विधदृशापन्नं जगत् कारणं विना न तादृक् भवितुमर्हति । तुल्यसाधनतायां सत्यामपि फलवैचित्र्यं तादृ-
कारणादृते भवितुं नार्हति, अन्यथा प्रतिप्राणिप्रसिद्धस्य सुखदुःखव्यवहारसंपत्तिसमुच्छेदप्रसङ्गापत्तेः,
कारणं विना कार्यानुत्पत्तेश्च । एतावति कारणे विद्यमानेऽपि येऽपलपन्ति कर्मसत्तां ते कीदृशा इति
परिभाषयन्तु धीधना एव । अस्मिन् कर्मविषयकप्रस्तावे तस्य भेदप्रभेदाः, प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशाः,
बन्धोदयोदीरणासत्ताप्रभृतिविषयाश्च पूर्वोक्तकर्मसाहचर्यावप्रभपञ्चसंग्रहकर्मप्रकृतिरूपमन्थादिग्रन्थेभ्यो
येतद्व्या न तत्रायासारम्भो वितीर्यते ।

अथ द्वितीयाप्रायणीयाभिधानात् पूर्वात् पञ्चवस्तुमानात् तत्रापि विंशतिप्राभृतमानात् पञ्चमात्
यस्तुनस्तत्रापि चतुर्थान् चतुर्विंशलनुयोगद्वारमयात् कर्मप्रकृत्याख्यात् प्राभृतात् पूर्वविद्भवन्तः
धीमच्छिवदर्माचार्यप्रवराः कर्मप्रकृतिनामकमिदं प्रकरणं कर्मकालापत्तिपरिवेष्टितजगज्जन्तूपचिकीर्षया
समुद्धरयांचक्रुः कर्मस्वरूपविवर्णनात्मकं । यथाऽऽह्वे जयैषिणो वैरिसेनाप्रभृत्यद्वातां रचनादिस्वरूप-
संकलनार्थं चारचक्षुयः श्रेयन्ति तथेवात्रापि मुक्तिजयैपिसंसारासुमतां स्वात्ममीप्सवैरिकर्ममहीक्षितः
भेदप्रभेदात्मकं प्रकृतिस्थित्यादिबन्धादिविषयपरिवेष्टितं सम्यक्स्वरूपज्ञानं तावदनिवार्यावश्यकतापन्नमिति
स्फुटमेव । किं च यावन्नावगतं कर्मणां तादृशस्वरूपं तावन्नावगच्छति खगुणानां विशुद्धपकपोत्कर्षां,

नापि च सिद्धिसौधसोपानसन्निभे शुण्डस्थानके समारोहानन्तरं निरोधोपायं ज्ञातुं शक्यते तस्मादावश्य-
कमेव प्रस्तुतप्रकरणपठनपाठनम् ।

कर्मस्वरूपविबोधनैकामणीपूज्यपादश्रीशिवशर्मसूरिपुङ्गवैर्विरचितानुपदोक्तकर्मप्रकृतेरुपरि विनि-
घटुर्वोषप्राचीनग्रन्थानां सरलतरटीकानिर्माहलेन विश्वविख्यातवैदुष्यवैभवेर्वाच्यमविद्युश्रीमन्मलयगि-
रिपादैः सरलायां, हृदयंगमायां, मृदुधियामपि सुगमायां च गीर्वाणवाण्यामेका टीका निरमायि । अपरा
तु चाराणसीयविद्वज्जनाहमहमिकोपदीकृतन्यायविशारदपद्वैदे तैलङ्गिपण्डितजयेन्द्रनाथपण्डितकुचातुर्यवि-
निर्मितशतप्रमाणवर्कग्रन्थसंप्राप्तन्यायाचार्यपदैस्तर्कपञ्चाननैः श्रीमद्यशोविजयैर्वाचकपुङ्गवैर्गुण्फितापि धरी-
वर्ति । द्वे टीके प्रायः पंक्तिश्रेण्या बहुत्र सादृश्याभावावतिरस्कृता वर्तते । सोऽयं प्रसङ्गागतः कर्मप्रकृति-
नामग्रन्थो दशप्रकरणैर्विभिद्यते । तत्राष्टौ करणान्युदयसत्ते च । तत्र कर्मस्वरूपविज्ञानं करणस्वरूप-
बोधार्थं प्रागावश्यकं । ततः कर्मस्वरूपबोधोपयुग्मिः कर्मग्रन्थादिप्रक्रियारचनासु कर्मस्वरूपभेदप्रभेदा-
द्यर्थविस्तरो द्रष्टव्यः । कर्मप्रकृत्याख्यग्रन्थे घनघनकरणम्, संक्रमकरणम्, उद्वर्तनाकरणम्, अपवर्तना-
करणम्, उदीरणाकरणम्, उपशमनाकरणम्, निघत्तिकरणम्, निकाचनाकरणम्, उदयः, सत्ता
चेति दशप्रकरणानि दर्शितानि ।

तत्र करणशब्देन वीर्यविशेष उच्यते । अर्थाद् येन वीर्यविशेषेणाष्टप्रकारकं कर्म बध्यते तत्
घनघनकरणं प्रथमम् । येन वीर्यविशेषयोगेनान्यप्रकृत्यादिचतुष्क्रमन्यप्रकृत्यादिचतुष्करूपतया परिण-
मति तत् संक्रमकरणम् । यद् वीर्यविशेषपरिणत्या कर्मस्मितिरसौ वर्धते तदुद्वर्तनाकरणम् । येन वीर्य-
विशेषपरिणतितः कर्मस्मितिरसावल्पीक्रियेते तदपवर्तनाकरणम् । यद्वीर्यविशेषवलेनोदयकालमप्राप्ताः
कर्मदलिका उदयावलिकायां निक्षिप्य भुज्यन्ते तदुदीरणाकरणम् । यद्वीर्यविशेषपरिणत्या कर्माणि
उद्बोदीरणानिघत्तिनिकाचनाकरणायोग्यानि विधीयन्ते तदुपशमनाकरणम् । येन वीर्यविशेषयोगेनोद्वर्त-
नापवर्तनाकरणे विरह्य कर्माण्यन्यपट्टकरणायोग्यानि विधीयन्ते तन्निघत्तिकरणम् । येन वीर्यविशेष-
परिणतियलेनात्मना कर्मावश्यभोग्यं विधीयते तन्निकाचनाकरणं कथ्यते । स्वस्वघनयोग्यस्थितिसंयुक्त-
धत्तकर्मपुद्गलानामाधाकालक्षयात् वापवर्तनादिकरणविशेषात् बोध्यसमयप्राप्ते सति योऽनुभवः स
उदयः । आत्मसंयद्वा कर्मवर्षणा यावदात्मनः पृथग् भवति यावद्वात्मन्यकर्मस्वरूपेण पराधृतिं नैति ताव-
दात्मनि तस्याः सत्ता प्रोच्यते । इत्येवं दशप्रकरणात्मकं कर्मप्रकृतिसामकं ग्रन्थतमिदं पूर्वोक्तटीका-
द्वयोपेतं जरीजृम्भ्यते मुमुक्षुजनोपचिकीर्षानन्यहेतुभूतं कर्मसाहित्यप्रधानार्हते दर्शने ।

अयं च संक्रमकरणाहसंदर्भः पूर्वोक्तकर्मप्रकृतिकरणान्तरवर्तिद्वितीयसंक्रमकरणाख्यप्रकरणा-
त्मको वर्तते । अर्थादस्मिन् ग्रन्थे तत्संक्रमकरणस्योपवर्णनं प्रवचनप्रवीणप्रणेष्टपादैः प्रत्यपादि । तेन
योऽयं ग्रन्थस्त्वदर्थिजनेभ्यो विशेषतो मुमुक्षुपचिकीर्षुभिः कृपापरीतचेतोभिर्निपुणनिर्मातृवरैरुपदीक्रियते
स गरीनृत्यमानमानसिकयाचिककायिकवृत्तीनां विश्वजन्तूनां स्वेर्यापादनैकहेतुभूता ये ग्रन्थाः कर्मस्व-
रूपप्रत्यायका वर्तन्ते तेषु वरीवृत्त्यते इति कथनापेक्षानवीनमेव । यैर्ग्रन्थग्रन्थिवृपादैः प्रायः स्वकीया-
खिलजीवनश्रीः कर्मसाहित्यप्रभृतिस्सुस्मार्थसार्थाधीनीकृता तेषामयं ग्रन्थः कीदृश इत्याकांक्षापि नोत्ति-
ष्ठते । स्वाधेत्तिर्हि वुमुत्सुजनाः स्वालीपुलाकन्यायेन ग्रन्थावलोकनेनैव साक्षात्कुर्वन्तु, यतो यथायोग्य-
विश्वर्णनासमर्थसरस्वतीकोऽनल्पबचनादपरायणोऽहं न वक्तुमीशे ।

अयं ग्रन्थश्च विभागद्वये विभक्तो वर्तते, तस्यायं प्रथमो भागः । अस्मिन् ग्रन्थे प्रकृति-
स्थितिरसप्रदेशसंक्रमणानि निरूप्यानि । तत्रापि आद्यभागे प्रकृतिसंक्रम एव विचारितस्तदपि च परिपूर्णं
विचारयितुमशक्यो बभूवतः किञ्चिन्न्यून एव निरूपितः, तथा च तदन्तिमः श्लोकः—“संक्रमश्च पतद्ब्रह्मः
स्थानके गुणजीवयोः । संवेधश्च तयोस्तत्र भागेऽवसेय आदिमे ॥” इति । प्रत्येकमपि संक्रमसामान्य-
विशेषलक्षणविधि—अपवाद—नियम—विकल्प—साद्यादिप्ररूपणा—स्वामित्वप्ररूपणात्मकपङ्क्तिद्वारैर्विचारित-
मस्ति । सतमन्वयान्तरप्रयुक्ता अस्यावान्तरेतावदुपयुक्तविषयाश्चर्चिता येन न केवलमेते प्रणेतृपादानां
सात्त्विकविषयत्वापूर्वविद्वत्तापरिचायकाः किन्तु वाचकबुन्दायानेकप्रकरणपठनपरिश्रमादृते सौष्ठवसार-
स्याभ्यां चाहतरं धोयं समर्पयितुमपि समीक्षाः । स्वामित्वप्ररूपणाधिकारेऽत्र गुणस्थानकाधिकारः, त-
त्राये मिथ्यात्वस्वरूपः, तुर्यं सम्पत्त्वसत्तत्पट्टिभेदाः, प्राप्तिप्रकारादयश्च, गुणस्थानेषु संक्रमपतद्ब्रह्मवन्ध-
सत्ताप्रकृतयः, तेषां स्थानकानि, संवेधः, षण्शमश्रेणिष्वपकश्रेणिद्वयस्वरूपम्, स्थितिपाताद्यपूर्वकरणा-
धिकारः, दलिकोपशमनादिकविधिः, लोभकिट्टीकाः, सर्वेषामाश्रयकारीणि दृष्टमात्रेण गीर्वाणभाषात्प-
रिचयवतामपि स्पष्टावधोषकानि कलामयाकर्पकयन्त्राणि, गुणस्थानकेषु, जीवस्थानकेषु च तथैव संक्रमसं-
वेधादयोऽनेकतलस्पर्शविषया अतीव स्पष्टतया विचरिता वर्तन्ते । ययं च निष्पयोजनतयाप्युद्बुध्य
भूमौ यत्तत्र से महर्षिमन्त्रार्चिकाः नूनं प्रायः सफलीभूता एव सन्तः । आगमप्रमाणप्रतिषेधका अपि कल्पना
तेल्लारक्तजैर्न शेषिता इत्यपि कथनानपेक्षमेव । वस्तुतस्तु तत्रापि ग्रन्थालोचनचमत्कृतचेतसां चिद्वता-
गम्यक्षमेव प्रमाणम् । श्रन्यनेऽत्र तदपि षडनानपेक्षणीयं नास्ति यद् रचनेयं तदन्तरवर्तिप्रत्येकवस्तूनां
न्यूनाधिकपरिमाणवद्विषयकतरश्चिष्टयज्ञैः शोभास्पदा भूताऽस्ति । संक्रमकरणस्यास्याधानन्तरे विभागे
प्रत्येकमार्गाण्यां संक्रमपतद्ब्रह्म भङ्गाश्चान्यावशिष्टानागतोपयोगिमननीयविषयाश्च तत्तद्विषयकयन्त्रप्रयुक्ता
आगमिष्यन्ति । तत्तत्सदृश्यंभिजिगांसुजनाः प्रतीक्षन्तु द्वितीयं विभागमुत्तरेकण्ठोदकोद्गतचेतस इति ।

अत्र पूज्यपादप्रथमचनपीयूषपानपीयरसगृहीतनामधेयाचार्यश्रीमद्विजयसिद्धिसूरीश्वरपट्टप्रभावक-
ज्ञानसागराचार्यश्रीमद्विजयमेघसूरिवराणां महलाभिधानं वयं साभारं स्मरामः । अतीन्द्रियार्थपदार्थ-
साधैकगद्गरस्यास्य ग्रन्थनस्य संज्ञोधनादिकार्ये अभ्यर्थितेनैतेषां ज्ञानप्रदीपेन पेशलपरिश्रमतेलसमिलितेन
सुप्तु प्रपाशः पातित इत्यस्मिन्नास्ति शङ्कालेशोऽपि । पुनरस्य प्रकाशनार्थं मूलप्रेरणाकारकत्वेन परमगुरु-
पथाचार्यदेवश्रीमद्विजयदानसूरिश्वरान्तिपद्मश्रीमन्मङ्गलविजयमुनिवर्याणामभिधानमपि स्मरन्व्यमेव ।

प्रान्तेऽस्मिन्समप्रकरणसंदर्भे “निसर्गदोषसहजाः स्खलना हुनिंवारः” इत्यादिन्यायेन शुद्रणादि-
स्खलनाः, मनुजनिष्ठनैसर्गिकदोषतत्त्वावता संशोधनेनापि अवशिष्टानां स्खलनानामर्थं सानुनयं
परदोषव्यापादनेकच्यसनिनोऽन्यगुणग्रहणैकप्रद्विलाः प्रकृतिपवित्रा अनुगृह्णन्वित्यभिलष्यानेरुभवसञ्चित-
पापप्रकररजोत्तरणप्रमञ्जनं मिथ्यादुष्कृतं च विर्तयैतामुपपन्नान्ति समापयति—

प्रिक्ता-श्रीश्रीराज्य
१४५७ सापट्ट ५,
अपेक्षाम्. (मारम्
शुरानगवाम्)

वाचककदम्बकारतंसकश्रीमत्प्रेमविजयानूचानार्थान्तिपञ्चकचूडमुनिश्री-
जन्मविजयगुरुचरणप्रमणमहकारकलकण्ठो रक्षितविजयो नाम मुनिः ।



“नमः श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिने ।
“परमगुरु-उपाध्याय-श्रीमद्-वीरविजयपादपद्मेभ्यो नमः ।”

पारमेश्वरप्रवचनपीयूषपानपीन-प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-आचार्य-
श्रीमद्विजयदानसूरीश्वरशिष्यरत्न-अनुयोगाचार्य-
श्रीमत्प्रेमविजयगणिवर-विरचितं

“संक्रमकरणम् ।”

दुष्कर्मैर्घोत्कराणां भसितमयकृते चित्रभानुः प्रकर्षो,
मिथ्यात्वान्धप्रियामं जगदतुलशशी चन्द्रिकावद्विधातुम् ।
भव्याभीष्टप्रदानेऽपि विभयदकलौ काम्यकल्पद्रुकल्पो,
माङ्गल्यं भक्तिभाजां वितरतु सततं मारुदेवो सुनीन्द्रः ॥ १ ॥

निश्शुक्रं निहते परीपह्यले निश्शेषनिर्द्वेषिणे,
निक्षिप्ते नितरामजन्यनिकरे कारुण्यकाम्भोधये ।
शुक्तेऽनुत्तरभूपविश्वविभवे नित्यं खनिलेपिने,
निर्वृत्येकवधूवराय हि नमो नव्याचिरेयार्हते ॥ २ ॥

नेमिप्रभुं विधुविडम्ब्यपि तारको यो, भव्या ! नृताऽपि सुमनोद्वुरपारिजातः ।
तं श्रेयसे समवपूरुचिरोऽप्यनङ्गः, सत्कूटतामपि वहन् किल न क्षमाभृत् ॥ ३ ॥

भोक्तृविश्वरतेः सुमुक्तिवशाया वैराग्यवारान्निधे !,
निर्मूलं नु विधाद्विपो विशसितव्यक्तव्यरते ! विभो ! ।
व्यर्थित्वस्य सुविश्रुतिं भृशमित ! श्रीविश्वचूडामणे !,
व्यभ्यासाऽप्यव वाङ्मयाधिप ! भवात् श्रीव्यवामेय भो ! ॥ ४ ॥

योऽसङ्गी कुत्कृशानोर्न समशितुमलं मानपारीन्द्रराट् यं,
येन च्छिन्नं कुजालं छलमवनतवाँल्लोभभोगी नु यस्मै ।
यस्मात् प्रापुर्द्विषोऽपि खरखिलसमये यस्य शिष्टिर्न धाध्या,
यस्मिन् मैथ्या विरोधी वसति गुणगणम्रैशलेयः स जीयात् ॥ ५ ॥

जिनवराननभूधरजार्थतः, गणधरैः प्रसृतातुलसूत्रतः ।

विबुधयोगिगणैः परिसेविता, हरतु कर्ममलं जिनवाक्सरित् ॥ ६ ॥

सुचरितवरशीलानन्यशुद्धिप्रकर्षात्, चरमजलधिनीरे मार्जितुं यस्य नूनम् ।
विधुरपि निजचिह्नं मज्जति स्वाक् स नित्यं, भवतु भवमिदे श्रीदानसूरीश्वरो वः ॥७॥

संचित्स्वानां मतिभुवि लसत् पूरितं स्वर्थसाधैः,

ज्ञान्यैश्वर्यं दददविरतं रत्नसन्दर्भवासम् ।

पुण्यप्राप्यं सुकृतिभिरिदं संक्रमाख्यं निधानम्,

प्रज्ञाभाजां प्रचिरमवतु प्राज्ञताकिञ्चनत्वम् ॥ ८ ॥

परमर्षिप्रणीतकर्मविषयकप्रबन्धानुसारेण 'अन्यथा वद्धं कथमन्यथा विपच्यत' इति प्रश्ननिर्णयार्थं संक्रमकरणं प्रारभ्यते—

यद्यपि पञ्चसङ्गहकारादिभिरादौ वक्ष्यमाणार्थाधिकारा अभिधेयतया न प्रतिज्ञातास्तथापि कर्मप्रकृतिचूर्णिकृद्भिः प्रतिज्ञातास्तदनुसारेणात्रापि प्रतिज्ञायन्ते, तद्यथा—सामान्य-विशेषलक्षणविधिः १, अपवादः २, नियमः ३, विकल्पः ४, साद्यादिप्ररूपणा ५, स्वामित्वप्ररूपणा ६ चेति । एतेऽर्थाधिकाराः सामान्येन प्रकृतिसंक्रमादिषु चतुर्षु संक्रमेषु संभवन्ति, प्रकृतिसंक्रमे च प्रतिपादिता एते स्थितिसंक्रमादावपि सुगमा भवन्तीति प्रकृतिसंक्रमे प्रतिपाद्यन्ते । स्थितिसंक्रमादौ यो विशेषस्तं तत्रैव प्रतिपादयिष्यामः । जघन्योत्कृष्टस्थित्यादिसंक्रमपरिमाणवत्प्रकृतिसंक्रमेऽपि जघन्योत्कृष्टप्रकृतिसंक्रमः सम्भवति, तथापि कर्मप्रकृत्त्यादौ सुगमत्यादिकारणेनानभिधानादस्माभिरप्युपेक्ष्यते ।

अधुना क्रमप्राप्तं सामान्यविशेषलक्षणं प्रतिपाद्यते—

यद्वन्धकत्वेन परिणत आत्माऽनाभोगवीर्यविशेषेण वध्यमानप्रकृत्यनुरूपेण प्रकृत्यन्तरस्यं दलिकं परिणमयति स संक्रमः । तदुक्तं कर्मप्रकृतौ—“सो संक्रमो ति बुद्धिः, जं बन्ध-णपरिणमो पओगेण । पगयन्तरत्थं दलियं, परिणमयइ तयणुभावे जं ॥ १ ॥” ननु तर्हि पञ्चसं-ग्रहे—“वज्झन्वियासु इयरा, तओ वि य संक्रमन्ति अण्णोण्णं । जा सन्तयाए चिद्दइ”, इत्यत्र ‘प्रयो-गेण’ कथं नोक्तमिति चेत् ? सत्यं, परं वध्नाति च करणपरिणत एव, नान्यः, अतः ‘वध्य-मानासु संक्रामन्ति’ इत्यनेन करणमाक्षिप्तमेवेति । ननु येनैव प्रयोगेण वध्नाति तेनैव प्रयोगेण संक्रमयति, तर्हि कथं करणद्वयमिति चेत् ? न, कार्यमेवेन तद्भेदोपपत्तेः, यथै-कस्यैव पुरुषस्य जनकत्वसुतत्वपितृव्यत्वमातुलत्वभाग्निनेयत्वजामातृत्वादयोऽनेके व्यपदेशा भवितुमर्हन्ति, एवमत्रापि बन्धमात्रं यदा विवक्षितं तदा बन्धनकरणं व्यपदिश्यते, यदा च संक्रममात्रं विवक्षितं तदा संक्रमकरणमेवमन्यत्रापि बोध्यमिति । नन्वनाभोगवीर्येणेति कुतो लब्धम्, कर्मप्रकृतौ सामान्यतः प्रयोगेणेत्यभिधानादिति चेत् ? चाचकवरचिर-

चिततत्त्वार्थभाष्यात् । तथा च तद्ग्रन्थः—“जीवः कर्मविपाकमनुभवन् कर्मप्रत्ययमेवानामो-
गदीर्यपूर्वकं कर्मसंक्रमं करोति” इति ।

इदं च संक्रमसामान्यलक्षणं प्रकृतिसंक्रमविशेषलक्षणात् न भिद्यते, “प्रकृतिः समुदायः
स्यात् ।” “तस्समुदाओ पयइवन्धो” इत्यादिवचनप्रामाण्यात् । एतदभिप्रायेणैव पञ्चसंग्रहमू-
लवृत्तिकृद्भिः प्रकृतिसंक्रमप्रतिग्रहापवादमभिधाय “ध्रुवसन्तीयागं” इतिगाथापातनिकायां
“भणितं सामान्यविशेषलक्षणं सापवादं साद्यादिप्ररूपणोच्यते” इति प्रतिपादितं, अन्यथा संक्रमसा-
मान्यलक्षणेऽभिहितेऽपि प्रकृतिसंक्रमलक्षणस्यानभिहितत्वेन सामान्यलक्षणोपसंहारे “भणितं
सामान्यलक्षणं सापवादं साद्यादिप्ररूपणोच्यते” इत्येव वक्तव्यं स्यात् । किञ्च पञ्चसंग्रहमू-
लवृत्तिकारैः स्थितिसंक्रमलक्षणाभिधानप्रसङ्गे—“प्रकृतिसंक्रमलक्षणसामान्यमवाधयत् स्थितेर्विशे-
षलक्षणमाह” इत्यत्रापि तदेव सूचितं संभाव्यते । ननु प्रकृतिसंक्रमे सत्येव तल्लक्षणं युक्तम्,
यथाऽऽधारे सत्येवाधेयं नान्यथा, अत्र तु प्रकृतिसंक्रम एव नोपपद्यते, कुतस्तल्लक्षण-
चिन्ता ? ननु कथं प्रकृतिसंक्रमो न भवतीति चेत् ? श्रूयतां, परमाणुरूपं द्रव्यं संक्रम्यमा-
णप्रकृतेः प्रतिग्रहप्रकृतिरूपतया परिणमयति स प्रदेशसंक्रम एव, न प्रकृतिसंक्रमः । अथ
प्रकृतिः स्वभावः, तत्संक्रमः प्रकृतिसंक्रम इति चेत् ? न, स्वभावस्यान्यत्र नेतुमशक्यत्वात् ।
एवं स्थित्यनुभागसंक्रमलक्षणचिन्तापि न युक्ता, तयोरप्यनुत्पद्यमानत्वात् । तथाहि—स्थितिः
नियतकालविशिष्टावस्थानं, तच्च कालविशेषरूपमेव, कालस्य चामूर्तत्वेनान्यत्र नेतुमशक्य-
त्वात् न स्थितिसंक्रमः । अनुभागसंक्रमः रससंक्रमः, रसश्च परमाणूनां गुणः, गुणश्च
गुणिनमन्तरेण न शक्यतेऽन्यत्र नेतुं, गुणिनां संक्रमे परमाणुसंक्रम एव नानुभागसंक्रमः ।
तदुक्तं—“संक्रमइ नत्तपगइं पगईओ पगइसंक्रमे दलियं । ठिइअणुभागा चेयं” इति चेत् ? अत्रो-
च्यते, नाचक्ष्महे दयं स्वभावस्थितिरेसाः विद्यक्षितपरमाणुभ्यः समाकृष्य परमाण्वन्तरेषु
प्रक्षिप्यन्ते इति, किन्तु स्वभावादित्रयाधारभूतानां संक्रम्यमाणानां प्रदेशानां वध्यमानप्र-
कृतिरूपतापादनं प्रकृतिसंक्रमः, नियतकालविशिष्टस्य प्रतिग्रहप्रकृतिरूपतयापादनं स्थिति-
संक्रमः, प्रतिग्रहप्रकृत्यनुयायिरसापादनमनुभागसंक्रमः, प्रतिग्रहप्रकृतिषु परमाणूनां प्रक्षेपणं
प्रदेशसंक्रम इत्येवं स्वपरिणामविशेषा एव प्रकृतिसंक्रमादय इप्यन्ते, एते च परस्परमभि-
व्याप्य वर्तन्ते, यत् एकस्मिन् प्रवर्तमाने चत्वारोऽपि प्रवर्तन्ते केवलं प्रकृतिसंक्रमे सङ्ख्या-
मात्रस्यैव प्राधान्यं, स्थितिसंक्रमे स्थितेः प्राधान्यमनुभागसंक्रमे रसस्य प्राधान्यं, प्रदेश-
संक्रमे प्रदेशानां प्राधान्यं वाचः क्रमवर्तित्वेन क्रमशो व्याख्यायन्ते । तदुक्तं पञ्चसंग्रह-
मूलवृत्तौ—“अमी प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशसंक्रमा वन्धा वा उदया वा समकं—समकालं प्रभवन्ति,
तत्कथनं चैककालं दष्टं न शक्यते, वाचः क्रमवर्तित्वात्, समकालप्रवर्तने च प्रकृतिसंक्रमे परमाण्वा-
त्मकदलसंक्रमं को निवारयति ?, किन्तु चत्वारोऽपि संक्रमाः स्वस्वियप्राधान्येन व्यवस्थिताः, प्रकृति-
संक्रमे सङ्ख्यामात्रस्यैव प्राधान्यं इत्यप्रकृतिव्यवस्थाः संक्रामन्ति, कालानुभागपरमाणवोऽत्र सन्तोऽप्युप-
सर्जनीभूताः स्थितिसंक्रमे कालस्य प्राधान्यमनुभागसंक्रमे यद्यप्यनुभागः प्रदेशमित्रो नास्ति तथापि

सन्मात्रस्यैव प्राधान्यम् । प्रवेशसंक्रमेऽपि प्रदेशानामेव कालरसनिरपेक्षाणां प्राधान्यमेवं स्थिते कोऽत्र शेषः” इति । नन्वस्तु संक्रमणं पृथ्वीजलयोरिव दलिकरसानां भूर्त्तत्वेन, कालस्य चामूर्त्तत्वेन कथं संक्रमणमिति चेत् ? न, स्थितेः संक्रामभ्युपगमेन कालस्य संक्रमानभ्युपगमात् । स्थिति-श्चाप्रच्युतिलक्षणमवस्थानं, तच्च पूर्वमन्यप्रकृतिरूपतयाऽऽसीत्, साम्प्रतमन्यप्रकृतिरूपतया-पादनं च स्थितिसंक्रमः, यथा पूर्वं तृणादिरूपत्वेन स्थिताः परमाणवो लवणाकरे निपतिताः कालक्रमेण लवणरूपतया परिणमन्ते । यद्वा स्थितिरूपकालस्यापि संक्रमणमदुष्टमृतुसंक्रम-णवत्, यथा स्वभावतः क्रमेण देयादिप्रयोगेण वा युगपत् वृक्षादिषु सर्वे ऋतवः संक्रामन्ति, पुष्पादितत्कार्यदर्शनात्, एवमत्रापि जीवप्रयोगेण कर्मपरमाणुषु पूर्वं सातादिहेतुकाल आसीत्, तमुन्मृष्टासातादिहेतुकालापादनं न विरुध्यते, तदुक्तं—“दलियरसाणं जुत्तं मुत्तता अन्नभावसंक्रमणं । ठिइकालस्त न एवं, उवसंक्रमणं पि य अदुष्टं ॥ १ ॥” इति प्रकृत्यादिसंक्रम-स्योपपद्यमानत्वेन न लक्षणचिन्ताऽयुक्तेति । अयं च संक्रमः “बन्धमानासु” इत्युक्तत्वेनाप-वर्तनासंक्रमं मुक्त्वा बन्धे सत्येव प्रवर्तते, नाबन्धे, अपवर्तना तु बन्धे अबन्धे वा, तदुक्तं—“सन्नन्योद्धृष्टा ठिइरसाणं” इति । स्तिबुकसंक्रमस्तु संक्रमकरणे एव न गण्यत इति प्रतिपादयिष्यामः प्रदेशसंक्रमाधिकारे ।

ननु बन्धे सति संक्रमस्तर्हि अविरत्यादौ मिथ्यात्वमिश्रयोः संक्रमो भवति न वा ? यदि भवति तर्हि किं मिश्रे सम्यक्त्वे वा ? न तावत् द्वयोरपि, बन्धाभावात् । बन्धाभावेऽपि प्रतिग्रहत्वस्वीकारेण सम्यग्दृष्ट्यादौ तयोः संक्रमसंज्ञाव इष्यते तर्हि मिथ्यादृष्टौ किं मिथ्यात्वं मिश्रं च सम्यक्त्वे सम्यक्त्वं च मिश्रे संक्रममिति न वेत्याशङ्कापनोदायापवादनि-यमौ प्रतिपाद्येते—

बन्धं विनापि मिथ्यात्वमिश्रयोः संक्रमो भवति, तदुक्तं—“बन्धाभावेऽपि विद्विजो” इति । तत्र मिथ्यात्वस्य मिश्रसम्यक्त्वयोः मिश्रस्य च सम्यक्त्वे संक्रम इत्यपवादः । सम्यग्दृष्टि-रेव बन्धाभावे तयोः संक्रमं करोति, नान्य इति नियमः । तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—“सम्म-विद्विस्सेव परिसो संक्रमो न अण्णस्सेति नियमिज्झ” इति । चतुर्णामायुषामष्टानां मूलप्रकृ-तीनां, दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीययोः परस्परं संक्रमो न भवति । तथा दर्शनत्रिकं मुक्त्योपशान्तमोहनीयं, द्वितीयतृतीयगुणस्थानवर्तिनः दर्शनत्रिकं, मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वं, सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वमोहनीयं मिश्रे मिथ्यात्वे च न संक्रमति, तदुक्तं—“निय-नियविद्वि न फेइ दुइयतइयत्ता न दंसणतिगं पि । मीसंमि न सम्मत्तं दंसणकसाया न अण्णोणं ॥१॥ संकामेइ न आवं उवसंतं तइय मूलपगइओ” इति । ननूपशान्तं दर्शनत्रिकं किं संक्रमयति ? येन दर्श-नत्रिकं मुक्त्वेत्युक्तम्, ओमिति । यदुक्तं पञ्चसंग्रहमूलवृत्तौ—“यतस्तदुपशान्तमपि संक्रा-मति” इति । यद्यप्युपशान्तं दर्शनत्रिकं संक्रमयतीत्युक्तं तथापि सम्यक्त्वमोहनीयस्यान्य-प्रकृतिरूपसंक्रमो न भवति, “सम्यग्दृष्टयः सम्यक्त्वं न संक्रमयन्ति” इतियचनप्रामाण्यात्, ततोऽवसीयते सम्यग्दृष्टौ सम्यक्त्वमोहनीयस्यापवर्तनासंक्रम एव भवतीति । तदुक्तं—“दृष्टि-

त्रिके तु संक्रमणमपवर्तनं च भवति, तत्र संक्रमो मिथ्यात्वमन्यगिमिथ्यात्वयोः सम्यक्त्वे, अपवर्तना तु प्रयाणामपि” इति ।

ननु श्रीमद्देवेन्द्रसूरिवरैः नव्यशतकवृत्तौ अनन्तानुबन्धिनामनन्तभागं मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य दहतीत्युक्तं, तथा च तद्ग्रन्थः—“अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभान् युगपत् क्षपयति तदनन्ततमभागं तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य ततो मिथ्यात्वं सदैव तदंशेन युगपत् क्षपयति ।” एवं विशोपावश्यकवृहद्वृत्तावपि, तथा च तद्ग्रन्थः—“प्रथमान्तमुद्भूतेनानन्तानुबन्धित-
श्चतुरोऽपि क्रोधादीन् युगपत् क्षपयति, तदनन्तभागं च मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य ततो मिथ्यात्वं सदैव तदंशेन युगपत् क्षपयति, तथाहि—अतिसंभृतो दावानलः स्वत्वर्धगन्धेन एवेन्धनान्तरमासाद्योभय-
मपि निर्दहति, एवमसावपि क्षपकस्त्रीप्रभुमपरिणामत्वात् सावशेषमन्यत्र प्रक्षिप्य क्षपयति” इति ।

तथा बृहत्कल्पे—“इह क्षपकश्रेणिमविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतम उत्तमसंहननः प्रशस्तध्यानोपगतमानसः प्रतिपद्यते ।” तदुक्तं क्षपकश्रेणिप्रक्रमे—“पडिषत्तीए अविरतदेसपमत्ता-
पमत्तविरयाणं । अन्नयरो पडिबज्झइ मुद्धज्झाणोवगयचित्तो ॥ १ ॥” तत्र पूर्वविदप्रमत्तः शृङ्खलानो-
पगतोऽपि प्रतिपद्यते, शोपास्तु धर्मध्यानोपगता एवेति । प्रतिपत्तिक्रमश्चायं प्रथममन्तमुद्भूतेनानन्तानु-
बन्धिनः क्रोधादीन् चतुरोऽपि युगपत् क्षपयति । तदनन्तभागं तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तेन सह मिथ्यात्वं
क्षपयति । तस्याप्यनन्तभागं सम्यगिमिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तदपि सावशेषं क्षपयति । आह किं पुनः कारणं
सावशेषं क्षपयतीत्युच्यते यथा स्वत्वसिंसृतो दावानलो दरदधेन्धन एवेन्धनान्तरमासाद्योभयमपि
दहति, एवमसावपि क्षपकस्त्रीप्रभुमपरिणामत्वात् प्राक्ते कर्मण्यनिःशेषित एवापरं क्षपयितुमारभते ।
एवं सम्यगिमिथ्यात्वसावशेषं सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य तेन सह सम्यक्त्वं निरवशेषमेव क्षपयति । पदाह
चूर्णिच्छत्—“जं तं सेसं तं सम्मते ह्युभित्ता निरवसेसं खवेइ”ति । एतच्च बद्धायुष्कापेक्षं संभाव्यते ।
आवश्यकदाहो तमधिष्ठत्य सम्यक्त्वनिरवशेषक्षपणस्योक्तत्वात् । इह च यदि बद्धायुः प्रतिपद्यते अन-
न्तानुबन्धिक्षये च व्युपरमते ततो मिथ्यादर्शनोदयस्तान् पुनरप्यनुचिनोति । मिथ्यात्वे तद्वीजसंभवान् ।
क्षीणमिथ्यात्वस्तु नोपचिनोति, मूलाभावात् । तद्वत्त्वश्च मृतोऽऽश्रयमेव त्रिदशोपपद्यते । क्षीणदर्शन-
सप्तकोऽप्यप्रतिपत्तिपरिणामो निप्रपणः, सुखसत्त्वैरेतदपद्यते । प्रतिपत्तिपरिणामस्तु नात्मापत्तिस्त्वत्
सर्वगतमागमयति । तथा बोक्तं—“बद्धाउ पडिबन्नो पढमकसायक्खए जइ मरिजा । तो मिच्छतोदय-
ओचिणिज्ज मुज्जो न खीणंमि ॥ १ ॥ तंमि मज्जो जइ दिव्वं तप्परिणामो य सत्तए खीणे । उधरयपरि-
णामो पुणो नाणामद्गईओ ॥ २ ॥” स च यदि बद्धायुः प्रतिपद्यते ततो नियमादर्शनसप्तके क्षीणे
सत्युपरमते” इति ।

आवश्यकचूर्णौ च—“एवमसेदीए पट्टवओ नियमा मणुयगतीए, निट्टवओ निरएसु असद्वेज्ज-
तिभागं पलियस्स सेसं खवेति देवेसु वेगाणिस्सु तिरियमणुस्सु असद्वेज्जवासाउएमु, एतं वद्धाउयस्स ।”
“अणंताणुपंधिकोहमाणमायालोभा जुगवं खवंति, पच्छा ताणं अणंतभागं मिच्छत्तवेयणिजे कम्मे
हुभति, दाहे तं खवेति । तस्स तिब्बो परिणामो तो सावसेसे चेव अज्जं आरभति, जहा महाणगर-
दाहे अग्गी सावसेसे चेव इंधणे अज्जमि घरे लग्गति एवं इमा वि तं सावसेसे वि तिच्चज्झाणमिणा

धाम्नं धाडवेति तस्स वि जं सेसं वं सम्मामिच्छते छुमति, ताहे सम्मामिच्छत्तं खवेति, तस्स जं सेसं तं सम्मत्ते छुमइ, ताहे सम्मत्तं खवेति तस्य सो खाइयसम्मदिट्ठी भवति” । एवमन्यत्रापीति । आचाराङ्गवृत्तौ तु—“तत्राप्यनन्तानुबन्धिनां स्थितिमपवर्त्तयन्नपवर्त्तयन् यावत् पल्योपमासंख्येय-भागमात्रां विधत्ते तावत् तामपि पल्योपमासंख्येयभागां चध्यमानासु मोहप्रकृतिषु प्रतिसमयं संक्रमयति” इति ।

“मोहदुगाडगमूलपगईणं न परोपरम्मि संक्रमणं” इत्यत्र च निषिद्ध इति विरोधस्य कथं परिहारः ? न च चध्यमानास्वेव संक्रम्यमाणत्वेन नायं संक्रम इति वाच्यम्, वन्धाभावेऽपि संक्रमसद्भावस्यापवादितत्वादिति चेत् ? सत्यम्, देवेन्द्रसूर्यादिभिः दर्शनमोहे मतान्तरं सूचितं संभाव्यते, केचिदर्शनसप्तकं केचित्तु दर्शनत्रिकमिति । तदुक्तं तत्रार्थवृत्ता-घाचाराङ्गवृत्तौ च क्रमशः—“तत्र दर्शनमोहश्चत्वारोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधादयो मिथ्यात्वं सम्य-गभिध्यात्वं सम्यक्त्वमिति शेषः, चारित्रमोहोऽप्रत्याख्यानादिः । तत्र दर्शनमोहो न संक्रामति चारित्र-मोहे, नापि चारित्रमोहो दर्शनमोहे” इति ।

“तत्र मिथ्यात्वसम्यगभिध्यात्वसम्यक्त्वभेदाभिधा दर्शनमोहनीयं तथा षोडशकपायनवनोकपाय-भेदाचारित्रमोहनीयं पञ्चविंशतिधा” इति ।

ननु नयमगुणस्थाने दर्शनत्रिकस्य मतान्तरेण दर्शनसप्तकस्य बोधशान्तत्वेन मिथ्यात्वस्य स्तिबुकसंक्रमाभावेन प्रदेशोदयाभावात् दर्शनपरीपहः कथं संगच्छते ? न च दर्शनपरी-पहो मिथ्यात्वमोहनीयोदयाभावेऽपि सत्तायां सत्यां भवतीति वाच्यम्, तथा सति सूक्ष्म-सम्परादादावपि दर्शनपरीपहप्रसङ्गः, न्यायस्य समानत्वात् । मिथ्यात्वोदयादेव भवतीति प्रतिपादनाच्च । तदुक्तं—“यन्मिथ्यादर्शनमोहनीयस्य प्रदेशोदयतः कदध्यवसायस्योत्थानमेव दर्शनप-रीपहः” इति । यद्यपि—केपाश्चिन्मतेन तु दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीययोरपि परस्परं संक्रमः संभाव्यते, कथमन्यथा श्रीमदभयदेवस्वरिप्रवरैः विद्याहप्रज्ञसिद्धौ—“मोक्षण” इति गाथा “अपरस्त्वाह” इति मतान्तरद्योतकतया सूचिता ? तथा च तदग्रन्थः—“तत्र संक्रमणं मूलप्रकृत्यभिमानागुत्तरप्रकृतीनामध्यवसायविशेषेण परस्परं संचरणं । तथा चाह—“मूलप्रकृ-त्यभिप्रायः संक्रमयति शुण्ठ उत्तराः प्रकृतीः । नन्वात्मा(मूर्तत्वादध्यवसायप्रयोगेण ॥ १ ॥” अपरस्त्वा-ह—“मोक्षणं धाडयं सलु दंसणमोहं चरित्तगोहं च । सेसाणं पगईणं उत्तरविहिंसंकमो भणिओ ॥ १ ॥” एतदेव निदर्शयते—यथा फलचित्सिद्धेशमनुभवतोऽशुभकर्मपरिणतिरेवंविधा जाता येन तदेव सद्देयम-सद्देयतया संक्रमतीति । एवमन्यत्रापि योग्यमिति । तथापि दर्शनपरीपहो न घटते, मिथ्यात्वो-दयाभावात् । ननु दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीययोः परस्परसंक्रमस्वीकर्तृमते मिथ्यात्वस्य चारित्रमोहनीये संक्रमेण प्रदेशोदयो भविष्यतीति चेत् ? न, तत्र संक्रमस्वीकारेऽपि स-म्यक्त्वमोहनीये स्तिबुकसंक्रमाभावेन प्रदेशोदयाभावात् । यद् चध्यमानचारित्रमोहनीये संक्रान्तं दर्शनमोहनीयसत्कं दलिकं तन्न प्रतिग्रहप्रकृतिरूपतया परिणमते, स्तिबुकसंक्रमेण संक्रान्तं तु न सर्वथा प्रतिग्रहप्रकृतित्वेन परिणमतेऽत एवायं संक्रमकरणेऽपि न स्वीक्रियते,

तदुक्तं न्यायाचार्यैः—“इहान्योऽपि पक्षः स्तिबुकसंक्रमोऽस्ति, परं न तेन संक्रमकरणविशेष आश्रि-
 प्यते, करणस्य सलेद्वयवैरूपत्वात्, स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमस्य च लेइयावीतस्यायोगिरेवलिनोऽपि
 भगवतो द्विचरमसमये द्विसप्रतिप्रकृतीनां प्रतिपादनात् । न च स्तिबुकसंक्रमेण संक्रान्तं दलिकं सर्वया
 पतद्रूपद्रूपकृतिरूपतया परिणमत इति न चयोक्संक्रमस्वभावोऽसी” इति । प्रदेशोदयस्तु स्तिबुकसंक्र-
 मेण संक्रान्तस्यैव भवति नान्यस्य, तदुक्तं “अनुदीर्णमुदीर्णान्तरतुल्यकालं प्रतिक्षणम् । दलिकं संक्रमं
 याति, येन स स्तिबुको मतः ॥ १ ॥” इति, एष एव च प्रदेशानुभवो गीयते” इति तृतीयमतेऽपि
 मिथ्यात्वस्य प्रदेशोदयो नानिवृत्तिवादेरे घटते । नत्रमगुणस्थाने दर्शनपरीपहो न स्वीकृत
 इत्यपि न वाच्यम्, तत्त्वार्थसूत्रे भगवतीसूत्रे च स्वीकृतत्वात् । “वादरसम्पराये सर्वे”
 इति तत्त्वार्थसूत्रमिति चेत् ? न, केपाश्चिन्मतेनानिवृत्तिवादेरे नपुंसकवेदोपशमनात् पूर्वं
 सर्वथा दर्शनत्रयस्योपशमाभावेन प्रदेशोदयस्य सद्भावादिनिवृत्तिवादेरसम्पराये दर्शनपरीप-
 होकिर्नासङ्गता । न चैतत्स्वमनीषिकया विजृम्भितम्, पञ्चमाङ्गस्याष्टमशतकाष्टमोद्देश-
 कस्य त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिंशततमसूत्रघृष्टौ श्रीमदभयदेवसूरिपादैः साक्षेपरि-
 हारपुरस्सरं प्रतिपादनात् । तद्वन्धः—“ननु सूक्ष्मसम्परायस्य चतुर्विंशतानामेवाभिधानान्मोहनीय-
 सम्भवानामष्टानामसम्भवादित्युक्तम्, ततश्च सामर्थ्यादनिवृत्तिवादेरसम्परायस्य मोहनीयसम्भवानामष्टा-
 नामपि सम्भवः प्रातः, कथं चैतद्युज्यते ? यतो दर्शनसप्तकोपशमे वादरकपायस्य दर्शनमोहनीयोदया-
 भावेन दर्शनपरीपहामावात् सप्तानामेव सम्भवो नाष्टानाम् । अथ दर्शनमोहनीयसत्तापेक्षयाऽसाव-
 पीप्यत इत्यष्टावेव, तर्हि उपशमकत्वे सूक्ष्मसम्परायस्यापि मोहनीयसत्तासद्भावात् कथं तदुक्त्याः सर्वेऽपि
 परीपहा न भवन्ति ? इति न्यायस्य समानत्वादिति, अत्रोच्यते—“यस्मादर्शनसप्तकोपशमस्योप-
 र्येय नपुंसकवेदाद्युपशमकालेऽनिवृत्तिवादेरसम्परायो भवति, सा चावश्यकादिव्यतिरिक्तप्रन्यान्तरमतेन
 दर्शनत्रयस्य वृत्ति भागे उपशान्ते शेषे चानुपशान्ते एव स्यात्, नपुंसकवेदं चासौ तेन सहोपशमयि-
 त्तुमुपक्रमते, ततश्च नपुंसकवेदोपशमावसरेऽनिवृत्तिवादेरसम्परायस्य सतो दर्शनमोहस्य प्रदेशव
 उदयोऽस्ति न तु सचैव, ततस्तत्प्रत्ययो दर्शनपरीपहस्तालीति, ततश्चाष्टावपि भवन्तीति, सूक्ष्मसम्परा-
 यस्य तु मोहसत्तायामपि न परीपहहेतुभूतः सूक्ष्मोऽपि मोहनीयोदयोऽस्तीति न मोहजन्यपरीपह-
 सम्भवः” आह च—“मोहनिमित्ता अष्ट वि वायररगो परीसहा विह णु ? किं वा सुहुमसरागे न
 शेन्ति उवसामय सधे ? ॥ १ ॥” आचार्य आह—“सत्तगपरओ जिय जेण वायरगे जं च सावसेसंमि ।
 मगिहंमि पुरिहे लगइ तो दंसणस्तावि ॥ २ ॥ लब्भइ पयसकम्मं पडुच्च सुहुमोदओ तओ अह । तस्स
 भणिया न सुहुमे न तस्स सुहुमोदओवि जओ ॥ ३ ॥” “यथ सूक्ष्मसम्परायस्य सूक्ष्मलोभकिट्टिकाला-
 मुदयो नामो परीपहहेतुः, लोभहेतुकस्य परीपहस्थानमिधानात्, यदि च कोऽपि कथञ्चिदतो त्यातदा
 तन्मेहालन्तात्पत्वेनाविषया” इति । अस्मिन्मते “दर्शनसप्तकस्य” इत्यादिप्रतिपादनात् दर्शन-
 मोहस्य उदयवच्चारित्रमोहनीयकर्मसु स्तिबुकसंक्रमो भवतीति सम्भाव्यते, सम्यक्त्वमो-
 हनीयस्थानन्तानुबन्धनश्च विपाकोदयाप्रतिपादनादिति । एतेन आद्यपञ्चसिद्धतावपि
 श्रेणिचिमित्रौपशमिकसम्यग्दृष्टेः मिथ्यात्वस्य कपायान्तर्भावेन सम्यक्त्वमोहनीयस्य विपा-

कानुभवाभावेऽपि प्रदेशानुभवनं केपाश्चिन्मतेन संभाव्यते । “आह—क्षायोपशमिकादस्य को विशेष ? इति । उच्यते—तत्रोपशान्तस्यापि मिथ्यात्वस्य प्रदेशानुभवोऽस्ति, न त्वोपशमिके । अन्ये तु व्याचक्षते—श्रेणिमध्यवर्तिन्येवौपशमिके प्रदेशानुभवो नास्ति, न तु द्वितीये, तथापि तत्र सम्यक्त्वाण्व-
नुभवाभाव एव विशेष इति” ४७ गाथावृत्ताविति । बृहत्कल्पवृत्तौ क्षपकश्रेण्यधिकारे-
ऽपि—“अवद्वायुष्कः पुनरनुपगत एव समस्तां श्रेणिं समापयति । स च स्वल्पसम्यग्दर्शनावशेष
एवाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणकपायाष्टकं क्षपयितुं युगपदारभते” इति यावद्दर्शनमोहनीयं सर्वथा न
क्षीयते नवोपशाम्यते, तावत् सम्यक्त्वमोहनीयस्य विपाकोदयस्वीकारे तु दर्शनमोहस्य चारि-
त्रमोहे स्तिबुकसंक्रमाभावेऽपि न क्षतिः । तत्त्वं पुनः तद्विदो विदन्ति । न च संक्रमाधि-
कारत्वेन नवमगुणस्थाने दर्शनपरीपहसमर्थनमसंगतमिति वाच्यम्, नवमगुणस्थाने दर्शन-
परीपहसमर्थनेन केपाश्चिन्मते चारित्रमोहे दर्शनमोहनीयस्य स्तिबुकसंक्रमः संभवतीति
संसूचनार्थकत्वादिति ।

अन्यच्च संक्रमावलिकागतं वन्धावलिकागतमुदयवलिकागतमुद्धर्तनावलिकागतं न कु-
त्रापि संक्रमयति, न केवलं संक्रमायोग्यम्, अपि तु सकलकरणायोग्यम् । तदुक्तं—“संक-
मयन्मुदयउधट्टणालिगाईणऽकरणाइ” इति । ननु संक्रमावलिकागतं न कुत्रापि संक्रमयतीत्यस्य
कोऽर्थः ? श्रूयतां, यहलिकं यस्मिन्समये संक्रान्तं तत्समयात्प्रारभ्य तदलिकमावलिका-
मात्रं कालं यावत् न कुत्रापि संक्रमयतीति । एवमेव वन्धावलिकादिष्वपि बोध्यम् । य-
द्यपि क्रमेणोत्क्रमेण वान्तरकरणादवाक् पुरुषवेदस्य संज्वलनचतुष्टयस्य च संक्रमो भवति,
तथापि अन्तरकरणे कृते सति क्रमेणैव संक्रमो भवति । तेनान्तरकरणे संज्वलनलोभस्य
संक्रमो न भवतीति नियमः, तदुक्तं—“अन्तरकरणस्मि कए चरित्तमोहेऽणुपुषिसंक्रमणं । अन्नत्थ
सेसियाणं च सघहिं सघहा वन्धे” इति । अत्र चारित्रमोहे संज्वलनचतुष्टयपुंवेदलक्षणे इत्यर्थः ।

यस्यामाधारभूतायां प्रकृतौ प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकमाधाररूपतामापादयति साधाररूपा
प्रकृतिः पतद्ग्रह इव पतद्ग्रह उच्यते, संक्रम्यमाणप्रकृतेराधारत्वात् । तथा चोक्तं—“परिण-
मयइ जीसे वं पगईइ पडिगहो एसा” इति । प्रतिग्रहपतद्ग्रहौ वैकार्थिकौ । पुंवेदस्य वन्ध-
सद्भावेऽपि अन्तरकरणे कृते सति समयोनावलिकाद्विकशेषायां प्रथमस्थितौ प्रतिग्रहता न
भवति, एवं संज्वलनचतुष्टयस्य समयोनासु तिसृष्ववलिकासु सतीषु प्रतिग्रहता न भव-
तीति । तथा मिथ्यात्वे क्षपिते मिश्रस्य, मिश्रे क्षपिते सम्यक्त्वस्य प्रतिग्रहता न भवति ।
ननु संज्वलनचतुष्टयस्य पुंवेदस्य च कथं प्रतिग्रहतायां वैषम्यम् ? उच्यते, पञ्चानामपि
वन्धव्यवच्छेदात्पूर्वं समयोनावलिकाद्विकं कालं यावत् प्रतिग्रहता न भवति, वन्धव्यवच्छे-
दानन्तरं पुंवेदस्य प्रथमस्थितिः व्यवच्छिद्यते, संज्वलनचतुष्टयस्य तु वन्धव्यवच्छेदेऽपि
एकावलिका प्रथमस्थितिसत्त्वा तिष्ठतीति वैषम्यमिति ।

संक्रमो द्विविधः—प्रकृतिसंक्रमः स्थानसंक्रमश्च । तत्र प्रकृतिसंक्रमो यथा—सातवेदनीये
वध्यमानेऽसातवेदनीयम्, असातवेदनीये वध्यमाने सातवेदनीयम्, उच्चैर्गोत्रे वध्यमाने

नीचैर्गोत्रम्, नीचैर्गोत्रे वध्यमाने उच्चैर्गोत्रम्, संज्वलनमाने क्षपिते संज्वलनमाया संज्वल-
नलोभे, मिथ्यात्वे क्षपिते मिश्रं सम्यक्त्वे, सम्यक्त्वे उद्धलिते मिश्रं वध्यमाने मिथ्यात्वे
संक्रमयतीत्येकैकप्रकृतिसंक्रमः । एवं यदा चारित्रमोहनीयदर्शनमोहनीययोरुभयोर्युगपत्
संक्रमो विवक्ष्यते—यथा एकोनविंशतौ सप्तविंशत्यादयः संक्रमयन्ति तदा सप्तदशप्रकृतौ
पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं स्थानं, सम्यक्त्वमोहनीये द्विप्रकृत्यात्मकं स्थानं, मिश्रे मिथ्यात्वरू-
पैकप्रकृत्यात्मकप्रकृतिसंक्रमः, यद्वा द्वाविंशतौ पञ्चविंशतिप्रकृतयो यदा संक्रामन्ति तदा
एकविंशतिप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं स्थानं, मिथ्यात्वे मिश्ररूपैका
प्रकृतिः संक्रामतीति कल्पनापि न विरुध्यते, एवमन्यत्रापि । तथा प्रकृतिस्थानसंक्रमेऽपि
यदैकं प्रकृतिः संक्रम्यमाणा विवक्ष्यते तदा प्रकृतिसंक्रमोऽभिधीयमानो न विरुध्यते ।
स्थानसंक्रमो यथा ज्ञानावरणपञ्चके वध्यमाने बन्धावलिकातिक्रान्तं प्राग्वज्जमेव ज्ञानावर-
णपञ्चकं संक्रमयति, एवमन्यत्रापि स्वयं बोध्यमिति ।

प्रतिग्रहोऽपि द्विविधः—प्रकृतिप्रतिग्रहः स्थानप्रतिग्रहश्च । तत्र प्रकृतिप्रतिग्रहोऽसातवे-
दनीये संक्रम्यमाणे वध्यमानं सातवेदनीयम्, सातवेदनीये संक्रम्यमाणे वध्यमानमसात-
वेदनीयं वा, उच्चैर्गोत्रे संक्रम्यमाणे वध्यमानं नीचैर्गोत्रम्, नीचैर्गोत्रे संक्रम्यमाणे वध्यमान-
मुच्चैर्गोत्रम्, क्षपके संज्वलनमायायाः प्रतिग्रहताव्यवच्छेदे सति संज्वलनलोभः, मिश्रमोह-
नीयस्य सम्यक्त्वं सम्यक्त्वमिश्रयोः मिथ्यात्वं प्रतिग्रहः । तथा नान्नः त्रिंशत्प्रकृतिबन्धव्यव-
च्छेदानन्तरमेका यशःकीर्तिः प्रतिग्रहरूपा भवतीति एकैकप्रकृतिप्रतिग्रहः । स्थानप्रतिग्रहः
संक्रम्यमाणज्ञानावरणपञ्चकस्य वध्यमानज्ञानावरणपञ्चकमेवमन्यत्रापि स्वयमवसेयमिति ।

तदेवं निरूपितः सामान्यविशेषलक्षणविधिरपवादो नियमश्च । अथ विकल्पावसरः ।
स च स्थितिसंक्रमादौ उद्धर्तनापर्यन्तानुरूपसंक्रमसम्भवेन प्रदेशसंक्रमे विध्यातादिभेदसम्भ-
वेन च तत्र संभवत्येव, तदुक्तं “टितिसंक्रमातिमु संभवति वदिद्वो” इति । प्रकृतिसंक्रमे तु
त्रिषु दर्शनावरणमोहनीयनामकर्मसु संभवति, नान्यत्र, तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—
“इदं वि त्रिगुणायामरो, सो य दंसणाउरणमोहनामाणनेव पगतिसंक्रमे संभवति” इति । स्वामित्वे
ज्ञाते तस्य ज्ञानं भवत्येवेति पृथग् नोच्यते, चूर्णावपि पृथक्त्वेन नोक्तः, तदुक्तं—“सामित्तेण
य सह जातिस्ति न पृथगुच्यते” इति विकल्पः ।

साम्प्रतं साद्यादिरूपणा उच्यते—तत्र ज्ञानावरणपञ्चकस्य संक्रमश्चतुर्विधो भवति,
तथाहि—कश्चिदुपशमश्रेणिमारूढः सूक्ष्मसम्परायचरमसमये ज्ञानावरणपञ्चकस्य बन्धव्यव-
च्छेदं कृत्योपशान्तमोहं प्राप्तः, तत्र बन्धाभावेन संक्रमो न भवति, कालक्षयेण ततः
प्रतिपाते सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने ज्ञानावरणपञ्चकस्य वध्यमानत्वेन प्रतिग्रहसत्त्वात् तत्र
संक्रमयन् सादिः । तत्स्थानमप्राप्तस्थानादिः । अभव्यस्य ध्रुवः, कालान्तरेऽपि बन्धव्यव-
च्छेदाभावात् । भव्यस्याध्रुवः कालान्तरे बन्धव्यवच्छेदसम्भवात् । एवं दर्शनावरणनेव-
कचारित्रमोहनीयपञ्चाविंशतिनरकमनुजदेयद्विकर्तृक्रियसप्तकाहारकसप्तकीर्यकुरवर्जनाम-

र्ह्यंशीत्यन्तरायपञ्चैकरूपाणामेकविंशत्यधिकशतप्रकृतीनामपि भावनीयम् । अमीषां ध्रुव-
सत्कर्मप्रकृतीनां संक्रमविषयप्रतिग्रहप्रकृतिबन्धव्यवच्छेदे सति सक्रमो न भवति, पुनरपि
संक्रमविषयप्रतिग्रहप्रकृतिबन्धारम्भे भवतीति सादिः, बन्धव्यवच्छेदस्थानमप्राप्तस्यानादिः,
अभ्यवस्य ध्रुवः कदाचिदपि बन्धव्यवच्छेदस्थानाप्राप्तेः, अभ्यवस्यध्रुवः, कालान्तरे बन्धव्य-
वच्छेदस्थानसम्भवात् । सम्यक्त्वमिश्रनरकद्विकमनुजद्विकदेवद्विकवैक्रियसप्तकाहारकसप्त-
कतीर्यकरोच्चैर्गोत्रलक्षणानां चतुर्विंशतीनामध्रुवसत्कर्मणां संक्रमः साद्यध्रुवो भवति, अध्रुव-
सत्कर्मत्वादेव । परावर्तमानानां सातासातवेदनीयनीचैर्गोत्ररूपाणां त्रयाणां ध्रुवसत्कर्मणां
परावर्तमानत्वात् साद्यध्रुवो संक्रमो भवति । तथाहि—साते बध्यमानेऽसातस्य संक्रमः,
असाते बध्यमाने सातस्य संक्रमः नान्यदा । तथा उच्चैर्गोत्रे बध्यमाने नीचैर्गोत्रस्य, नीचै-
र्गोत्रे बध्यमाने उच्चैर्गोत्रस्य संक्रमः अत एतासां साद्यध्रुवो भवतीति । तथा मिथ्यात्वस्य
संक्रमः सम्यग्दृष्टेरेव भवति, सम्यग्दृष्टित्वं च कादाचित्कं, ततस्तस्य संक्रमः साद्यध्रुव
एवेति । यच्च “मिथ्यात्वस्य सप्तमो विशुद्धसम्यग्दृष्टेर्भवति, विशुद्धसम्यग्दृष्टित्वं च कादाचित्क”
इत्यत्र विशुद्धत्वविशेषणं सम्यग्दृष्टेः कृतं तत्सात्त्वादनमिश्रदृष्टिनिराकरणार्थं स्वरूपावबो-
धकं वा द्रष्टव्यम् । आयुषः संक्रमाभावात्साद्यादिविचारणा न भवत्येवेति ।

॥ आयुषां सप्तमाभावेन चतुष्पञ्चाशदधिकशतप्रकृतीनां संक्रमस्य साधादिभङ्गकयन्त्रम् ॥

| प्रकृतीनां सप्तम | सादि | अध्रुव | अनादि | ध्रुव |
|--------------------------------|---|------------------------|--------------------|-----------|
| १२६ ध्रुवसत्ताकानां | प्रतिग्रहरूपबन्धविरुद्धे दानन्तर पुनर्वन्द्ये | अभ्यानाम् | सादित्वाप्राप्तस्य | अभ्यानाम् |
| २४ अध्रुवसत्ताकानां | अध्रुवसत्तादेव | अध्रुवसत्तादेव | ० | ० |
| वेदनीययो नीचैर्गो- त्रस्य च | बन्धे परावर्तमानत्वात् | बन्धे परावर्तमानत्वात् | ० | ० |
| मिथ्यात्वस्य | विशुद्धसम्यग्दृष्टे सप्त- म्यमाणात्वेन कादाचि- त्त्वात् | सादित्वात् | ० | ० |

ननु कासां प्रकृतीनां किं सक्रमपर्यवसानं ? येन तत ऊर्ध्वमभवन् प्रतिपाते च भवन्
संक्रमः साद्यादिरूपतया सुखावबोधः स्यात् । उच्यते—ज्ञानावरणीयस्य मिथ्यादृष्टेरारभ्य
सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानाः सर्वेऽपि संक्रामकाः, न परे, परतस्तेषां बन्धाभावेन प्रतिग्रहा-
भावात् । एतमेव दर्शनावरणनवकस्यापि भावनीयम् । सातवेदनीयस्य मिथ्यादृष्टेः प्रारम्भ्य
प्रमत्तसंयतं यावत् सर्वेऽपि संक्रामकाः, नान्ये, परतो हि असातवेदनीयस्य बन्धाभावेन
प्रतिग्रहाभावात् । असातवेदनीयस्य मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानाः सर्वे संक्रा-
मकाः, नोपशान्तादयः, तत्र योगप्रत्ययिकसातवेदनीयस्य बन्धसद्भावेऽपि साम्परायिक-
बन्धाभावेन प्रतिग्रहाभावात् । मोदनीयकर्मणि मिथ्यात्वमोदनीयस्य अविरतमम्यग्दृष्ट्यादय

उपशान्तमोहपर्यवसाना वेदितव्याः, न परे, परतस्तस्य सत्ताऽभावात् । मिथ्यादृष्टयस्तु मिथ्यात्वं स्वभावत एव न संक्रमयन्ति 'नियनियदिष्टि न केद्' इतिवचनात्, द्वितीयतृतीयगुणस्थानवर्तिनौ न किमपि दर्शनत्रिकं संक्रमयतः, प्राग् निषेधात् । मिश्रमोहनीयस्य मिथ्यादृष्टिरविरतसम्यग्दृष्टेरारभ्योपशान्तमोहपर्यवसानाश्च सर्वेऽपि संक्रामकाः, न परे, परतः सत्ताऽभावात्, नापि द्वितीयतृतीयगुणस्थानवर्तिना, "हुड्यवतदयज्ञा न दंसणतिगिंवि" इति वचनप्रामाण्यात् । सम्यक्त्वमोहनीयस्य मिथ्यादृष्टिरेव संक्रामकः, नान्यः, यतो मिथ्यात्वे वर्तमान एव सम्यक्त्वं संक्रामति, स तु मिथ्यादृष्टिरेवेति । अनन्तानुबन्धिनां मिथ्यादृष्ट्यादयोऽप्रमत्तगुणस्थानपर्यन्तवर्तिनः सर्वे, न परे, परतस्तेषां विसंयोजितत्वेन क्षीणत्वेन वा केषाश्चिन्मते उपशान्तत्वेन वा संक्रामाभावात् । अनन्तानुबन्धिवर्जद्वादशकपायनवनोकपायाणां मिथ्यादृष्टेरारभ्यानिवृत्तिवादरसम्परायपर्यन्ताः सर्वेऽपि संक्रामका द्रष्टव्याः, न परे, परतस्तेषामुपशान्तत्वेन क्षीणत्वेन वा संक्रामाभावात् । आयुःकर्मणि संक्रामाभावात् न तत्र विचारणापि । नामकर्मणि यशःकीर्तौ मिथ्यादृष्टेरारभ्य निवृत्तिवादरसम्परायपष्ठभागपर्यवसानाः सर्वे संक्रामका वेदितव्याः, न परे, परतस्तेषां केशलाया यशःकीर्तौ च ध्यमानत्वेन तदन्यस्य प्रतिग्रहाभावात् । यशःकीर्तौ जिननामवर्जदोषनामकर्मणः एकोत्तरशतस्य मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानाः संक्रामका भवन्ति, न परे, परतो नामकर्मणो बन्धाभावेन प्रतिग्रहाभावात् । जिननाम्नस्तु द्वितीयतृतीयवर्जा मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायपर्यन्ता उक्तहेतोरेव, द्वितीयतृतीयगुणस्थाने सत्ताभावात् तद्वर्जनं कृतमिति । तथा उच्चैर्गोत्रस्य आद्यगुणस्थानद्वयवर्तिन एव संक्रामकाः, नान्ये, अन्येषां नीचैर्गोत्रावन्धकत्वेन प्रतिग्रहाभावात् । नीचैर्गोत्रस्यान्तरायपञ्चकस्य च मिथ्यादृष्ट्यादयः सूक्ष्मसम्परायपर्यवसाना बोध्याः, न परे, परत उच्चैर्गोत्रस्यान्तरायपञ्चकस्य च बन्धाभावेन प्रतिग्रहाभावादिति ।

॥ चतुष्पञ्चाशदधिकशतप्रकृतीनां संक्रमपर्यवसानाः ॥

| | | | |
|--|--|---|---|
| ज्ञानदर्शनावरणयोः सातयेदनीयस्य भसातस्य मिथ्यात्वस्य | सूक्ष्मसम्परायान्ताः प्रमत्तान्ताः सूक्ष्मसम्परायान्ताः अविरतसम्यग्दृष्टेरारभ्योप- शान्तपर्यवसानाः | आद्यवर्जद्वादशकपायाणां भोकपायाणां च यशःकीर्तौ जिनस्य | अनिवृत्तिवादान्ताः अपूर्वकरणपष्ठभागपर्यव- सानाः द्वितीयतृतीयवर्जसूक्ष्मसम्प- रायपर्यन्ताः सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानाः |
| मिश्रस्य | मिथ्यादृष्टिरविरतसम्यग्दृष्टे- रारभ्योपशान्तपर्यवसानाश्च | जिनयशोवर्जितदोषनाम्न एकोत्तरशतस्य उच्चैर्गोत्रस्य नीचैर्गोत्रस्यान्तरायपञ्च- कस्य च | प्रथमद्वितीयगुणस्थानवर्तिन सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानाः |
| सम्यक्त्वस्य अनन्तानुबन्धितुल्यस्य | मिथ्यादृष्टयः अप्रमत्तान्ताः | | |

अथ प्रतिग्रहमाश्रित्य साद्यादिरूपणा क्रियते-तत्र ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनय-

कपोडशकपायभयजुगुप्सतैजसकार्मणसप्तकवर्णादिविंशतिनिर्माणगुरुलघूपघातान्तरायपञ्चकरूपाणां सप्तपष्टिसंख्याकानां ध्रुववन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रतिग्रहता चतुष्प्रकारा साद्यानादिध्रुवाध्रुवरूपा भवति । तथाहि—एतासां ध्रुववन्धिनीनां स्वस्वबन्धव्यवच्छेदे सति प्रतिग्रहत्वं न भवति, तत्र न किमपि प्रकृत्यन्तरदलिकं संक्रमयतीति तात्पर्यम्, स्वस्वबन्धहेतुं समासाद्य पुनरपि बन्धारम्भे सति प्रतिग्रहत्वं भवतीति सादिः, तत्तद्वन्धव्यवच्छेदस्थानमप्राप्तस्यानादिः, अभव्यस्य ध्रुवा कदाचिदपि बन्धव्यवच्छेदाभावात्, भव्यस्याध्रुवा कालान्तरे बन्धव्यवच्छेदसंभवात् । मिथ्यात्वस्य ध्रुववन्धित्वेऽपि द्विपुञ्जी त्रिपुञ्जी वाऽसम्यग्दृष्टिरेव तत्र सम्यक्त्यमिश्रौ संक्रमयति नान्य इति मिथ्यात्वस्य प्रतिग्रहता साद्यध्रुवा । आयुश्चतुष्टयवर्जचतुरशीतिसहस्राकानामध्रुववन्धिनीनां प्रतिग्रहता साद्यध्रुवाऽध्रुववन्धित्वादेव । सम्यक्त्यमिश्रयोः बन्धाभावेऽपि द्विपुञ्जिनस्त्रिपुञ्जिनो वा पतद्ग्रहत्वं भवति, नान्यस्येति साद्यध्रुवता ।

॥ पतद्ग्रहप्रकृतीनां साद्यादिभङ्गकयन्त्रम् ॥

| प्रकृतीनां प्रतिग्रहता | सादिः | अध्रुवा | अनादिः | ध्रुवा |
|------------------------|---|---------------------------------|--------------------|-----------|
| १० ध्रुववन्धिनीनाम् | स्वस्वबन्धव्यवच्छेदान्तरे पुनर्बन्धारम्भे | अभ्यानाम् | सादित्वाप्राप्तस्य | अभ्यानाम् |
| ८४ अध्रुववन्धिनीनाम् | अध्रुववन्धित्वादेव | अध्रुववन्धित्वादेव | ० | ० |
| मिथ्यात्वस्य | पतद्ग्रहताया एव कादाचित्कत्वात् | पतद्ग्रहताया एव कादाचित्कत्वात् | ० | ० |
| मिश्रसम्यगवयो. | कादाचित्कत्वात् | कादाचित्कत्वात् | ० | ० |

तदेवमेकैकप्रकृतेः संक्रमस्य प्रतिग्रहतायाश्च साद्यादिप्ररूपणा कृता, साम्प्रतं संक्रमस्थानेषु प्रतिग्रहस्थानेषु च साद्यादिप्ररूपणा क्रियते—तत्र ज्ञानावरणान्तराययोरेकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानमेकमेव पञ्चप्रकृत्यात्मकं प्रतिग्रहस्थानं, इमौ संक्रमप्रतिग्रहभावौ साद्यादिरूपतया चतुष्प्रकारौ, तथाहि—उपशान्तमोहगुणस्थाने तयोरभावात् ततः प्रतिपाते च पुनः संभवात् सादी, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादी, भव्याभव्यापेक्षया अध्रुवध्रुवाविति । दर्शनावरणस्य द्वे संक्रमस्थाने नवप्रकृत्यात्मकं, पट्प्रकृत्यात्मकं च । नवकपट्चतुष्करूपाणि त्रीणि प्रतिग्रहस्थानानि । तत्र नवकसंक्रमस्थानं प्रतिग्रहस्थानं च साद्यादिचतुष्प्रकारं भवति, तद्यथा—सादि, अनादि, ध्रुवं, अध्रुवमिति । तत्र सास्यादने स्थानद्विजिकबन्धव्यवच्छेदेन मिश्रादौ पट्प्रकृत्यात्मकस्य प्रतिग्रहत्वात्, क्षपकश्रेण्यां पुनः स्थानद्विजिकक्षपिते सति पट्प्रकृत्यात्मकस्य संक्रमस्थानस्थानिवृत्तिकरणादौ प्राप्यमाणत्वेन, नवप्रकृत्यात्मकं प्रतिग्रहस्थानं संक्रमस्थानं च न भवति, ततः प्रतिपाते भवतीति सादि, तत्तत्स्थानमप्राप्तस्यानादि, ध्रुवमभव्यापेक्षया, भव्यापेक्षयाऽध्रुवम् । पट्प्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानं पट्प्रकृत्यात्मकं चतुष्प्रकृत्यात्मकं च प्रतिग्रहस्थानं कादाचित्कत्वेन साद्यध्रुवमिति । वेदनीयस्य वध्यमानायां प्रकृतां अन्यतराऽ-

वध्यमाना प्रकृतिः संक्रामति, तेन संक्रमप्रतिग्रहौ द्वावपि परावर्तमानत्वात्साद्यधुवौ । सामान्येन सातासाताऽविवक्षणे तु वेदनीयस्य संक्रमस्थानं प्रतिग्रहस्थानं च साद्यादिचतुष्प्रकारं भवति, वेदनीयस्य ध्रुवबन्धित्वात्, तदुक्तम्—“वेयणीयस्स पगतिद्वान् एगमेवेति सातियातिचउविहं” इति । तथा गोत्रस्यापि परावर्तमानत्वेन साद्यधुवौ संक्रमप्रतिग्रहौ भावनीयौ । ननु वेदनीयवत् गोत्रस्यापि उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्राविवक्षया ध्रुवबन्धित्वेन साद्यादिचतुष्प्रकारौ संक्रमप्रतिग्रहौ कथं न भवत इति चेत् ? न, ध्रुवबन्धित्वेऽपि उच्चैर्गोत्रस्योद्भूतने संक्रमप्रतिग्रहाभावात् । वेदनीयस्योद्भूतनाया अभावात् न तथेति ।

॥ मोहायुर्नामवर्जप्रकृतिसंक्रमस्थानानां साद्यादिभङ्गकयन्त्रम् ॥

| प्रकृतिस्थानानां संक्रमः | सादिः | अध्रुवः | अनादिः | ध्रुवः |
|-----------------------------|---|-----------------------|----------------------------|-----------|
| ज्ञानावरणान्तराय- दशकस्य | उपशान्तमोहात् प्रतिपत्तः | अभ्यानाम् | उपशान्तमोहा- प्राप्तस्य | अभ्यानाम् |
| दर्शनावरणीयनवकस्य | ” | ” | अत्यन्तमिध्यात्वस्य | ” |
| दर्शनावरणीयपङ्क्तस्य | क्षपकधेनौ विद्यमानत्वे- न कादाचि कत्वात् | कादाचित्करात् | ० | ० |
| असातवेदनीयस्य | परावर्तमानबन्धित्वात् | परावर्तमानबन्धित्वात् | ० | ० |
| सातवेदनीयस्य | ” | ” | ० | ० |
| उच्चैर्गोत्रस्य | ” | ” | ० | ० |
| नीचैर्गोत्रस्य | ” | ” | ० | ० |

॥ मोहायुर्नामवर्जकर्मणां पतद्ग्रहस्थानानां साद्यादिभङ्गकयन्त्रम् ॥

| प्रकृतिस्थानानां प्रतिग्रहता | सादिः | अध्रुवा | अनादिः | ध्रुवा |
|---------------------------------|-----------------------------|-------------------|-----------------------|-----------|
| ज्ञानावरणान्तराय- दशकस्य | उपशान्तमोहात् प्रतिपत्तः | अभ्यानाम् | उपशान्तमोहाप्राप्तस्य | अभ्यानाम् |
| दर्शनावरणनवकस्य | पङ्क्त्यन्धात् नवबन्धकस्य | ” | अत्यन्तमिध्यात्वस्य | ” |
| दर्शनावरणपङ्क्तस्य | कादाचित्करात् | कादाचित्कत्वात् | ० | ० |
| दर्शनावरणचतुष्कस्य | ” | ” | ० | ० |
| सातस्य | अध्रुवबन्धित्वात् | अध्रुवबन्धित्वात् | ० | ० |
| असातस्य | ” | ” | ० | ० |
| उच्चैर्गोत्रस्य | ” | ” | ० | ० |
| नीचैर्गोत्रस्य | ” | ” | ० | ० |

मोहनीयस्य चक्ष्यमाणानि सप्तविंशत्यादीनि त्रयोविंशतिः संक्रमस्थानानि, द्वाविंशत्या-

दीनि अष्टादश प्रतिग्रहस्थानानि । तत्र पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानं साद्यादिचतु-
 प्रकारं भवति । तथाहि—अष्टाविंशतिसत्कर्मणः सम्यक्त्वमिश्रयोरुद्बलनया भवदेतत्सादि,
 अनादिमिथ्यादृष्टेरनादि, अधुवधुवता तु भव्याभव्यापेक्षयेति । शेषाणि तु संक्रमस्थानानि
 कादाचित्कत्वेन साद्यधुवाणि । एकविंशतिप्रतिग्रहः साद्यादिरूपतया चतुर्विधः, तथाहि—
 सादिमिथ्यादृष्टेरुद्बलितयोः सम्यक्त्वमिश्रयोः सतोः पञ्चविंशतिसत्कर्मणः एकविंशतिरूपः
 प्रतिग्रहः सादिः, अनादिमिथ्यादृष्टेः पञ्चविंशतिसत्कर्मणोऽनादिः, धुवाधुवावभव्यभव्यापे-
 क्षया । शेषाणि प्रतिग्रहस्थानानि कादाचित्कत्वेन साद्यधुवाणि । नाम्नरुयुत्तरशतादीनि वक्ष्य-
 माणानि द्वादशसंक्रमस्थानानि, त्रयोविंशत्यादीन्यष्टौ प्रतिग्रहस्थानानि । सर्वाणि कादा-
 चित्कत्वेन साद्यधुवाणि । आयुषः संक्रमाभावेन न तद्विचाराणापीति कृता साद्यादिप्ररूपणा ।

॥ मोहनीयसंक्रमस्थानानां साद्यादिभङ्गकयन्त्रम् ॥

| प्रकृतिस्थानसंक्रमः | सादिः | अधुवः | अनादिः | धुवः |
|---------------------|---------------------------------|-----------------|--------------------|------------|
| २७ | कादाचित्कत्वात् | कादाचित्कत्वात् | ० | ० |
| २६ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| २५ | सम्यक्त्वमिश्रयो- रुद्बलनात् | भव्यानां | अनादिमिथ्यादृष्टेः | अभव्यानाम् |
| २३ | कादाचित्कत्वात् | कादाचित्कत्वात् | ० | ० |
| २२ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| २१ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| २० | ॥ | ॥ | ० | ० |
| १९ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| १८ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| १७ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| १६ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| १५ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| १४ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| १३ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| १२ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| ११ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| १० | ॥ | ॥ | ० | ० |
| ९ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| ८ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| ७ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| ६ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| ५ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| ४ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| ३ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| २ | ॥ | ॥ | ० | ० |
| १ | ॥ | ॥ | ० | ० |

॥ मोहनीयस्य प्रतिग्रहस्थानानां साद्यादिभङ्गकयन्त्रम् ॥

| प्रकृतिस्यामप्रतिग्रहः | सादिः | अधुवः | अनादिः | ध्रुवः |
|------------------------|--|-----------------|------------------|-----------|
| २२ | कादाचित्कत्वात् | कादाचित्कत्वात् | ० | ० |
| २१ | उद्धतमिभ्रसम्यनयस्य सादिमिभ्यादष्टः | रुप्यानाम् | अनादिमिभ्यादष्टः | अमप्यानां |
| १९ | कादाचित्कत्वात् | कादाचित्कत्वात् | ० | ० |
| १८ | २२ | २२ | ० | ० |
| १७ | २२ | २२ | ० | ० |
| १५ | २२ | २२ | ० | ० |
| १४ | २२ | २२ | ० | ० |
| १३ | २२ | २२ | ० | ० |
| ११ | २२ | २२ | ० | ० |
| १० | २२ | २२ | ० | ० |
| ९ | २२ | २२ | ० | ० |
| ७ | २२ | २२ | ० | ० |
| ६ | २२ | २२ | ० | ० |
| ५ | २२ | २२ | ० | ० |
| ४ | २२ | २२ | ० | ० |
| ३ | २२ | २२ | ० | ० |
| २ | २२ | २२ | ० | ० |
| १ | २२ | २२ | ० | ० |

॥ नाम्नः संक्रमस्थानानां साद्यादिभङ्गकयन्त्रम् ॥

| स्थानसंक्रमः | सादिः | अधुवः | अनादिः | ध्रुवः |
|--------------|-----------------|-----------------|--------|--------|
| १०३ | कादाचित्कत्वात् | कादाचित्कत्वात् | ० | ० |
| १०२ | २२ | २२ | ० | ० |
| १०१ | २२ | २२ | ० | ० |
| ९६ | २२ | २२ | ० | ० |
| ९५ | २२ | २२ | ० | ० |
| ९४ | २२ | २२ | ० | ० |
| ९३ | २२ | २२ | ० | ० |
| ८९ | २२ | २२ | ० | ० |
| ८८ | २२ | २२ | ० | ० |
| ८४ | २२ | २२ | ० | ० |
| ८२ | २२ | २२ | ० | ० |
| ८१ | २२ | २२ | ० | ० |

॥ नाम्नः प्रतिग्रहस्थानानां साद्यादिभङ्गकथञ्चम् ॥

| स्थानप्रतिग्रहः | सादिः | अधुवः | अनादिः | धुवः |
|-----------------|-------|-------|--------|------|
| ३१ | ३१ | ३१ | ० | ० |
| ३० | ३१ | ३१ | ० | ० |
| २९ | ३१ | ३१ | ० | ० |
| २८ | ३१ | ३१ | ० | ० |
| २७ | ३१ | ३१ | ० | ० |
| २६ | ३१ | ३१ | ० | ० |
| २५ | ३१ | ३१ | ० | ० |
| २४ | ३१ | ३१ | ० | ० |
| १ | ३१ | ३१ | ० | ० |

॥ आयुषोऽन्यप्रकृतिनयनलक्षणसंक्रमाभावादेव नास्ति तद्विचारणा ॥

सर्वेषां कर्मणां सत्स्थानतुल्यानि संक्रमस्थानानि, बन्धस्थानतुल्यानि प्रतिग्रहस्थानानि भवन्ति, भुक्त्वा द्वितीयचतुर्थकर्मणी, तदुक्तं पञ्चसंग्रहे—“सत्तद्वाणसमाह संक्रमठागाह दोष्णि घीयस्त । बन्धसमा पडिगहगा अद्विह्या दोषि मोहस्त ॥ १ ॥” इत्यतः सत्स्थानबन्धस्थानभणनपुरस्सरं संक्रमप्रतिग्रहस्थानभणनं, तद्भणनपूर्वकं च स्वामित्वं प्रतिपाद्यते—

तत्र ज्ञानावरणान्तराययोः प्रत्येकमेकैकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानं बन्धस्थानं च, एवं संक्रमस्थानं प्रतिग्रहस्थानं चैकैकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं । द्वयोरपि पञ्चप्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानं पञ्चप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहस्थाने संक्रामति । पृथक्प्रकृतिविवक्षायां तु संक्रम्यमाणं मतिज्ञानावरणीयं स्वभिन्नचतुष्प्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे संक्रामति, एवं श्रुतज्ञानावरणादिचतुष्कमन्तरायपञ्चकं च बोध्यम् । एवं मतिज्ञानावरणीयरूपे एकप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे स्वभिन्नचतुष्प्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानं संक्रामति, एवमेव श्रुतज्ञानावरणीयादिचतुष्के अन्तरायपञ्चके च ज्ञातव्यमिति । वेदनीयत्वं द्विप्रकृत्यात्मकमेकप्रकृत्यात्मकं च सत्स्थानं, तत्र द्विप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानमयोगिद्विचरमसमयं यावत्, एकप्रकृत्यात्मकं तु सत्तास्थानमयोगिचरमसमये । बन्धस्थानमेकप्रकृत्यात्मकं, संक्रमस्थानमवध्यमाना प्रकृतिः, बध्यमाना प्रकृतिस्तु प्रतिग्रहस्थानं भवति । गोत्रस्य द्विप्रकृत्यात्मकमेकप्रकृत्यात्मकं च द्वे सत्स्थाने, तत्रैकप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानमुच्चैर्गोत्रे उद्धलिते क्षीणे वा भवति । बन्धस्थानं संक्रमस्थानं प्रतिग्रहस्थानं चैकैकमेव भवति । तत्र सत्तायां यावत् प्रकृतिद्वयं वर्तते यावच्च गोत्रबन्धो विद्यते तावदवध्यमाना प्रकृतिः संक्रमस्थानं बध्यमाना प्रकृतिः प्रतिग्रहस्थानम् । तेन बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रे उद्धलिते वा न संक्रमस्थानं नापि प्रतिग्रहस्थानमिति । ज्ञानावरणान्तरायवेदनीयगोत्रकर्मणां संक्रमप्रतिग्रहस्थानानि अल्पवक्तव्यत्वेन क्रममुल्लङ्घ्य पूर्वं प्रतिपादितानि । आयुषः संक्रमाभावात् न तद्विचारयेति ।

॥ दर्शनावरणमोहायुर्नामवर्जकर्मणां सत्स्थानादियन्त्रम् ॥

| | सत्स्थानम् | संक्रमस्थानम् | बन्धस्थानरूपेषु | प्रतिग्रहस्थानेषु |
|----------------------|--------------------|---------------------------------|------------------------------|------------------------------|
| ज्ञानावरणान्तराययोः | ५-प्रकृत्यात्मकं १ | ५-प्र. १ | ५-प्र. १ | ५-प्र. १ |
| वृषदिवक्षया | पृथ्वीकृत्यात्मकम् | पृथ्वीकृत्यात्मकम् | स्वभिन्नचतुष्टये | स्वभिन्नचतुष्टये |
| मतिज्ञानावरणस्य | " | " | " | " |
| क्षुतज्ञानावरणस्य | " | " | " | " |
| अवधिज्ञानावरणस्य | " | " | " | " |
| मनःपर्यवज्ञानावरणस्य | " | " | " | " |
| केवलज्ञानावरणस्य | " | " | " | " |
| बेदीयगोप्रयोः | १ | अवध्यमाना प्रकृतिः संक्रामति | अव्यतरस्यां बन्ध- मानायां | अव्यतरस्यां बन्ध- मानायां |

अथ दर्शनावरणमोहनीयान्नां क्रमेण प्रतिपाद्यन्ते-तत्र दर्शनावरणीयस्य नवकपट्ट-
चतुष्कलक्षणानि त्रीणि सत्स्थानानि । नवकपट्टलक्षणे द्वे संक्रमस्थाने । नवकपट्टचतुष्कल-
क्षणानि त्रीणि बन्धस्थानानि त्रीणि च प्रतिग्रहस्थानानि । तत्रोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहं
यावत्, क्षपकश्रेण्यां पुनः स्थानाद्विन्निकं यावत् न क्षीयते तावत् नवप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानं
भवति, क्षीणे तु पट्टप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानं भवति, निद्राद्विके क्षीणे क्षीणमोहचरमसमये
चतुष्प्रकृत्यात्मकं सत्स्थानं भवति । संक्रमस्थानं नवप्रकृत्यात्मकं पट्टप्रकृत्यात्मकं च ।
तत्र नवकमुपशमश्रेण्यां सूक्ष्मसम्परायं यावत् पट्टं क्षपकश्रेण्यां स्थानाद्विन्निकसत्स्थानान्तरं
संक्रामति । बन्धस्थानं नवप्रकृत्यात्मकं सासादनगुणस्थानकं यावत्, स्थानाद्विन्निकबन्ध-
व्यवच्छेदे सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारम्यापूर्वकरणसंख्येयतमं भागं यावत् पट्ट-
प्रकृत्यात्मकं तथा अपूर्वकरणस्य संख्येयतमे भागे निद्राद्विकबन्धव्यवच्छेदे तत ऊर्ध्वं
सूक्ष्मसम्परायं यावत् चतुष्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति । बन्धस्थानवत् प्रतिग्रहस्था-
नान्यपि भावनीयानि । नवकं सत्तास्थानं नवकपट्टचतुष्कप्रतिग्रहेऽपि संक्रामति । पट्टं
च चतुष्कप्रतिग्रहे संक्रामति ।

॥ दर्शनावरणीयस्य सत्स्थानादियन्त्रम् ॥

| | सत्स्थानानि १ | संक्रमस्थाने २ | बन्धस्थानरूपेषु ३ | प्रतिग्रहस्थानेषु ४ |
|----------------|---------------|----------------|-------------------|---------------------|
| दर्शनावरणीयस्य | १-१-४ | १-१ | १-१-४ | १-१-४ |

मोहनीयस्य पञ्चदश सत्स्थानानि तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः पट्विंशतिः चतुर्विंशतिश्चतस्रोविंशतिः द्वाविंशतिरेकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका चेति । तदुक्तं सप्ततिकायाम्—“अद्वयसत्तयल्लवतिगदुगएगाहिगा भवे वीसा । तेरस पारेकारस पत्तो पंचाइ इक्काणा” ॥ १ ॥ तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः, सम्यक्त्वमोहनीये उद्बलिते सप्तविंशतिः, मिश्रमोहनीये उद्बलिते पट्विंशतिः, यद्वाऽनादिमिथ्यादृष्टेः पट्विंशतिः, अष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिनामुद्बलिते सति चतुर्विंशतिः, मिथ्यात्वमोहनीये क्षीणे त्रयोविंशतिः, मिश्रमोहनीये क्षपिते द्वाविंशतिः, सम्यक्त्वे क्षपिते एकविंशतिः, अप्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानावरणकपायाष्टके क्षीणे त्रयोदश, नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश, स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश, हास्यादिपदके पञ्च, पुरुषवेदे क्षीणे सति चतस्रः, संज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रः संज्वलनमाने क्षपिते द्वे, मायायां क्षीणायां सत्यां संज्वलनलोभरूपैकैवेति ।

मोहनीयस्य पञ्चदश सत्स्थानानि

| | |
|----|---|
| १८ | सर्वप्रकृतिसमुदायः |
| १७ | सम्यक्त्वमतिरिक्ताः |
| १६ | सम्यक्त्वमिश्रमतिरिक्ताः |
| १५ | अनन्तानुबन्धिचतुष्कर्मण्यतिरिक्ताः |
| १४ | अनन्तानुबन्धिचतुष्कर्ममिथ्यात्वमतिरिक्ताः |
| १३ | अन० च० मि० मिश्रमतिरिक्ताः |
| १२ | अन० च० मिश्रमतिरिक्ताः |
| ११ | आद्यद्वादशकपायदर्शनमिथ्यात्वमतिरिक्ताः |
| १० | आद्यद्वादशकपायदर्शनमिथ्यात्वमपुंसकवेदमतिरिक्ताः |
| ९ | संज्वलनचतुष्कर्मक्षीनपुंसकवेदनोक्तपायाः |
| ८ | पुण्येदसंज्वलनचतुष्कर्मरूपाः |
| ७ | संज्वलनचतुष्कर्मरूपाः |
| ६ | संज्वलनमानमायालोभरूपाः |
| ५ | संज्वलनमायालोभरूपे |
| ४ | लोभरूपैकैव |

संक्रमस्थानानि त्रयोविंशतिः, तद्यथा—सप्तविंशतिः पट्विंशतिः पञ्चविंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिरेकविंशतिः विंशतिरेकोनविंशतिरष्टादश चतुर्दश त्रयोदश द्वादश एकादश दश नवाष्टौ सप्त पद पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका चेति । तदुक्तं कर्मप्रकृतौ—“अद्वयचरहियवीसं सत्तरसं सोलसं च पन्नरसं । वज्जि य संकमट्टाणां होमि तेवीसहं मोहे ॥१॥” इति । सम्यक्त्वमिश्रानन्तानुबन्धिनामुद्बलनतः, मिथ्यात्वमि-

श्रक्षपणतः, औपशमिकसम्यग्दृष्टेरावलिकाभ्यन्तरवर्तिनः श्रेण्योरन्तरकरणे कृते संज्वलनलोभासंक्रमतः, उपशान्तयोर्मिथ्यात्वमिश्रयोः संक्रमतः, उपशान्तसम्यक्त्वमोहनीयस्यान्यप्रकृतिरूपसंक्रमाभावेन तद्दर्जनं कृतं, सप्तानां नोक्तपायाणां क्षपणत इत्यादिकं परिभाव्य संक्रमस्थानानि परिभावनीयानि । तथाहि—अष्टाविंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेः मिथ्यात्वस्य सम्यक्त्वमिश्रयोः प्रतिग्रहत्वेन तदुच्यतिरिक्ताः शेषाः सप्तविंशतिः संक्रमे लभ्यन्ते चारित्रमोहनीयं परस्परं संक्रामति, सम्यक्त्वमिश्ररूपं प्रकृतिद्वयं मिथ्यात्वमोहनीये पत्यो-

पमासंख्येयभागं कालं यावत् संक्रामति । यद्वापशमिकसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मण आवलिकाया ऊर्ध्वं सम्यक्त्वमोहनीयस्य मिथ्यात्वमिश्रयोः प्रतिग्रहत्वेन तद्व्यतिरिक्ताः शेषाः सप्तविंशतिः संक्रामन्ति, तथाहि-पञ्चविंशतिः प्रकृतयोः बध्यमाने चारित्रमोहनीये संक्रामन्ति, मिथ्यात्वं मिश्रे सम्यक्त्वे च मिश्रं सम्यक्त्वे उपशान्ताद्धां यावत् संक्रामन्ति, परतो वेदकसम्यग्दृष्टित्वादिभयनात् । वेदकसम्यग्दृष्टेरुत्कर्षतः साधिकपट्टपट्टिसागरोपमं यावत् तयोः संक्रमो भवति । सम्यक्त्वमोहनीये बद्धलिते सति सप्तविंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेमिश्रमोहनीयस्य मिथ्यात्वं प्रतिग्रहत्वे कृतमिति तदपनीय शेषाः षड्विंशतिः प्रकृतयोः पल्योपमासंख्येयभागं यावत् संक्रामन्ति । तत्र चारित्रमोहनीयं बध्यमाने चारित्रमोहनीये, मिश्रं च मिथ्यात्वे संक्रामति । यद्वापशमिकसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मण आवलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य मिश्रं सम्यक्त्वमोहनीये न संक्रामति, यतो मिथ्यात्वपुद्गलाः सम्यक्त्वानुगतविशोधिना (सम्यक्त्वानुकूलविशोधिना वा सम्यक्त्वप्राप्त्युपान्तसमय इति कर्मप्रकृतिकाराभिप्रायेण) मिश्ररूपपरिणामान्तरापादिताः, परिणामान्तरापादनं च संक्रमः, संक्रमावलिकागतं सकलकरणायोग्यमिति कृत्वा सम्यक्त्वप्राप्तेरारम्भावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानो मिथ्यात्वमेव केवलं सम्यक्त्वे संक्रामत्यतस्तद्वर्जाः षड्विंशतिरावलिकामात्रं यावत् संक्रामति । मिश्रमोहनीये बद्धलिते सति षड्विंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेः पञ्चविंशतिः प्रकृतयोः बध्यमाने चारित्रमोहनीये उत्कर्षतो देशोर्नाधपुद्गलपरावर्तं यावत् संक्रामन्ति । यद्वाऽनादिमिथ्यादृष्टेः षड्विंशतिसत्ताकस्य चारित्रमोहसत्काः पञ्चविंशतिः प्रकृतयोः बध्यमाने चारित्रमोहनीयेऽनन्तं कालं यावत् संक्रामन्ति । चतुर्विंशतिसंक्रमस्थानं नास्त्येष, यतो विसंयोजितानन्तानुबन्धिनश्चतुर्विंशतिसत्ताकस्य सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वमोहनीयस्य प्रतिग्रहत्वेन तद्वर्जशेषत्रयोविंशतिप्रकृतीनां संक्रमो भवति, साधिकपट्टपट्टिसागरोपमं यावत् । ननु चतुर्विंशतिसत्त्वस्थानं साधिकद्विपट्टपट्टिसागरोपमं यावन्न भवति, तत्तत्त्रयोविंशतिसंक्रमस्थानमपि कथमेतावन्तं कालं न संक्रामतीति चेत् ? सत्यं, परं मिश्रगमनेनैतावान् कालः पूर्यते, तत्र च चतुर्विंशतिसत्ताकस्यैकविंशतेरेव संक्रमो भवति, दर्शनमोहनीयसंक्रमाभावादिति । चतुर्विंशतिसत्कर्मा सम्यग्दृष्टिमिथ्यात्वं गतः सन् यद्यपि अनन्तानुबन्धिनो भूयोऽपि वध्नाति तथापि तान् सतोऽपि न संक्रमयति, बन्धावलिकागतं सकलकरणायोग्यमिति कृत्वा, मिथ्यात्वं च सम्यक्त्वमिश्रयोः प्रतिग्रह इति तस्मिन्नपसारिते शेषाः त्रयोविंशतिरावलिकामात्रं यावत् संक्रामति । चतुर्विंशतिसत्ताकस्य सम्यग्दृष्टेमिथ्यात्वे क्षीणे मिश्रस्य सम्यक्त्वं प्रतिग्रह इति तस्मिन्नपसारिते शेषा द्वाविंशतिप्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । यद्वाष्टाविंशतिसत्ताकस्य चतुर्विंशतिसत्ताकस्य वौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यामन्तरकरणे कृते संज्वलनलोभस्य संक्रमाभावेनानन्तानुबन्धिनामुपशान्तत्वेन विसंयोजितत्वेन वा सम्यक्त्वस्य प्रतिग्रहत्वेन शेषा द्वाविंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । अन्तरकरणे च कृते नपुंसकवेदे उपशान्ते चतुर्विंशतिसत्ताकस्याष्टाविंशतिसत्ता-

कस्य यान्तर्मुहूर्तं यावदेकविंशतिः प्रकृतयः संक्रमयन्ति । यद्वा घेदकसम्यग्दृष्टेः द्वाविंशतिसत्ताकस्य सम्यक्त्वस्य प्रतिग्रहाभावेन संक्रमाभावात् शेषा एकविंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत्संक्रामन्ति । यद्वोपशमश्रेण्यामेकविंशतिसत्ताकस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरन्तरकरणादर्वागन्तर्मुहूर्तं यावदेकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति, यद्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टेरेकविंशतिसत्ताकस्य मध्यमकपायाष्टकक्षयादर्वागेकविंशतिः प्रकृतयः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमं यावत् संक्रामन्ति । अष्टाविंशतिसत्ताकस्य चतुर्विंशतिसत्ताकस्य औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्योपशान्ते नपुंसकवेदे स्त्रीवेदे चानन्तानुबन्धिचतुष्टयसंज्वलनलोभपुंवदवर्जवेदद्विकसम्यक्त्वमोहनीयवर्जाः शेषा विंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । ननूपशमश्रेण्यामौपशमिकसम्यग्दृष्टेः सप्तप्रतिग्रहे विंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत्संक्रामन्तीति सत्यैव पट्कप्रतिग्रहे विंशतिः प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रमयन्तीति च घक्ष्यमाणत्वेनोभयमीलने विंशतेः प्रकृतीनां संक्रमकालः समयोनावलिकाद्विकाभ्यधिकान्तर्मुहूर्तं प्राप्नोतीति चेत् । सत्यम्, समयोनावलिकाद्विकस्यान्तर्मुहूर्तान्तर्भूतत्वेन न दोषः । एवमेवाग्रेऽपि बाध्यम् । नन्वेतत्कालमानं कर्मप्रकृतिवृत्तिद्वये पञ्चसंग्रहवृहद्वृत्तौ चानुक्त्येन कुतोऽयसितम् । इति चेत् पञ्चसंग्रहमूलवृत्तेः । तदुक्तं “तत्स्त्रीवेदे उपशान्ते विंशतिः तत्रैव सप्तकेऽन्तर्मुहूर्तं संक्रमति । ततः पुरुषवेदस्य समयोनावलिकशेषायां प्रथमस्त्रिंशौ प्रतिग्रहात्पगच्छति, सा एव विंशतिः संज्वलनद्विद्विकात्मके पट्कप्रतिग्रहे समयोनावलिकाकालं संक्रमति” इति । यद्वैकविंशतिसत्ताकस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्यान्तरकरणे च कृते संज्वलनलोभस्य संक्रमाभावेन चारित्रमोहनीयस्य विंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । एकविंशतिसत्ताकस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य नपुंसकवेदे उपशान्ते एकोनविंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरेव स्त्रीवेदे औपशान्ते शेषा अष्टादश प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य हास्यादिपट्के औपशान्तेऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयसंज्वलनलोभनपुंसकवेदस्त्रीवेदहास्यादिपट्कसम्यक्त्वमोहनीयप्रकृतीरन्तरेण शेषाश्चतुर्दश प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावत्संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य पुंवदे उपशान्ते शेषाः त्रयोदशप्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत्संक्रामन्ति । यद्वा कपायाष्टकक्षयानन्तरं त्रयोदशसत्ताकस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकश्रेण्यामन्तरकरणादर्वाक् त्रयोदश प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । कृते चान्तरकरणे संज्वलनलोभस्य संक्रमाभावेन शेषा द्वादश प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत्संक्रामन्ति । यद्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य हास्यादिपट्के उपशान्ते शेषा द्वादश प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रामन्ति । ततः पुंवदे उपशान्ते शेषा एकादश प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । यद्वा नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादशसत्ताकस्य क्षपकस्य शेषा एकादश प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । यद्वौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्त-

मानस्य प्रागुक्ताभ्यस्त्रयोदशभ्यो मध्यमेऽप्रत्याख्यानानावरणप्रत्याख्यानानावरणलक्षणे क्रोध-
द्विके उपशान्ते शेषा एकादश प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रामन्ति । क्षप-
कश्रेण्यामेकादशसत्ताकस्य स्त्रीवेदे क्षपिते हास्यादिपटूकपुंवेदसंज्वलनक्रोधमानमायारूपा
दश प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । यद्वौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमा-
नस्य संज्वलनक्रोधे उपशान्तेऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणमानमायालोभसंज्वलनमानमा-
यामिथ्यात्वमिश्ररूपा दश प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपश-
मश्रेण्यां वर्तमानस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणक्रोधद्विके उपशान्तेऽप्रत्याख्यानप्रत्या-
ख्यानानावरणमानमायालोभसंज्वलनक्रोधमानमायारूपाः नव प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं
यावत् संक्रामन्ति । तस्यैव संज्वलनक्रोधे उपशान्ते अष्टौ प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत्
संक्रामन्ति । यद्वौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरण-
मानद्विके उपशान्तेऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणमायालोभसंज्वलनमानमायामिथ्यात्वमि-
श्ररूपा अष्टौ प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रामन्ति । तस्यैव संज्वलनमाने
उपशान्ते शेषाः सप्त प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां
वर्तमानस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणमानद्विके उपशान्तेऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरण-
मायालोभसंज्वलनमानमायारूपाः षट्प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रामन्ति ।
तस्यैव संज्वलनमाने उपशान्ते शेषाः पञ्च प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । यद्वौपश-
मिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणरूपे मायाद्विके उप-
शान्तेऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणलोभसंज्वलनमायामिथ्यात्वमिश्ररूपाः पञ्च प्रकृतयः
समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रामन्ति । तस्यैव संज्वलनमायायामुपशान्तायां मध्यम-
लोभद्वयमिथ्यात्वमिश्ररूपाश्चतस्रः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । यद्वा हास्या-
दिपटूक्षीणे पञ्चसत्ताकस्य क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य पुंवेदसंज्वलनक्रोधमानमायारूपाश्च-
तस्रः प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रामन्ति । नन्वेतत् कालमानं कुवोऽवसि-
तमिति चेत् ? पञ्चसङ्ग्रहमूलवृत्तितः, तदुक्तम्—“ततो हास्यादिपटूक्षपिते चत्वारि
(चतस्रः समयोन) द्वावलिकाकालं तस्मिन्नेव चतुष्प्रतिग्रहे संक्रामन्ति” इति । पुंवेदे क्षपिते च-
तुःसत्ताकस्य क्षपकस्य संज्वलनक्रोधमानमायारूपं प्रकृतित्रिकमन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् संक्रा-
मति । यद्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्याऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणमा-
याद्विके उपशान्तेऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणलोभद्विकसंज्वलनमायारूपं प्रकृतित्रिकं
समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रामति । अस्यैव संज्वलनमायायामुपशान्तायामप्रत्या-
ख्यानप्रत्याख्यानानावरणलोभद्विकमन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् संक्रामति । यद्वौपशमिकस-
म्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणलोभद्विके उपशान्ते मिथ्या-
त्वमिश्ररूपं प्रकृतिद्वयमन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामति । यद्वा संज्वलनक्रोधे क्षपिते त्रिक-
सत्ताकस्य क्षपकस्य संज्वलनमानमायारूपं प्रकृतिद्वयमन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामति । संज्वलन-

माने क्षपिते द्विकसत्ताकस्य क्षपकस्यैव संज्वलनमायारूपान्तर्मुहूर्तं यावत्कालं संक्रा-
मतीति मोहनीयस्य संक्रमस्थानविधिरूपा ।

॥ मोहनीयस्य सत्स्थानादियन्त्रम् ॥

| सत्स्थानानि | प्रकृतय | संक्रमस्थानानि | प्रकृतय | कालमानम् | गुणस्थानाकादि विवक्षया स्वामि- त्वम् |
|-------------|--|----------------|--|--|---|
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदाय | २७ | मिथ्यात्वव्यतिरिक्ता | पक्षोपमासख्येय भाग यावत् | मिथ्यादृष्टिः |
| २८ | " | २७ | सम्यक्त्वव्यतिरिक्ता | भावलिकावर्जोपशम सम्यक्त्वकालं यावत् | उपशमसम्यग्दृष्टिः |
| २८ | " | २७ | " | साधिकपदपट्टिसारा शेषम् यावत् | वेदकसम्यग्दृष्टिः |
| २७ | सम्यक्त्वव्यतिरिक्ता | २६ | मिथ्यात्वसम्यक्त्व व्यतिरिक्ता | पक्षोपमासख्येय भाग यावत् | मिथ्यादृष्टिः |
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदाय | २६ | मिथ्यात्वव्यतिरिक्ता | भावलिकामात्रं यावत् | औपशमिकसम्यग्दृष्टिः |
| २६ | सम्यक्त्वमिश्रव्यतिरिक्ता | २५ | वर्जनमोहव्यतिरिक्ता | अर्द्धपुद्गलपरावर्तं या- वत्सम्यक्त्वमात्रं यावत् | उद्बुलितमिश्रमोहनी- ययोर्मिथ्यादृष्टिर- भवाच्च |
| २७ | अनन्तानुबन्धिव्य- तिरिक्ता | २३ | अनन्तानुबन्धिसम्य- क्त्वव्यतिरिक्ता | साधिकपदपट्टिसारा शेषम् यावत् | विसर्गोक्तिमानन्तानु- बन्धिसम्यग्दृष्टिः |
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदाय | २३ | अनन्तानुबन्धिमि- थ्यात्वव्यतिरिक्ता | भावलिकामात्रं यावत् | विसर्गोक्तिमानन्तानु- बन्धिसम्यग्दृष्टि- मिथ्यात्व गत |
| २३ | अनन्तानुबन्धिमि- थ्यात्वव्यतिरिक्ता | २२ | अनन्तानुबन्धिमि- थ्यात्वसम्यक्त्वव्य- तिरिक्ता | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | सम्यग्दृष्टिः |
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदाय | २२ | अनन्तानुबन्धिसम्य- क्त्वव्यतिरिक्ता | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | उपशमशेषानन्तरक- रणे कृते सति न- वमगुणस्थानवर्ति |
| २४ | अनन्तानुबन्धिव्य- तिरिक्ता | २२ | " | " | " |

| | | | | | |
|----|--|----|--|--------------------------------------|---|
| २८ | सर्वमकृतिसमुदायः | २१ | अन० सम्यक्त्वसंज्ञ- लनलोभनपुंसक- वेदव्यतिरिक्ताः | " | मनुष्यवदे उरगा- न्तेऽनिवृत्तिबाधः |
| २९ | अनन्तानुबन्धिव्य- तिरिक्ताः | २१ | " | " | " |
| ३० | अनन्तानुबन्धिव्य- त्यावमिश्रव्यति- रिक्ताः | २१ | अन० दर्शनत्रिकस्य- तिरिक्ताः | " | वेदकाम्यादृष्टिः |
| ३१ | अनन्तानुबन्धिव्य- मत्रिकस्यतिरिक्ताः | २१ | " | " | उपशमभेद्यमान्तर- काम्यादृष्ट्या- मिकसंशयदृष्टिः |
| ३१ | " | २१ | " | साधिकप्रपञ्चितास्ता- सरोपमं यावत् | सादिकसम्यग्दृष्टिः काम्यादृष्ट्या दृष्टां |
| ३८ | सर्वमकृतिसमुदायः | २० | अन० धीनपुंसकसं- जलनलोभसंशय- व्यवर्जाः सौपाः | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | उपशमभेद्यमान्तर- शान्तिरूपदृष्टिः |
| ३९ | अनन्तानुबन्धिव्य- तिरिक्ताः | २० | " | " | " |
| ३१ | अनन्तानुबन्धिव्य- मत्रिकस्यतिरिक्ताः | २० | अन० संज्ञलनलोभ- दर्शनत्रिकस्यतिरि- क्ताः | " | उपशमभेद्यमान्तर- काम्यादृष्ट्या करणे हने सति |
| ३१ | " | ३९ | अन० दर्शनत्रिकसं- जलनलोभनपुंस- कवेदव्यतिरिक्ताः | " | " |
| ३१ | " | ३८ | अन० दर्शनत्रिकसं- जलनलोभनपुंस- कधीवेदवर्जाः | " | " |
| ३८ | सर्वमकृतिसमुदायः | ३९ | अन० सम्यक्त्वसंज्ञ- लनलोभधीनपुंसक- वेदहास्यपद्वर्जाः | समयानावष्टिकादिक- यावत् | उपशमभेद्यमान्तर- भयदृष्टिः |
| ३९ | अनन्तानुबन्धिव्य- तिरिक्ताः | ३९ | " | " | " |

| | | | | | |
|----|--|----|--|----------------------------|---|
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदायः | १३ | पूर्वोक्ताः पुंवेदव्य- जोः शेषाः | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | " |
| २९ | आद्यकप्रत्यविहीनाः | १३ | " | " | " |
| ११ | संज्वलनचतुष्कनव- नोकपायाः | १३ | संज्वलनचतुष्कनव- नोकपायाः | " | क्षपकश्रेण्यामन्तरक- रणात्पूर्वं मध्यम- कपायाष्टकक्षया- दनन्तरम् |
| १३ | " | १२ | संज्वलनलोमहीनाः पूर्वोक्ताः | " | क्ष० श्रे० अन्तरकर- णादनन्तरम् |
| २१ | अन० दशान्त्रिकव- जोः शेषाः | १२ | पुंवेदमध्यमकपाया- ष्टकलोभवर्जसंज्व- लनचतुष्कनव- नोकपायाः | समयोनावलिकाद्विकं यावत् | उ. श्रे. क्षा. स. इष्टेः हास्यादिपङ्के उप- शान्ते |
| २१ | " | ११ | पुंवेदवजोः पूर्वोक्ताः | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | उ. श्रे. क्षा. पुंवेदे उपशान्ते सति |
| १२ | संज्वलनचतुष्कनपु- स्तकवर्जनोकपायाः | ११ | संज्वलनकोपमान- मायानुपुस्तकवर्ज- नोकपायाः | " | नपुंसकपेदे क्षीणे क्ष- पकश्रेण्याम् |
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदायः | ११ | मध्यममानमायालो- मसंज्वलनकोध- मानमायामिध्या- त्वमिश्ररूपाः | समयोनावलिकाद्विकं यावत् | उपशमश्रेण्यामौप- शामिकसमग्रदृष्टि मध्यमकोधद्विके उपशान्ते |
| २४ | अनन्तानुबन्धिबन्ध- तिरिक्ताः | ११ | " | " | " |
| ११ | हास्यादिपङ्कपुंवेदसं- ज्वलनचतुष्कनरूपाः | १० | हास्यादिपङ्कपुंवेदलो- मवर्जसंज्वलनच- तुष्कनरूपाः | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | क्षपकश्रेण्यामनिवृ- त्तिबाधः |
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदायः | १० | मध्यममानमायालो- मसंज्वलनमान- मायामिध्यात्वमि- श्ररूपाः | " | उपशमश्रेण्यामुपश- मसमग्रदृष्टिः |
| २४ | अनन्तानुबन्धिबन्ध- तिरिक्ताः | १० | " | " | " |

| | | | | | |
|----|--------------------------------|---|--|----------------------------|---------------------------------|
| २१ | अन० दर्शनत्रिक- निरिक्ताः | ९ | मध्यममानमाया- लोभमंज्वलनको- चमानमायाकथाः | ममपोनावटिकाद्विक् यावत् | उपदामधेनौ क्षायि- कसम्परादिः |
| २१ | " | ८ | मंज्वलनकोचव्यति- रिक्ताः पूर्वोक्ताः | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | " |
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदायः | ८ | मध्यममायालोभ- मंज्वलनमानमा- यामिध्याव- मिश्ररूपाः | समपोनावटिकाद्विक् यावत् | उपदामधेनायुषदा- मसम्परादिः |
| २३ | अन० व्यनिरिक्ताः | ८ | " | " | " |
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदायः | ७ | मध्यममायालोभसं- ज्वलनमायामि- ध्यावमिश्ररूपाः | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | " |
| २३ | अन० व्यनिरिक्ताः | ७ | " | " | " |
| २१ | अन० दर्शनत्रिक- र्जाः | ६ | मध्यममायालोभसं- ज्वलनमानमाया- रूपाः | ममपोनावटिकाद्विक् यावत् | उपदामधेनौ क्षायि- कसम्परादिः |
| २१ | " | ५ | मंज्वलनमानवनेपू- र्वोक्ताः | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | " |
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदायः | ५ | मध्यमलोभत्रिकमं- ज्वलनमायामि- ध्यावमिश्ररूपाः | ममपोनावटिकाद्विक् यावत् | उपदामधेनायुषदा- मसम्परादिः |
| २३ | अनग्रा० व्यनिरिक्ताः | ५ | " | " | " |
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदायः | ४ | मध्यमलोभत्रिकमि- ध्यावमिश्ररूपाः | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | " |
| २३ | अनग्रायुषव्यव्य- निरिक्ताः | ३ | " | " | " |
| ५ | पूर्वदर्शज्वलनचमु- क्तरूपाः | ३ | पूर्वदर्शज्वलनकोच- मानमायाकथाः | ममपोनावटिकाद्विक् यावत् | उपदामधेनायुषदा- मसम्परादिः |

| | | | | | |
|----|------------------------------|---|---------------------------------|----------------------------|-------------------------------------|
| ४ | संज्वलनचतुष्परूपा | ३ | संज्वलनत्रोधमान- मायारूपाः | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | ” |
| २१ | अन० दर्शनप्रिकल्प- तरिताः | ३ | मध्यमलोभद्विक- न्दलनमायारूपा | समयोनावटिकाद्विकं यावत् | उपशमधेनौ क्षायि प सन्ध्यादृष्टिः |
| २१ | ” | २ | मध्यमलोभद्विकं | अन्तर्मुहूर्तं यावत् | ” |
| २८ | सर्वप्रकृतिसमुदायः | २ | मिथ्यात्वमिधूरूपम् | ” | उपशमधेनामुपशम- सन्ध्यादृष्टिः |
| २४ | अन० वजाः | २ | ” | ” | ” |
| ३ | संज्वलनमानमाया लोभरूपम् | २ | संज्वलनमायालोभ रूपा | ” | क्षयधेनापनिवृत्ति- मादराः |
| २ | संज्वलनमानमाया रूपम् | १ | संज्वलनमायारूपा | ” | ” |

अथ मोहबन्धस्थानानि प्रोच्यन्ते । मोहनीयस्य बन्धस्थानानि दश भवन्ति, तद्यथा—
 द्वाविंशतिप्रकृत्यात्मकं, एकविंशतिप्रकृत्यात्मकं, सप्तदशप्रकृत्यात्मकं, त्रयोदशप्रकृत्यात्मकं,
 नवप्रकृत्यात्मकं, पञ्चप्रकृत्यात्मकं, चतुष्प्रकृत्यात्मकं, प्रकृतित्रिकलक्षणं, द्विप्रकृत्यात्मकं,
 एकप्रकृत्यात्मकमिति । तदुक्तं “बावीस एष्वीसा सत्तरस तेरसेष नव पंच । चउ तिगदुगं च
 एगं बन्धहाणाणि मोहस्स ॥१॥” इति । तत्र षोडशकपायभयजुगुप्तामिथ्यात्वान्यतमवेदहा-
 स्यरतियुगलारतिशोकयुगलान्यतरयुगलरूपं द्वाविंशतिप्रकृत्यात्मकं भवति । तदेव मिथ्या-
 त्ववर्जमेकविंशतिप्रकृत्यात्मकं भवति, केवलं स्त्रीपुंवेदयोरन्यतरो वेद इति । तदेव अन-
 न्तानुबन्धिकपायचतुष्टयविरहितं सप्तदशप्रकृत्यात्मकं भवति, इतः प्रारभ्य सर्वत्र पुंवेद
 एवैकः । अप्रत्याख्यानावरणकपायचतुष्टयमन्तरेण तदेव त्रयोदशप्रकृत्यात्मकं भवति ।
 तन्मध्यात् प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयबन्धव्यवच्छेदे नवप्रकृत्यात्मकं भवति । ततो हास्या-
 दिबन्धव्यवच्छेदे पुंवेदसंज्वलनचतुष्टयरूपं पञ्चप्रकृत्यात्मकं भवति । ततः पुरुषवेदस्य बन्ध-
 व्यवच्छेदे पुंवर्जं चतुष्प्रकृत्यात्मकं भवति । संज्वलनक्रोधबन्धव्यवच्छेदे सति त्रिप्रकृत्यात्मकं
 भवति । मानबन्धव्यवच्छेदे सति द्विप्रकृत्यात्मकं भवति । मायाबन्धव्यवच्छेदे सति
 एकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवतीति ।

॥ मोहनीयस्य बन्धस्थानयन्त्रम् ॥

| | |
|----|--|
| २२ | कपायभयजुगुप्सान्यतरमवेदान्यतरयुगलमिध्यात्वरूपाः । |
| २१ | षोडश कपायाः भयजुगुप्से स्त्रीपुंवेदयोस्त्यतरवेदोऽन्यतरयुगलमिति । |
| १७ | प्रथमचतुष्कवर्जद्वादशकपायाः १२ भयजुगुप्सेऽन्यतरयुगल पुंवेदश्चेति । |
| १३ | अनन्तानुबन्धप्रसारयानकपायवर्जाः पूर्वोक्ता एकविंशतिः । |
| ९ | संज्वलनचतुष्कपुंवेदभयजुगुप्सान्यतरयुगलमिति । |
| ५ | पुंवेदः संज्वलनचतुष्करूपाः । |
| ४ | संज्वलनचतुष्कम् । |
| ३ | क्रोधवर्जत्रिकम् । |
| २ | क्रोधमानवर्जद्विकम् । |
| १ | लोमस्तम् । |

मोहनीयस्य प्रतिग्रहस्थानान्यष्टादश भवन्ति तद्यथा—द्वाविंशतिप्रकृत्यात्मकमेकविंश-
तिप्रकृत्यात्मकमेकोनविंशतिप्रकृत्यात्मकमष्टादशप्रकृत्यात्मकं सप्तदशप्रकृत्यात्मकं पञ्चदश-
प्रकृत्यात्मकं चतुर्दशप्रकृत्यात्मकं त्रयोदशप्रकृत्यात्मकमेकादशप्रकृत्यात्मकं दशप्रकृत्यात्मकं
नवप्रकृत्यात्मकं सप्तप्रकृत्यात्मकं पट्प्रकृत्यात्मकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं चतुष्प्रकृत्यात्मकं त्रिप्रकृ-
त्यात्मकं द्विप्रकृत्यात्मकं एकप्रकृत्यात्मकमिति । प्रतिग्रहस्थानान्यपि बन्धस्थानवत् भाव-
नीयानि । नवरमौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यन्तर्वर्तिनो बहिर्वर्तिनो वा वेदकसम्यग्दृष्टेश्च
मिश्रसम्यक्त्वयुताः, वेदकसम्यग्दृष्टेर्मिथ्यात्वे क्षीणे वा सम्यक्त्वयुताः प्रतिग्रहा भवन्ति ।
तदुक्तम्—“एवमस्य सवन्धविय उवसमसेटीए सम्ममीसजुया । मिच्छएवगे सम्मा अट्टारस इय
पडिगगह्या ॥ १ ॥” व्याख्या—अपकस्य क्षीणसप्तस्य चारित्रमोहनीयक्षपकस्य च स्वयन्वा एर-
आत्मीया एव धन्वाः पतद्ग्रहा भवन्ति । तत्र क्षीणसप्तकानामविरतदेशविरतसंयतानां यथानुक्रमं सप्त-
दशत्रयोदशनगरायाः, चारित्रमोहनीयक्षपकस्य ॥ पञ्चचतुस्त्रिव्येकरूपाः । तयोपशमश्रेण्यामौपशमिकस-
म्यग्दृष्टीनां अपकसत्का एव पञ्चादयः पतद्ग्रहाः सम्यक्त्वमिश्रयुता वेदितव्याः, तथा च सति तेष-
सप्तपट्पञ्चचतुस्त्रिरूपाः पतद्ग्रहा भवन्ति । तथा मिथ्यात्वक्षपके क्षीणे मिथ्यात्वेऽविरतदेशविरतसंयां
सरूपे ये प्राक् क्षीणसप्तकस्योक्ताः सप्तदशत्रयोदशनवकरूपाः पतद्ग्रहा ते यावज्जाद्यापि मन्थमिध्यात्वं
क्षयमुपयाति, तान्मत्सम्यक्त्वाः सम्यक्त्वसहिता द्रष्टव्याः । तथा च सति ते यथानुक्रममष्टादशचतुर्दश-
दशरूपा भवन्ति । यावद्य मिथ्यात्वमपि न क्षीयते तावत्सम्यक्त्वसम्यग्मिध्यात्वसहिता इति यथानुक्रममे-
कोनविंशतिपञ्चद्वीकादशरूपा वेदितव्याः, द्वाविंशत्येकविंशतिरूपौ च मिथ्यादृष्टिसास्वादनेषु सुप्रती-
तावित्येवंप्रकारेणाष्टादशैव पतद्ग्रहा भवन्ति, नाधिकाः ॥ १ ॥” इति ।

॥ मोहनीयस्य प्रतिग्रहस्थानयन्त्रम् ॥

| | |
|----|--|
| २२ | बन्धस्थानयन्त्रम् । |
| २१ | बन्धस्थानयन्त्रम् । |
| १९ | सप्तदशबन्धस्थानं मिश्रसम्यक्त्वयुतम् । |

| | |
|----|---|
| १८ | सप्तदशबन्धस्थानं सम्यक्त्वयुतम् । |
| १७ | बन्धस्थानतुल्यम् । |
| १५ | त्रयोदशबन्धस्थानं मिश्रसम्यक्त्वयुतम् । |
| १४ | त्रयोदशबन्धस्थानं सम्यक्त्वयुतम् । |
| १३ | बन्धस्थानतुल्यम् । |
| ११ | नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं मिश्रसम्यक्त्वयुतम् । |
| १० | नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं सम्यक्त्वयुतम् । |
| ९ | बन्धस्थानतुल्यम् । |
| ७ | संज्वलनचतुष्कपुर्वेदमिश्रसम्यक्त्वरूपाः । |
| ६ | संज्वलनचतुष्कमिश्रसम्यक्त्वरूपाः । |
| ५ | संज्वलनमानमायालोममिश्रसम्यक्त्वरूपाः, यद्वा संज्वलनचतुष्कपुर्वेदरूपाः । |
| ४ | संज्वलनमायालोममिश्रसम्यक्त्वरूपाः, यद्वा संज्वलनचतुष्कम् । |
| ३ | लोममिश्रसम्यक्त्वरूपाः, यद्वा क्रीडवर्जसंज्वलनत्रिकम् । |
| २ | मिश्रसम्यक्त्वरूपम्, यद्वा मायालोमरूपम् । |
| १ | लोमरूपाः । |

अथ कस्मिन्प्रतिग्रहे के संक्रमाः संक्रामन्तीति संवेध उच्यते—तत्र द्वाविंशतिप्रतिग्रहे सप्तविंशतिपङ्क्तिशतत्रयोविंशतिसंक्रमाः संक्रामन्ति । तत्राष्टाविंशतिसत्ताकस्य मित्यार्षं प्रतिग्रहत्वेन कृतं परिहृत्य शेषाः सप्तविंशतिप्रकृतयोः द्वाविंशतिप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । सम्यक्त्वे उद्बलिते तस्मिन्नेव प्रतिग्रहे पङ्क्तिशतप्रकृतयः संक्रामन्ति । विसंयोजितानन्तानुबन्धिनः पुनः मिथ्यात्वं प्राप्तस्य तस्मिन्नेव प्रतिग्रहे आवलिकामात्रं यावत् त्रयोविंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । पङ्क्तिशतिसत्ताकस्याष्टाविंशतिसत्ताकस्य वा एकविंशतिप्रतिग्रहे पञ्चविंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । एकोनविंशतिप्रतिग्रहे सप्तविंशतिपङ्क्तिशतत्रयोविंशतिसंक्रमाः संक्रामन्ति । तत्र सम्यक्त्वं प्रतिग्रहत्वे कृतमपनीय शेषाः सप्तविंशतिप्रकृतयोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानारणसंज्वलनकपायभयजुगुप्साहास्यरतियुगलारतिशोकयुगलान्यतरयुगलपुर्वेदसम्यक्त्वमिश्ररूपेणैकोनविंशतिप्रतिग्रहप्रकृतिषु संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरायलिकाया अभ्यन्तरे सम्यक्त्वमिश्रवर्जाः शेषाः पङ्क्तिशतप्रकृतयस्तस्मिन्नेव प्रतिग्रहे संक्रामन्ति । विसंयोजितानन्तानुबन्धिनः त्रयोविंशतिप्रकृतयः तस्मिन्नेवैकोनविंशतिप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । अष्टादशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे वेदकसम्यग्दृष्टेः मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । सप्तदशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे पञ्चविंशत्येकविंशतिरूपे द्वे संक्रमस्थाने भवतः । पञ्चविंशतिः मिश्रदृष्टेः संक्रामति । एकविंशतिप्रकृतयो विसंयोजितानन्तानुबन्धिनः मिश्रं प्राप्तस्य संक्रामन्ति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा सप्तदशप्रतिग्रहे एकविंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । यद्वा मिश्रमोहनीये क्षपिते तस्मिन्नेव प्रतिग्रहे एकविंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । पञ्चदशके प्रतिग्रहे सप्तविंशतिपङ्क्तिशतत्रयोविंशतिसंक्रमाः संक्रामन्ति । तत्र देशविरतस्य वेदकसम्यग्दृष्टेः उपशमसम्यग्दृष्टेरावलिकायाः उपरि वर्तमानस्य वा सम्यक्त्ववर्जसप्तविंशतिप्रकृतयः

प्रत्याख्यानसंज्वलनकपायभयजुगुप्साहास्यरतियुगलारतिशोकयुगलान्यतरयुगलपुंवेदसम्य-
 कत्वमिश्ररूपासु पञ्चदशसु संक्रामन्ति । तस्यैवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरालिकाया अभ्यन्तरे
 वर्तमानस्य तस्मिन्नेव प्रतिग्रहे पद्विंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । विसंयोजितानन्तानुबन्धिनो
 देशविरतस्य त्रयोविंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । मिथ्यात्वे क्षपिते चतुर्दशप्रकृत्यात्मके प्रति-
 ग्रहे द्वाविंशतिः संक्रामति । मिश्रे च क्षपिते क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा देशविरतस्यैकविंशतिप्रकृ-
 तयः त्रयोदशप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । एकादशप्रतिग्रहेऽपि प्रागिव सप्तविंशतिपद्विंशतित्रयो-
 विंशतिरूपास्त्रयः संक्रमाः संक्रामन्ति । दशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविं-
 शतिः, मिश्रे च क्षपिते क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा नवप्रकृत्यात्मके एकविंशतिप्रकृतयः
 संक्रामन्ति । संज्वलनचतुष्टयपुंवेदमिश्रसम्यक्त्वरूपे सप्तप्रकृत्यात्मकप्रतिग्रहे त्रयोविंशति-
 द्वाविंशत्येकविंशतिविंशतिरूपाश्चत्वारः संक्रमाः संक्रामन्ति । तत्र विसंयोजितानन्तानुबन्धिन
 उपशान्तानन्तानुबन्धिनो वा सम्यक्त्वं प्रतिग्रहत्वे कृतमपनीय शेषास्त्रयोविंशतिस्तस्मिन् स-
 त्तके संक्रामति । अन्तरकरणे च कृते संज्वलनलोभस्य संक्रमाभावेन शेषा द्वाविंशतिः संक्रा-
 मति । नपुंसकवेदे उपशान्ते सप्तकप्रतिग्रहे एकविंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । स्त्रीवेदे चोप-
 शान्ते तस्मिन्नेव प्रतिग्रहे विंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । विंशतिचतुर्दशत्रयोदशरूपास्त्रयः
 संक्रमाः संज्वलनचतुष्टयमिश्रसम्यक्त्वरूपे पट्कप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । सप्तकप्रतिग्रहे या
 विंशतिः संक्रान्ता सा एव पुंवेदस्य प्रतिग्रहत्वात्पञ्चिन्ने सति पट्कप्रतिग्रहे संक्रामति ।
 हास्यादिपट्के उपशान्ते तस्मिन्नेव पट्कप्रतिग्रहे चतुर्दश, पुंवेदे उपशान्ते तस्मिन्नेव त्रयो-
 दश प्रकृतयः संक्रामन्ति । एकविंशतिविंशत्येकोनविंशत्यष्टादशत्रयोदशाद्वादशैकादशदश-
 रूपा अष्टौ संक्रमाः पञ्चकप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । तत्रैकविंशतिप्रकृतयः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरु-
 भयश्रेण्यां संक्रामन्ति । विंशत्येकोनविंशत्यष्टादशरूपास्त्रयः संक्रमाः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुप-
 शमश्रेण्यां, त्रयोदशौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकश्रेण्यां च
 संक्रामन्ति । द्वादश क्षपकश्रेण्यामेव संक्रामन्ति । दशैकादशरूपौ क्षपकश्रेण्यामौपशमिक-
 सम्यग्दृष्टेश्चोपशमश्रेण्यां संक्रामतः । चतुष्कप्रतिग्रहे चतुष्कसप्ताष्टदशैकादशाद्वादशाष्टाद-
 शरूपाः सप्त संक्रमाः संक्रामन्ति । तत्र चतुष्के क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकश्रेण्यामेव, सप्ताष्टकौ
 औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां, दशकं क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकश्रेण्यामौपशमिकसम्यग्दृ-
 ष्टेरुपशमश्रेण्यां च, क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यामेकादशाद्वादशाष्टादशरूपाः त्रयः संक्रमाः
 संक्रामन्ति । त्रिकप्रतिग्रहे त्रिकं संक्रामन्ति । तत्र
 त्रिकं क्षपकश्रेण्यां संक्रामां चतुष्कपञ्चकसप्तकरूपा-
 स्त्रयः संक्रमाः संक्रामन्ति, क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यामष्टकनवैकादशरूपास्त्रयः संक्रमाः
 संक्रामन्ति । द्विकरूपे प्रतिग्रहे अष्टपट्कपञ्चकद्विकरूपाः चत्वारः संक्रमाः संक्रामन्ति ।
 आद्यत्रिकं क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां, द्विकमौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षायिक-
 सम्यग्दृष्टेः क्षपकश्रेण्यां च संक्रामति । एकस्मिन् प्रतिग्रहे द्विकत्रिकपञ्चकरूपं त्रिकं क्षायि-
 कसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यामेका क्षपकश्रेण्यां च संक्रामति ॥

॥ मोहनीयस्य कस्मिन्प्रतिग्रहे कः संकामतीति संवेधयन्त्रम् ॥

| प्रतिग्रह स्थानानि | प्रतिग्रहस्थानगतप्रकृतयः | संक्रमस्था- नानि | संक्रमस्थानगतप्रकृतयः |
|-----------------------|---|---------------------|---|
| २२ | मिथ्यात्व कर्पाय चेदे युगल भे. जु. | २७ | मिथ्यात्वव्यतिरिक्ताः |
| २२ | " " | २६ | मिथ्यात्वसम्यक्त्वव्यतिरिक्ताः |
| २२ | " " | २३ | अनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वरहिताः |
| २१ | " " | २५ | दर्शनत्रिक्यतिरिक्ताः |
| १९ | सम्ये० मिथ्र० कर्पाय चेदे युगल भे. जु. | २७ | सम्यक्त्वरहिताः |
| १९ | " " | २६ | मिथ्रसम्यक्त्वरहिताः |
| १९ | " " | २३ | अनन्तानुबन्धिसम्यक्त्वरहिताः |
| १८ | " " | २२ | अनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वसम्यक्त्वरहिताः |
| १७ | " " | २५ | दर्शनत्रिकरहिताः |
| १७ | " " | २१ | अनन्तानुबन्धिदर्शनत्रिकरहिताः |
| १५ | सम्ये० मिथ्र० प्रत्या सर्व० चेदे युगल भे. जु. | २७ | सम्यक्त्वव्यतिरिक्ताः |
| १५ | " " | २६ | मिथ्रसम्यक्त्वव्यतिरिक्ताः |
| १५ | " " | २३ | अनन्तानुबन्धिसम्यक्त्वव्यतिरिक्ताः |
| १४ | " " | २२ | अनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वसम्यक्त्वव्यतिरिक्ताः |
| १३ | " " | २१ | अनन्तानुबन्धिदर्शनत्रिकरहिताः |
| ११ | सम्ये० मिथ्र० सं० ४ ये० यु० भ० जु० | २७ | सम्यक्त्वव्यतिरिक्ताः |
| ११ | " " | २६ | मिथ्रसम्यक्त्वव्यतिरिक्ताः |
| ११ | " " | २३ | अनन्तानुबन्धिसम्यक्त्वव्यतिरिक्ताः |
| १० | " " | २२ | अनन्तानुबन्धिसम्यक्त्वमिथ्यात्वव्यतिरिक्ताः |
| ९ | " " | २१ | अनन्तानुबन्धिदर्शनत्रिकव्यतिरिक्ताः |
| ७ | सम्ये० मिथ्र० सं० ४ ये० | २३ | अनन्तानुबन्धिसम्यक्त्वव्यतिरिक्ताः |
| ७ | " " | २२ | अनन्तानुबन्धिसम्यक्त्वसंज्ञकलनलोभरहिताः |
| ७ | " " | २१ | अन० सम्ये० संज्ञ० लो० नपुमकव्यतिरिक्ताः |
| ७ | " " | २० | अन० सम्ये० संज्ञ० लो० नपुमकस्त्रीव्यतिरिक्ताः |
| ६ | सम्ये० मिथ्र० सं० ४ | २० | " " |
| ६ | " " | १४ | अ० सम्ये० सं० लो० न० स्त्री० हास्यादिपट्टरहिताः |
| ६ | " " | १३ | अ० सम्ये० सं० लो० चेदत्रिक० हास्यादिपट्टरहिताः |
| ५ | संग्रहलघुपुष्पपुरवदेदरूपासु | २१ | अनन्तानुबन्धिदर्शनत्रिकव्यतिरिक्ताः |
| ५ | " " | २० | अन० दर्शनत्रिकसंज्ञ० लो० व्यतिरिक्ताः |

| | | | | |
|---|--------------------------------------|---|----|---|
| ५ | " | " | १९ | अन० दर्शनत्रिक सं० हो० नपुंसक्यनिरिक्ताः |
| ५ | " | " | १८ | अन० दर्शनत्रिक सं० हो० नपुंसक्यनिरिक्ताः |
| ५ | " | " | १३ | अन० दर्शनत्रिक कषाय ८ व्यनिरिक्ताः |
| ५ | " | " | १२ | अन० दर्श० कषाय ८ सं० हो० व्यनिरिक्ताः |
| ५ | " | " | ११ | अन० दर्श० कषाय. ८ सं० हो० नपुंसकरहिता |
| ५ | " | " | १० | " " " " |
| ५ | संज्ञलनमानादि ३ सम्यक्त्वमिश्ररूपासु | | १३ | अन० सम्य० मिश्र० नवनोरूपापरहिताः |
| ५ | " | " | ११ | " " " " |
| ५ | " | " | १० | मध्यमकोषद्विक्रिकृताः |
| ५ | " | " | १० | कोषत्रिकरहिताः |
| ४ | संज्ञलनचतुष्टे | | १८ | अन ४ दशं ३ नपुंसक स्त्री. सं० हो० भवजाः |
| ४ | " | | १२ | पूर्वोक्तदशकहास्यादिपद्व्यनिरिक्ताः |
| ४ | " | | ११ | पुंवेदः पूर्वोक्ताश्च व्याख्याः |
| ४ | " | | १० | अन० दशं० कषायाष्टक सं० हो० नपुंसक- स्त्रीवेदरहिताः |
| ४ | संज्ञलनमायालोमसम्यक्त्वमिश्रेषु | | १० | मिथ्या० मिश्र० मध्यममानमायालो- मद्विकसंज्ञलनमानमायारूपाः |
| ४ | " | " | ८ | मिथ्या० मिश्र० मध्यममायालोमद्विकसं- ज्ञलनमानमायारूपाः |
| ४ | " | " | ७ | मिथ्या० मिश्र० मध्यममायालोमद्विकसं० मायारूपाः |
| ४ | संज्ञलनचतुष्टे | | ४ | पुनरेदलोभवर्जसंज्ञलनत्रिकरूपाः |
| ३ | सं० मानादित्रिके | | ११ | अनाद्यकोषमानमायात्रिकमध्यमलो- मद्विकरूपाः |
| ३ | " | | ९ | मध्यमकोषद्विक्रियुक्ताः पूर्वोक्ताः |
| ३ | " | | ८ | अनाद्यमानमायात्रिकमध्यमलोमद्विकरूपाः |
| ३ | संज्ञलनलोममिश्रसम्यक्त्वरूपासु | | ७ | अनाद्यमायात्रिकमध्यमलोमद्विक मिथ्या० मिश्ररूपाः |
| ३ | " | " | ५ | संज्ञ० माया मध्यमलोमद्विक मिथ्या० मिश्र० |
| ३ | " | " | ४ | मध्यमलोममिथ्यात्वमिश्ररूपाः |
| ३ | संज्ञलनमानादित्रिके | | ३ | संज्ञलनकोषमानमायारूपाः |
| २ | संज्ञलनमायालोमयोः | | ८ | प्रथमवर्जमानमायात्रिकमध्यमलोमरूपाः |

लिते त्रिनवतिसत्स्थानं भवति । ततो नरकद्विकसहिते वैक्रियसप्तके उद्धलिते चतुरशीतिः । तदुक्तं कर्मप्रकृतौ शिवशर्मसूरिपादैः—“एग्वियस्स मुरदुग्मवो सवेउघिनिरयदुग्मं” सप्ततिकावृत्तौ तु देवद्विके नरकद्विके वा उद्धलिते त्रिनवतिर्भवति, नरकद्विकसहिते देवद्विकसहिते वा वैक्रियसप्तके उद्धलिते चतुरशीतिः । तथाच तदग्रन्थः—“ततो नरकगतिनरकानुपूर्व्योरथवा देवगतिदेवानुपूर्व्योरुद्धलितयोः पटशीतिः । अथवाऽशीतिसत्कर्मणो नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो नरकगतिनरकानुपूर्व्यवैक्रियशरीरवैक्रियाद्भोपाद्भवैक्रियसंघातवैक्रियवन्धनागं घन्धे सति पटशीतिः । अथवाऽशीतिसत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्यं चध्नतो देवगतिदेवानुपूर्व्यवैक्रियचतुष्टयग्रन्धे पटशीतिः । ततो नरकगतिनरकानुपूर्व्यवैक्रियचतुष्टयोद्धलने, अथवा देवगतिदेवानुपूर्व्यवैक्रियचतुष्टयोद्धलने कृते अशीतिः” तस्मात् मनुष्यद्विके उद्धलिते द्व्यशीतिरिति । एतत् सत्स्थानत्रिकमधुवसंज्ञकं भवति । त्रसवादरपर्याससुभगादेययशःकीर्तिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिरूपमष्टप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानं भवति । तदेव जिननामयुतं नवप्रकृत्यात्मकं भवति । एतत्सत्स्थानद्वयमयोगिचरमसमये भवति ।

नाम्नः सत्तास्थानानि १२

| | |
|-----|---|
| १०१ | सर्वप्रकृतिसमुद्भावः । |
| १०२ | तीर्थंकरवर्जाः । |
| ९१ | आहारकसप्तकवर्जाः । |
| ९५ | आहारकसप्तकजिनवर्जाः । |
| ९३ | आहारकसप्तकजिनदेवद्विकवर्जाः । |
| ९० | नरकद्विकतिर्बिम्बकजातिचतुष्टयस्यावरसूहमसाधारणातपोघोतवर्जाः । |
| ८९ | जिनवर्जाः पवनिः । |
| ८४ | नरकद्विकवैक्रियसप्तकवर्जास्त्रिनवतिः । |
| ८३ | नरकादित्रयोदशवर्जाः पण्णवनिः । |
| ८२ | नरकादित्रयोदशवर्जाः पञ्चनवतिः, यद्वा नरकद्विके उद्धलिते चतुरशीतिरेव द्व्यशीतिर्भवति । |
| ९ | असत्रिकसुभगादेययशःकीर्तिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिजिनास्याः । |
| ८ | जिनवर्जाः अष्टौ । |

संक्रमस्थानान्यपि द्वादश भवन्ति, तद्यथा त्र्युत्तरशतं द्युत्तरशतं, एकोत्तरशतं पण्णवतिः पञ्चनवतिश्चतुर्नवतिश्चित्रनवतिरेकोननवतिरेष्टाशीतिचतुरशीतिर्द्व्यशीतिरेकाशीतिरिति । एतान्येव भाव्यन्ते—तत्र नाम्नः त्रिंशद्वन्धव्यच्छेदे सति यशःकीर्तेः प्रतिग्रहत्वेन त्र्युत्तरशतद्युत्तरशतपण्णवतिपञ्चनवतिरूपात् सत्तास्थानचतुष्कात् तदपनीते क्रमेण द्युत्तरशतैकोत्तरशतपञ्चनवतिचतुर्नवतिरूपाणि चत्वारि संक्रमस्थानानि उभयश्रेण्यां संक्रामन्ति । उक्तप्रथमसत्स्थानचतुष्कात् प्रागुक्तासु त्रयोदशसु क्षीणासु क्रमेण नवत्येकोननवतित्र्यशीतिद्व्यशीतिसत्स्थानानि भवन्ति । तेभ्योऽपि यशःकीर्तेः प्रतिग्रहत्वेन तदपनीते एकोननवत्यष्टाशीतिर्द्व्यशीत्येकाशीतिरूपाणि चत्वारि संक्रमस्थानानि क्षपकश्रेण्यामेव भवन्ति । इदमुक्तं भवति—त्र्युत्तरशतसत्ताकस्य यशःकीर्तेः प्रतिग्रहत्वेन तद्वर्जं द्युत्तरशतं संक्रामति ।

द्युत्तरशतसत्ताकस्य यशःकीर्तिर्वर्जमेकोत्तरशतं संक्रामति । पण्णवतिसत्ताकस्य तद्वर्जं पञ्चनवतिः, पञ्चनवतिसत्ताकस्य यशःकीर्तिर्वर्जं चतुर्नवतिः । उक्तसत्स्थानचतुष्कात् त्रयोदशप्रकृतिक्षये च नवतिसत्ताकस्य यशःकीर्तिर्वर्जमेकोननवतिः संक्रामति, एकोननवतिसत्ताकस्य यशःकीर्तिर्वर्जमष्टाशीतिः संक्रामति, त्र्यशीतिसत्ताकस्य यशःकीर्तिर्वर्जं द्व्यशीतिः संक्रामति, द्व्यशीतिसत्ताकस्य यशःकीर्तिर्वर्जं एकाशीतिप्रकृतीनां संक्रमो भवति । एकोत्तरशतचतुर्नवत्येकोननवत्यष्टाशीत्येकाशीतिरूपाणि पञ्चसंक्रमस्थानानि श्रेणीं विहाय न कुत्रापि परिभाषनीयानि । एकान्तेन यानि श्रेणियोग्यानि संक्रमस्थानानि तानि वर्जयित्वा शेषाणि द्युत्तरशतद्युत्तरशतपण्णवतिपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिरूपाणि सप्त संक्रमस्थानानि भाव्यन्ते—

तत्राहारकजिननामयुतं देवप्रायोग्यमेकत्रिंशद्वन्धं वध्नतः द्युत्तरशतसत्ताकस्य जिननामाहारकयोर्वन्धावलिकायामनपगतायां द्युत्तरशतं संक्रामति । जिननाम्नो वन्धावलिकायामनपगतायां द्युत्तरशतसत्ताकस्यैव द्युत्तरशतं संक्रामति । तस्यैवाहारकसप्तकस्य वन्धावलिकायामनपगतायां पण्णवतिः संक्रामति । तस्यैवोभयोर्वन्धावलिकायामनपगतायां पञ्चनवतिः संक्रामति । आहारकयुतं देवप्रायोग्यं त्रिंशतं वन्धं वध्नतो द्युत्तरशतसत्ताकस्य वन्धावलिकायामनपगतायां द्युत्तरशतं संक्रामति । अस्यैवाहारकसप्तकस्य वन्धावलिकायामनपगतायां पञ्चनवतिः संक्रामति । नन्वाहारकयुतं त्रिंशतं वन्धं वध्नतः द्युत्तरशतं पण्णवतिश्च सत्स्थानं कथं न संक्रामतीति चेत् ? न, तयोः सद्भावाभावात् । ननु जिननाम्नः सत्ताभावः कुतोऽवसितः ? अत्र जिननामवन्धाभावात् । ननु वन्धाभावोऽपि कुतोऽवबुद्धः ? आहारकवन्धकस्य जिननामवन्धे एकत्रिंशद्वन्धस्थानप्राप्तेः । ननु मनुजादिगतीनां वन्धाभावेऽपि सद्भावो विद्यते, तद्वज्जिननाम्नः सद्भावे का क्षतिरिति चेत् ? न, सम्यग्दृष्टीनां जिननाम्नः सद्भावे सति ध्रुवबन्धित्वात्, गत्यादीनां न तथेति । तदुक्तं कर्मप्रकृतिवृत्तौ श्रीमद्भिर्न्यायाचार्यपादैः—“यस्य हि तीर्थंकरमाहारकं वा सत् स नियमाद्भासीति” । ननु सम्यग्दृष्ट्यादीनां तीर्थंकरनामकर्मणः सद्भावे सत्यवद्यमेवापूर्वकरणपञ्चभागपर्यन्तो वन्धः, सति च वन्धेऽवश्यं सद्भावः, ततोऽविरतादीनां ध्रुवसत्ताकत्वं प्राप्तम्, उक्तं चाध्रुवसत्कर्मणीति कथं न विरोध इति चेद् ? उच्यते, तथाविधविशुद्धिविशेषसमन्विते सम्यक्त्वे सति भवतीत्यध्रुवसत्ताकत्वं प्रोक्तं । ननु तर्हि ध्रुवबन्धिमध्ये ज्ञानाचारकत्वादीनामिव कथं नोक्तं, कथं चोक्तमध्रुवबन्धिमध्य इति चेत् ? सत्यम्, ज्ञानावरणादीनामियानादिकालिनवन्धाभावात् न ध्रुवबन्धिमध्य उक्तं, सम्यक्त्वे सत्यपि तथाविधविशुद्धायेव वन्धारम्भकत्वादध्रुवबन्धित्वमिति । तदुक्तं—“तीर्थंकरस्याहारकद्विषस्य च यथाश्रमं सम्यक्त्वे संयमे च सामान्यतो निजवन्धहेतौ विद्यमानेऽपि कदाचिदेव वन्धः” इति । ननु तर्हि पण्णवतिसत्ताको मिथ्यादृष्टिर्नारकोऽपर्याप्तावस्थायां पण्णवतिः संक्रामतीति पञ्चसंक्रमादावुक्तं कथं निर्वाह्यमिति चेत् ? उच्यते, वन्धहेतुसम्पर्के सत्येव वन्धो भवति,

नान्यथा, मिथ्यादृष्टौ तदभावात् न जिननामबन्धः, अत एव जिननामसत्कर्मणः सम्यग्दृष्टेः ध्रुवबन्धित्वं प्रागुक्तम्, तथा च सति वेदकसम्यग्दृष्टिर्द्वितीयनरकायुष्को नरकाभिमुख एव जिननामसत्ताको मिथ्यात्वे गच्छति, नान्यः तस्य च बन्धाभावेऽपि पण्णवतिः संक्रमे प्राप्यते । अत एव मिथ्यादृष्टौ नरकाभिमुखं नरं, अपर्याप्तावस्थायामन्तर्मुहूर्तं यावत् तमेव प्राप्तनरकं नारकं च विहाय सर्वत्र जिननामयुक्तमेकोनवतिसत्स्थानं जिननामसत्ताकस्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यो बन्धश्च सप्ततिकावृत्तौ निषिद्धः तदुक्तं—“यतो मिथ्यादृष्टेः सतः एकोनवतिः नारकेऽप्युपमानस्य नैरयिकस्य प्राप्यते न शेषस्य” “तीर्थङ्करनामसत्कर्मणः तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धासम्भवात् एकोनवतिः न लभ्यते” इति ।

अथाप्रस्तुतमपि सोपयोगित्वेन साक्षेपपरिहारपूर्वकं जिननामविषये किञ्चिद्विचार्यते—ननु पण्णवतिः मिथ्यादृष्टौ नारकः संक्रामति तद्वत् त्र्युत्तरशतप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानं कथं न संक्रामतीति चेत् ? न, उभयसत्ताकस्य नारकेषु गमनाभावेनैव तत्संक्रमाभावात्, तदुक्तं—“तीर्थङ्कराहारकसत्कर्मणो नारकेऽप्युपादाभावात्” इति । ननु तथापि वेदकसम्यग्दृष्टेः वृद्धतीर्थङ्करनामः चरमेऽन्तर्मुहूर्ते प्राप्तनरकलेश्यस्य परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतस्य नरकाभिमुखस्य नरकगतिप्रायोग्याद्याविंशतिबन्धकस्य मनुजस्य कथं त्र्युत्तरशतप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानं न संक्रामति ? मनुजद्विकरहितं सत्स्थानं वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाणि मनुष्यगतौ प्राप्यमाणत्वात्, तदुक्तं—“मनुष्याणामेकादश सत्तास्थानानि, सद्यथा—त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोनवतिरष्टाशीतिः पञ्चशीतिरशीतिरेकोनाशीतिः पद्मसप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ । अष्टसप्ततिस्तु न संभवति, मनुष्याणामन्यं मनुष्यद्विकसंभवात्” इति, न च जिननामसत्ताकस्य नरकप्रायोग्यबन्ध एव न संभवतीति वाच्यम्, सप्ततिकावृत्तौ संवेधाधिकारे तत्प्रतिपादनात्, तदुक्तं—“तत्राप्येकोनवतियौ नाम वेदकसम्यग्दृष्टिर्द्वितीयङ्करनामा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकाभिमुखो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं वधाति” इति चेत् ? न, मिथ्यादृष्टौ आहारकजिननामोऽप्युक्तं प्रथक् सत्तासंभवेऽपि युगपदुभयोः सत्ताया अभावात्, अत एवोभयसत्तायां मिथ्यादृष्टिः भवति न वेत्याशङ्कामपनोदाय श्रीमद्भिः देवेन्द्रसूरिपादैः शतके उक्तं “नोभय सन्ते मिच्छो” इति । ननु द्वितीयतृतीयगुणस्थाने जिननाम कथं न संक्रमयतीति चेत् ? जिननामकर्मसत्ताकस्य तत्र गमनाभावात् ननु जिननामसत्कर्मा द्वितीयतृतीयगुणस्थाने कथं न गच्छतीति चेत् स्वभावादिति ब्रूमः । तदुक्तं—“तीर्थङ्करनामसत्ताको हि मिश्रसाखादनभारं न प्रतिपद्यते, स्वभावादेव” इति । ननु मिथ्यादृष्टेः जिननामकर्म सत्तायां कियन्तं कालं प्राप्यते इति चेत् ? ब्रूमः अन्तर्मुहूर्तमिति, परतोऽवश्यं सम्यक्त्वप्राप्तेः । तदुक्तं पूज्यपादैः श्रीमद्देवेन्द्रसूरिभिः—“लङ्घि वेदतीर्थङ्करनामकर्मसत्तायां कियन्तं कालं मिथ्यादृष्टिर्भवतीत्याह—अन्तमुहूर्तं भवे तिर्ये” चि अन्तर्मुहूर्तमन्तर्मुहूर्तमात्रं कालं भवेज्जायेत ‘मिच्छो’ चि इत्यस्यापि सम्बन्धान्मिथ्यादृष्टिर्भवतीति । क सतीत्याह ‘तिर्ये’ चि तीर्थङ्करनामकर्मणि सत्तायां वर्तमान इति गम्यते । इदमुक्तं भवति—यो नरके वृथायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिर्द्वितीयङ्करनामकर्मा सप्तशतिसुखवश्यं सम्यक्त्वं परित्यज्य वृत्रोत्पद्यते,

उत्पत्तिसमयानन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तस्यायमुक्तप्रमाणः कालो लभ्यते” इति । यत्तु “नोभय सन्ते मिच्छो” इत्येतत्पादस्य, संस्तवके पतितपरिणामश्चेत् नारकोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यं तदुद्वल्यतीत्युक्तं इति, तथा—“विजिणु वीयतइय” वचनात्, एतद्भावप्राप्तिः जिननामसत्तारहितानां अथवा उद्वलितजिनसत्तावतां भवती”ति विचारसारप्रकरणे च श्रीमद्देवचन्द्रेणोक्तं तन्न सम्यक्, पूज्यपादैः श्रीमद्भिः शिवशर्मसूर्यादिभिरुद्वलनयोग्यासु प्रकृतिषु जिननाम्नोऽगृहीतत्वादिति । ननु—“तिरश्चस्तीर्थंकरसत्कर्मवन्धाभावात्” “तित्थगरदेवनिरयाङ्गं तिसु तिसु गइसु बोधधं” “तीर्थंकरनामदेवायुर्नरकायुषश्च प्रत्येकं तिसु तिसु गतिषु बोद्धव्यम् । तथाहि—“तीर्थंकरनामनरकदेवमनुष्यगतिरूपासु तिसु गतिषु सत्प्राप्यते, न तिर्यग्गतावपि तीर्थंकरसत्कर्मणः तिर्यक्षूपादाभावात्, तत्र गतस्य च तीर्थंकरनामवन्धाभावात्” इत्याद्यनेकोल्लेखावलोकनेन तिर्यक्षु सत्ताऽभावो निश्चीयते, जिननाम्न उत्कृष्टः स्थितिवन्धोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणः, एतावत्कालं तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण पूरयितुमशक्यत्वात् तत्र मने चोक्तविरोध इति चेत् ? मुनिकाचितजिननामसत्ताकस्यैव तिर्यक्षु गमननिषेधात्, एतदेव साक्षेपरिहारपुरस्सरमुक्तं पञ्चसंग्रहे—

“अन्तो कोढाकोडी ठिइए वि कइं न होइ तित्थयरे । संते किच्चियकालं तिरिओ अह होइ उ विरोहो ॥ १ ॥ जमिह निकाइयतित्थं तिरियभवे तं निसेहियं संतं । इयरंमि नत्थि दोसो उच्चट्ठणवट्ठणासजे ॥ २ ॥” अनयोः पूज्यपादमलयगिरिकृता वृत्तिरियं—“अन्तःकोटीकोटीस्थितिकेऽपि ‘तीर्थंकरे’ तीर्थंकरनामकर्मणि ‘सति’ विद्यमाने कथं ‘कियत्कालं’ कियन्तं कालं यावत् तिर्यग् न भवति ? तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण तावत्याः स्थितेः पूरयितुमशक्यत्वात् । अथ मन्यसे भवति कियत्कालं तीर्थंकरनामसत्कर्माऽपि तिर्यग्, तर्ह्यगमविरोधः, आगमे तीर्थंकरनामसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिगमनप्रतिषेधात् । अत्रोत्तरमाह—इहास्मिन् प्रवचने यत्तीर्थंकरनाम निकाचितमवश्यवेद्यतया व्यवस्थापितं, तदेव स्वरूपेण सद्विद्यमानं तिर्यग्भवे निषिद्धमित्यस्मिन् पुनरनिकाचितेऽपवर्तनोद्धर्तनासाध्ये तिर्यग्भवे विद्यमानेऽपि न कश्चिदोपः, न चैतत्सुत्रकृतस्वमनीषिकाशिल्पिकल्पितम्, विशेषणवत्यामपि तथाभिधानात्, तथाच सद्ग्रन्थः—“तिरिएसु नत्थि तित्थयरनाम सन्तंति देसियं समए । कइ य तिरिओ न होही अयरोयमकोडीकोडीए ॥ १ ॥ तं पि मुनिकाइयस्सेव तइयभधभाविणो विणिदिहं । अणिकाइयम्मि वधइ सधगइओ वि न विरोहो ॥ २ ॥” गायत्र्यवस्थापीयमक्षरगमनिका—तीर्थंकरनाम सद्विद्यमानं तिर्यक्षु नास्ति न भवतीति देशितं कथितं समये—जिनप्रवचने अथवा तीर्थंकरनाम्न उत्कृष्टा स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, ततः किञ्चिद्दूनसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणायां स्थितौ कथं तीर्थंकरनामसत्कर्मा तिर्यग् न भवात् ? भवसेवेति भावः, तिर्यग्गतिगमनमन्तरेण तावत्याः स्थितेः पूरयितुमशक्यत्वात्, एष पूर्वपक्षः । अत्रोत्तरमाह—“तं पि” इत्यादि तदपि तीर्थंकरनाम सत्तिर्यक्षु नास्तीति समये देशितम्, एतीय-भवाभाविनः मुनिकाचितस्यैवात्यन्तनिकाचितस्यैव विनिर्दिष्टमवसेयं न सामान्यतः, तेनानिकाचिते तीर्थंकरनामसत्कर्मणि विद्यमाने सर्वो अपि गतीर्गति गच्छतीति न कश्चिद्विरोधः” इति ।

या ध्वान्तःकोटीकोटीप्रमाणा स्थितिरुक्ता साऽनिकाचिदपेक्षया ज्ञातव्यवमाहारकस्य

स्थितिरपि ज्ञेया । ननु मुनिकाचितं कस्माद्भागादारभ्य ? कः ? कदा ? कियत् प्रमाणं करोति ? मुनिकाचिते चोच्यमानेऽन्यदपि किमल्पनिकाचितमनिकाचितं वा विद्यते ? अत्रोच्यते—जिननाम्नः अन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणायाः स्थितेः संख्येयभागादारभ्य संख्येयवर्षायुष्केण नरेण निकाचयितुमारभ्यते, तस्यैव सकलसामग्रीसद्भावात् । तीर्थंकरभवादवर्षात् तृतीये भवे च निकाचितं करोति । तत्रापि अन्तःसागरोपमकोटीकोट्याः संख्येयतमो भागोऽल्पनिकाचितं भवति, किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिद्वयाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि मुनिकाचितं भवति, शेषं सर्वमनिकाचितं भवति । एवमेवाहारकस्थितेरपि बोध्यमिति । नैतत्स्वमनीयिकया विजृम्भितं, पञ्चसंग्रहेऽपीदमेवावेदितं, तथाहि—

“अन्तोकोटीकोटी विस्थयराहार तीर्थ संज्ञाओ । तेचीसपलियसंयं निकाइयाणं तु वणोसा ॥ १ ॥” व्याख्या—तीर्थंकरस्याहारकस्य चोत्कृष्टा स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटी, अन्तर्मुहूर्तमात्रमनाया, अथाधारालहीमश्च कर्मवलिनिपेकः । एषा चोत्कृष्टा स्थितिरनिकाचितयोस्तीर्थंकराहारकद्विकयोरुक्ता, निकाचितयोः पुनरिदमाह—‘तीर्थ’ इत्यादि निकाचितयोस्तु तीर्थंकराहारकद्विकयोरुत्कृष्टा स्थितिसस्या अन्तःसागरोपमकोटीकोट्याः संख्येयभागादारभ्य तीर्थंकरस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिद्वयाभ्यधिकानीति शेषः । आहारकद्विकस्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रम् । एतदुक्तं भवति—तीर्थंकराहारकयोरन्तःसागरोपमकोटीकोट्याः संख्येयभागादारभ्य निकाचितुमारभ्ययोर्वैश्व सर्वात्मनातीतानयोः निकाचना कृता भवति, तदा तीर्थंकरनाम्न उत्कृष्टा स्थितिः किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिद्वयाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तथाहि—तीर्थंकरभवादवर्षात्तृतीये भवे पूर्वकोट्यायुषा प्रथमत एव निकाचितं, ततोऽनुत्तरसुरेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिको देवो जातः, ततोऽपि च्युत्वा चतुरशीतिलम्नायुस्तीर्थंकरो जायत इति । आहारकद्विकस्य तु पल्योपमासंख्येयभागः । संख्येयभागादारभ्येति यदत इदमेवावेद्यते—अल्पनिकाचितयोस्तीर्थंकराहारकद्विकयोरन्तःसागरोपमकोटीकोट्याः संख्येयतमो भाग उत्कृष्टा स्थितिः, मुनिकाचितयोस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमादिकेति श्रीमन्मलयगिरिकृता वृत्तिः । एतेन, ननु जिननाम कर्मतीर्थंकरभयनादवर्षात्तृतीये भवे एव वध्यते “वञ्जइ तं तु भगवओ वइयभवे सकाइताणं” इति यचनात् तत्कथं जघन्यतोऽपि अन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तस्य स्थितिरुपपद्यत इत्यपि न युक्तं, “वञ्जइ” इत्यादिनिकाचनापेक्षयोक्तत्वात्, शुद्धप्ररूपकत्वेन भूरितरभयस्यापि कमलप्रभाचार्यस्यापदपर्वतस्योपरि जिनभक्तिलीनस्य रावणस्य च चतुर्दशभयसंभवेऽपि जिननामबन्धस्योक्तत्वाच्च । नन्वाहारकद्विकजिननामकर्मणोरुत्कृष्टा स्थितिः वन्धे सत्कर्मणि चान्तःसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणा प्रोक्ता तत आहारकद्विकजिननाम्नी किं वन्धोत्कृष्टे संक्रमोत्कृष्टे वेति चेत् ? संक्रमोत्कृष्टे इति वृत्तः, नवरं वन्धोत्कृष्टायाः स्थितेः सकाशात् संक्रमोत्कृष्टा स्थितिः संख्येयगुणा, तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—“वन्धद्विइओ संतकम्मद्विइ सत्तेज्जगुणा” इति । ननु नामकर्मणः वन्धोत्कृष्टानां प्रकृतीनां वन्धे उत्कृष्टा स्थितिः विंशति-सागरोपमकोटीकोटिप्रमाणा भवति यतो वन्धोत्कृष्टानां प्रकृतीनां वन्धे उत्कृष्टा स्थितिः यावती स्वमूलप्रकृतेरुत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते तावती भवति । ततः आहारकद्विके जिननाम्नि

च वन्धावलिकोदयावलिकाविरहिता विंशतिः सागरोपमकोटीकोटिप्रमाणैव प्राप्यते, ततः कथमुच्यते आहारकद्विकजिननाम्नोः संक्रमतोऽप्यन्तःकोटीकोटिप्रमाणा स्थितिरिति चेत् ? न, उत्कृष्टतोऽपि सर्वेषां कर्मणां सम्यग्दृष्टेरन्तःसागरोपमकोटीकोटिप्रमाण एव वन्धो भवति, नाधिकः, या तु वन्धोत्कृष्टानां स्वमूलप्रकृतेः यावती उत्कृष्टा स्थितिः तावती वन्धे प्राप्यत इत्युक्तं तन्मिथ्यादृष्टिमाश्रित्यावसेयम् । जिननामाहारकद्विकयोस्तु मिथ्यादृष्टौ वन्ध एव न भवति, सम्यक्त्वसंयमप्रत्ययत्वात् तद्वन्धस्येति । तदुक्तमाराध्यपादैः श्रीमच्छिव-
शर्मसूरिभिः—“सम्मत्तगुणनिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहारं” अस्य चूर्णिः—“सम्मत्तगुणनिमित्तं” ति सम्मत्तगुणनिमित्तं तित्थकरं संजमेण आहारं वन्धइ ति । वीसाणं एगदुगाइगेहिं अन्नतरेहिं कार-
णेहिं तित्थकरणामपि वद्धं सम्महिट्ठिणा जाव तस्स सम्मत्तभावो धरइ ताव वन्धइ, सम्मत्तभावे फिट्ठे न वन्धइ वेण तित्थकरनामं सम्मत्तपच्चयं । आहारगहुगं अप्पमत्तभावे वट्टमाणो संजओ वन्धइ न पमत्तो तग्हा संजमपवइगं” इति । ननु जिननामकर्मणो वन्धहेतुर्यदि सम्यक्त्वं प्रोच्यते, तर्हि किमौपशमिकसम्यक्त्वं, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं, क्षायिकसम्यक्त्वं वा ? यदि प्रथमपक्षः तर्हि उपशान्तमोहेऽपि तद्वन्धः प्राप्नोति, तत्र केषाञ्चिदौपशमिकसम्यक्त्वस्यापि सद्भावात् । द्वितीयः पक्षश्चेत् ? अप्रमत्तचरमसमये एव जिननामवन्धस्य व्यवच्छेदं प्राप्नोति, नापूर्वकर-
णपष्ठभागे तत्र क्षायोपशमिकसम्यक्त्वस्याभावात् । यदि तृतीयस्तर्हि सिद्धानामपि जिन-
नामकर्मणो वन्धः प्राप्नोति, क्षायिकसम्यक्त्वस्य तेषामपि सद्भावात् । किञ्च “जोगा पयडि-
पपसं ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ” इति विरोधश्चेति चेत् ? न, अमिप्रायाऽपरिज्ञानात्, नहि “सम्मत्तगुणनिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहारं” इत्यनेन केवलमेव सम्यक्त्वं जिननामवन्धहेतु-
त्वेनोच्यते, किन्तु सहकारिकारणभावेन जिननामकर्मणो विशेषहेतुत्वं, मौलं कारणं तु कपा-
यविशेषा एव, “सेसा उ कसायहिं” इति वचनात् । ते च कपायविशेषाः जिननामवन्धं प्रति हेतुत्वेन दधानाः औपशमिकाद्यन्यतमसम्यक्त्वविहीनाः न संभवन्ति, नच तादृशाः कपायाः सर्वजीवानां संभवन्ति । येऽपि जिननामवन्धहेतुविशेषाः कपायाः तेऽपि प्रतिनियता एव-
कतिपया अविरतादारभ्यापूर्वकरणपष्ठभागं यावत् संभविनः न परतः, ततो न कश्चिदोपः । ननु सम्यक्त्वानुगताः कापायिकाध्यवसायविशेषाः किंस्वरूपा यैर्जिननाम निवर्धयन्ते ? श्रूयतामत्रार्थं श्रीमन्मलयगिरिपादोक्तमेव—

“सकलजगदुद्धर्तुकामितादिपरमगुणसमूहसमन्विताः । तथाहि—यो भावी भगवांस्तीर्थकृत् न औप-
शमिकाद्यन्यतमसम्यक्त्वावाप्तौ सत्यां सकलस्यापि संसारस्यादिमध्यावसानेऽप्यत्यन्तं नैर्गुण्यमवधार्य
महाशयः तयाभन्यत्वविशेषयोगत एव चिन्तयति ‘अहो चित्रमेतत् । यत्सत्यपि पारमेश्वरे प्रवचने
स्फुरतेजसि दुःखपरीतचेतसो जन्तवः संसारगहने महामोहान्धकारविलुप्तसत्पथे मूढमनस्का वसैः
परिभ्रमन्ति, तदहमेवान्तः संसारवदनेन प्रवचनेन यथायोगमुत्तारयामीति’ एवं च चिन्तयित्वा स
महात्मा सदैव परार्थन्यसनी करुणादिगुणोपेतः प्रतिक्षणं परार्थकरणप्रवर्धमानाशयो यथा यथा परे-
पागुपकारो भवति तथा तथा चेष्टते । तत इत्थं सत्त्वानां तत्कल्याणसम्पादनेनोपकारं कुर्वतीर्थकर-

नाम समुपार्ज्य परं सत्त्वार्थसाधनं तीर्थकरत्वमवाप्नोति । उक्तं च—“अनेन भयनैर्गुण्यं सम्यग्नीक्ष्य महाशयः । तथामव्यत्ययोनेन विचित्रं चिन्तयत्यसौ ॥ १ ॥ मोहान्धकारगहने, संसारे दुःखिता वत । सत्त्वाः परिभ्रमन्त्युच्चैः सत्यस्मिन् धर्मतेजसि ॥ २ ॥ अहमेवान्तः कृच्छ्रान् यथायोगं कथयन्त । अनेनोत्तारयामीति धरयोधिसमन्वितः ॥ ३ ॥ करुणादिगुणोपेतः परार्थग्यसनी सदा । तथैव चेष्टते धीमान्, वर्धमानमहोदयः ॥ ४ ॥ तत्तत्कल्याणयोगेन, कुर्वन् सत्सार्धमेव सः । तीर्थ-
कृन्वसवाप्नोति परं सत्त्वार्थसाधनम् ॥ ५ ॥ उत्रानेनेति सम्यक्त्वेन यस्तु सम्यक्त्वावाप्तौ स्वजनादिपु यथोक्तचिन्तां करोति, स श्रीमान् गणधरलब्धिमासादयति, यः पुनः सम्यक्त्वावाप्तौ भवनेर्गुण्यदर्श-
नतत्त्वनिर्वेदादात्मनिःसरणमेव केवलमभिवाञ्छति तथैव चेष्टते स मुण्डकेवली भवति । उक्तं च—
चिन्तयन्त्येवमेवैतत् स्वजनादिगतं तु यः । तयाऽनुष्ठानतः सोऽपि धीमान् गणधरो भवेत् ॥ १ ॥
संविन्नो भवनिर्वेदादात्मनिःसरणं तु यः । आत्मार्यं सम्प्रवृत्तोऽसौ सदा स्यात् मुण्डकेवली ॥ २ ॥” इति ।

अत्राविशेषितं सम्यक्त्वं सामान्येन जिननामबन्धस्य कारणमुक्तं; एतेन, कैश्चिद्विषयैः यत् प्रथमोपशमिकसम्यक्त्वेऽल्पकालत्वहेतुना जिननाम्नो बन्धाभावः प्रोच्यते, नेमि-
चन्द्रेण तु यत् सम्यक्त्यसामान्यं “सम्मेव तित्ययन्यो” इत्यादिना, जिननामबन्धहेतुमभि-
धाय विशेषनियमे केवलद्विकोपान्ते नरा जिननामबन्धप्रारम्भका उक्ताः, तदुक्तम्—

“पदममुवसमिमे सम्मे सेसतिगे अविरदादि चत्तारि । तित्ययरयन्धपारंभया णरा केवलदुगंते” ॥ १ ॥
अस्या व्याख्या—“प्रथमोपशमसम्यक्त्वे शेषद्वितीयोपशमक्षयोपशमक्षायिकसम्यक्त्वेपु च असंय-
ताद्यप्रमत्तान्तमनुज्या एष तीर्थकरयन्धं प्रारम्भन्ते । तेऽप्रत्यक्षकेवलश्रुतकेवलिप्राप्तोपान्त एव ।
अत्र प्रथमोपशमसम्यक्त्वे इति भिन्नविभक्तिरूपं तत्सम्यक्त्वे स्तोकात्तर्मुहूर्तकालत्वात् षोडशभाव-
नासमृद्धाऽभावात् तद्वन्धप्रारम्भो न इति केपास्त्रित्पक्षं ज्ञापयति । नरा इति विशेषणं शेषगतिज्ञान-
मपाकरोति, विशिष्टप्रणिधानक्षयोपशमादिसामग्रीविशेषाभावात्, न च तिर्यग्यर्जितगततित्रये तीर्थबन्धा-
भायोऽस्ति, तद्वन्धकालस्योत्कृष्टनान्तर्मुहूर्ताधिकाष्टवर्षेनपूर्वकोटिद्वयाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपममात्रत्वात् ।
केवलद्वयान्ते एवेति नियमः । तद्वन्ध तद्वन्धशुद्धिविशेषोपसंभवात्”

एतत्सर्वं स्वकल्पनाकल्पितं प्रतिभासते, तत्कल्पनायां मानाभावात् । श्रुतकेवलमिन्द्र-
बालुस्वामिभिरपि सम्यग्दृष्टिना सता विंशतिस्थानकैः तद्वन्धत इत्येवोक्तं न तु केवल-
द्वयपादान्ते षोडशभावनासमृद्धिभिः । तथा चाहुरावश्यकनिर्युक्तौ—

“पदमो तित्ययरत्तं वीसहि ठाणेहि कासीय ॥ अरिहन्तसिद्ध पवयणगुरुरेवबहुसुए तवस्तीधुं ।
वच्छलया एपसि अभिक्खनाणेवक्खामे य ॥ १७९ ॥ ईसणविणए आवस्सए म सीलवण निर-
इआरो । एणलवतवच्चियाए वेयावचे समाही य ॥ १८० ॥ अप्पुत्तनाणगहणं सुयभत्ती पवयणे पमा
वण्णा । एएदिं कारणेदिं, तित्ययरत्तं लहइ जीवो ॥ १८१ ॥” हारिभट्टीया वृत्तिः—तत्र अशोका-
द्यष्टविधमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः शास्तर इति भावार्थः ॥ १ ॥ सिद्धास्तु अशेषनि-
ष्ठितकर्मांशाः परमसुखिनः कृतकृत्वा इति भावार्थः ॥ २ ॥ प्रवचनं—श्रुतज्ञानं तदुपयोगानन्यत्वाद्वा
सह इति ॥ ३ ॥ गृणन्ति शास्त्रार्थमिति शुरुवः—धर्मोपदेशादिदातार इत्यर्थः ॥ ४ ॥ स्वविराः जाति-

श्रुतपर्यायभेदभिन्नाः । तत्र जातिस्थविरः पट्टिवर्षः, श्रुतस्थविरः समवायधरः, पर्यायस्थविरो विंशति-
 चर्षपर्यायः ॥ ६ ॥ बहुश्रुत येना ते बहुश्रुताः, आपेक्षिक बहुश्रुतत्वं, एवमर्थेऽपि सयोज्य, किन्तु सूत्र-
 धरेभ्योऽर्थधराः प्रदाना. तेभ्योऽप्युभयधरा इति ॥ ६ ॥ विचित्रमनश्नानादिलक्षण तपो विद्यते येना ते
 तपस्विनः सामान्यसाधनो वा ॥ ७ ॥ अरहन्तश्च (अर्हन्तश्च) सिद्धाश्च प्रवचन च गुरवश्च स्थविराश्च
 बहुश्रुताश्च तपस्विनश्च अर्हन्तसिद्धप्रवचनगुरुस्थविरबहुश्रुततपस्विन । वत्सलभावो वत्सलता सा चानु-
 रागयथावस्थितगुणोत्कीर्तना ययानुरूपोपचारलक्षणा तथा, एतेषामर्हदादीनामिति, प्राक् पष्ठवर्षे सप्तमी
 “वह्नुसुए तवस्सीण” या पाठान्तर, तीर्थंकरनामगोत्र कर्म बध्यत इति । अभीष्टण-अनवरत ज्ञानो-
 पयोगे च सति बध्यते ॥ ८ ॥ दर्शन-सम्यक्त्व, विनयो-ज्ञानादिविनयः स च दशवैकालिकाद्यसेयः,
 दर्शन च विनयश्च दर्शनविनयौ तयोर्निरतिचार. तीर्थंकरनामगोत्र कर्म यद्भाति ॥ ९-१० ॥ आवश्य-
 कम्-अवश्यवर्तक्य सयमव्यापारनिष्पन्न तस्मिंश्च निरतिचार. सन्निति ॥ ११ ॥ शीलानि च व्रतानि
 च शीलव्रतानि, शीलानि-उत्तरगुणाः व्रतानि-मूलगुणा. तेषु च अनतिचार ॥ १२ ॥ क्षणलवप्रहण
 फालोपलक्षण क्षणलवादिषु सवेगभावनाध्यानासेयनतश्च बध्यते ॥ १३ ॥ तथा तपस्यागयोर्बध्यते, यो
 हि यथाशक्त्या (यथाशक्ति) तप. आसेवते त्याग च प्रतिजने विधिना करोति ॥ १४-१५ ॥ व्याघृ-
 तभावो वैयाघृत्य, तथ दशधा-तस्मिन् सति बध्यते ॥ १६ ॥ समाधिः गुर्वादीना कार्यकरणेन स्वस्व-
 ताऽऽपादन समाधौ च सति बध्यते ॥ १७ ॥ तथा अपूर्वज्ञानप्रहण अपूर्वज्ञानप्रहणे सति (बध्यते)
 ॥ १८ ॥ श्रुतभक्तिः श्रुतबहुमान. स च विषयितकर्मबन्धनकारणमिति ॥ १९ ॥ यथा प्रवचनप्रभा-
 वनता च सा च यथाशक्त्या मार्गदेशनेति ॥ २० ॥ एषमेभिः कारणैः अनन्तरोक्तै. तीर्थंकरत्वं लभते
 जीव इति गाथात्रयार्थः ॥ १७९ ॥ १८० ॥ १८१ ॥ “पुरिमेण पच्छिमेण च एए सधेएवि फासिया
 ठाणा । मज्झिमएहिं जिणेहिं एक दो तिणिण सधे वा ॥ १८२ ॥ गमनिका-पुरिमेण पश्चिमेण च
 एतानि-अनन्तरोक्तानि सर्वाणि इष्टानि स्थानानि, मध्यमे. एक द्वे त्रीणि सर्वाणि चेति गाथार्थः
 ॥ १८२ ॥” त च वह वेइज्जइ ? अगिलाए धम्मदेसणाईहिं । वज्जइ त तु तइयभवे सक्कइत्ताणं
 ॥ १८३ ॥ गमनिका-तथ तीर्थंकरनामगोत्र कर्म कथ वेद्यत इति, अगलानया धर्मदेशनाविधि,
 बध्यते तत्तु भगवतो यो भवसास्नात्तृतीय भवमपसर्प्य, अथवा बध्यते तत्तु भगवत तृतीय भव प्राप्य,
 ओसणइत्ताण ति तत्तिथति उसार वाऽवसर्प्येति तस्य हुत्कृष्टा सागरोपमकोटीकोटिर्बन्धस्थिति, तथ
 प्रारम्भबन्धसमयादारभ्य सततमुपचिनोति, यावदपूर्वकरणसरवेयमागेरिति, वेचलिकाले तु तस्योदय
 इति गाथार्थः ॥ १८३ ॥” अत्र श्रीहरिभद्रसूरिभिः कोटीकोटिप्रमाणो बन्धः प्रोक्तः स
 पिशिष्टयूनत्वाविचक्षणत्वात् अवसीयते, सर्वत्र सम्यग्दृष्टेः अन्तःसागरोपमकोटीकोटिप्रमा-
 णस्य बन्धस्योक्तत्वात् ।

नैषाऽनाशुष्टिकया प्रमत्तस्योत्कृष्टतः अष्टौ वर्षाणि स्थितिवन्धः, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्र-
 माणा स्थितिः, एवमप्रमत्ते उत्कृष्टतो मुहूर्ताष्टकं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणं स्थितिवन्धं
 यभातीति पञ्चाशके तदुक्तं—

“अपमत्तसजयाणं वन्धट्ठिति होति अट्ठ व सुहुत्ता । उक्कोसेण जहण्णा भिण्णसुहुत्तं तु विण्णेया ॥ १ ॥
जे उ पमत्ताणाउट्ठियाएँ वन्धन्ति तेसि वन्धट्ठिती । सबच्छराणि अट्ठ व उक्कोसियरा सुहुत्तं तो ॥ २ ॥”
अभयदेवत्तरिकृतावृत्तिः—“अप्रमत्तसंयवानां—सप्तमगुणस्थानकवतां वन्धतः स्थितिर्द्वय कर्म-
णोऽन्यत्नं भवति स्यादष्ट तु—अष्टावेव सुहृत्तात्राडिकाद्वयमानान् उत्कर्षेण—उत्कृष्टतः, जघन्या तु
सर्गात्पा पुनर्भिन्नसुहृत्तमन्तमुहृत्तं यावत् । तुगन्दः पुनरर्थे योजित एव, विज्ञेयाऽवसेया, कपायाणां
स्थितिगन्धहेतूनां नियमानत्वादिति । ये तु—ये पुनः प्रमत्ताः—प्रमत्तसंयवाः पष्ठगुणस्थानवर्तिनः
अनाकुट्टिन्या—अनुपेत्यकरणेन प्राणातिपाताद्यै वर्तमाना वध्नन्ति आवर्जयन्ति कर्म तेषां वन्धस्थितिः
कर्मनन्धावस्थानं संरत्सरान् वर्षाणि अष्ट तु अष्टावेव उत्कर्षा उत्कृष्टा भवति, इतरा जघन्या पुनर्मु-
हृत्तान्तमन्तमुहृत्तं यावत्” इति गाथाद्वयार्थः ।

अन्यत्र शतकादौ तु सास्वादनादारभ्यापूर्वकरणान्तं यावत् अन्तःसागरोपमकोटीको-
टीप्रमाणं वन्धमुपरचयति, नाधिकाः नापि न्यूनः, तदुक्तं—

“साणाइअपुत्रन्तो अयरन्तो कोडीकोडिओ नहिगो । वन्धो नहु हीणो नय मिच्छे भवियर सन्नि-
म्भि ॥ १ ॥” व्याख्या—प्राकृतव्याभिर्देशस्य ‘साणाइ’ चि सास्वादनमादौ यस्य वत् सास्वादानि, अपू-
र्णकरणमन्ते यस्य गुणस्थानकदन्त्यस्य तदपूर्वान्तं, सास्वादानि च तदपूर्वान्तं च सास्वादानाद्यपूर्वान्तं,
वसिन् सास्वादानाद्यपूर्वान्ते गुणस्थानकदन्त्यकेऽतराणां सागरोपमाणावन्तर्मध्ये कोटीकोट्यन्तरान्तः
कोटीकोटी तस्या अन्तरान्तः कोटीकोटीतः “(७-२-८४ आद्यादिभ्य इति आद्यादेराकृतिगणत्वा-
त्तम् प्रत्ययः)” न नैयायिको वन्धो भवति, किन्तु मिथ्यादष्टेरेव भवतीति सामर्थ्याद्भवत्येव । इदमुक्तं
भवति,—सास्वादानादीनामपूर्वकरणान्तानां भिन्नप्रस्थिकत्वात् सागरोपमान्तःकोटीकोटीरूपैव स्थितिर्यु-
ज्यते, न तु परतोऽपि । ननु भिन्नप्रस्थिकानप्याश्रित्य सप्ततिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणो मिथ्यात्वस्यो-
त्कृष्टः स्थितिवन्धः कर्ममकृष्टादिषु निरूपितस्तत्कथमुच्यते भिन्नप्रस्थिकत्वाद्दन्त कोटाकोटीरूपैव स्थिति-
र्युज्यते न परतोऽपि । सत्यम्, अग्नि भिन्नप्रस्थिकानामुत्कृष्टोऽपि स्थितिवन्धः केवल परित्यज्य सम्यक्त्वं
मिथ्यादष्टिगुणस्थानरप्राप्तानमेवासौ समभवति, अत्र तु भिन्नप्रस्थिकानां सास्वादानादीनामेवान्तःसागरो-
पमकोटीकोटीपरतः स्थितिगन्धो निविध्यत इत्यदोषः । यत्पुनः “वन्धेण न बोलेइ कयाई” इति वचना-
दायत्रयकादिषु भिन्नप्रस्थिकस्य मिथ्यादष्टेरप्युत्कृष्टः स्थितिवन्धः प्रतिविध्यते तस्मैद्वान्तिवमतमेव, कार्य-
प्रस्थिकमिप्रायतस्तु भिन्नप्रस्थिमिर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टापि स्थितिर्विध्यते, केवलं तथाविधतीव्रानुभागायुक्ताऽक्षी
न भवति । ननु सागरोपमान्तःकोटीकोटीतः समगलतरः सास्वादानादीनां वन्धो माभूदधस्तात्ततो भवति
वा न वेत्याह—‘न ह्यु’ नैव हीनो—न्यूनः सागरोपमान्तःकोटीकोटीतः सक्ताशात् स्थितिवन्धो भवति । एत-
दुक्तं भवति सास्वादानादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु सागरोपमान्तःकोटीकोटीप्रमाणेव स्थितिर्भ-
वति, नाधिका नाप्युत्तेत्यर्थः । ननु यदेकेन्द्रियादिः सास्वादनगुणस्थानी भवति तदा सागरोपमत्रयादिसप्त-
भाररूपमेव स्थितिवन्ध विधत्तेऽतः सास्वादानाद्यपूर्वान्तेषु न ह्यु हीनो वन्ध इति कथं घटाकोटीमाटीकते ।
सत्यमेतत् केवलं पादाचित्सोऽसौ न सार्वदिक इति न तस्य विवक्षा कृतेति संभावयामः, अपूर्वकरणान् पर-
तोऽनिवृत्तिपरणादौ सागरोपमान्तःकोटीकोटीषोऽपि हीनः स्थितिवन्धो भवतीति सामर्थ्याद्भवत्येव । अथ कि

रासादनादिष्वेवान्तःसागरोपमकोटीकोटीतो हीनः स्थितिबन्धो न लभ्यते, आहोस्विन्मिध्यादष्टेरपि प्रति
विशिष्टस्य कस्यचिज्जन्तोऽरियाह—‘न य मिच्छे भवियरसन्निम्भि’ त्ति न च नैव ‘मिच्छ’त्ति मिध्यादष्टं
संक्षिप्तस्य प्रत्येकं सम्बन्धात्, भव्यश्चासौ संक्षी च भव्यसंक्षी तस्मिन् भव्यसंक्षिनि, इतरश्चाभव्यः ।
चाऽसौ संक्षी चेतसरंक्षी तस्मिन्नितरसंक्षिनि अभव्यसंक्षिनीत्यर्थः । आयुर्वर्जानां सप्तानां वर्गप्रकृतीः
सागरोपमान्तकोटीकोटीतो हीनो न भवति, भव्यसंक्षी मिध्यादष्टिरिति ग्रहणात् भव्यसंक्षिनिः कस्मिं
श्चित् गुणस्थानकेऽनिवृत्तिवादादसौ हीनोऽपि बन्धो भवतीत्याचष्टे, संक्षिप्तग्रहणाच्चाभ्येऽप्यसंक्षिनि ही
एव प्रतिनियतसप्तभागरूपाया एव प्रागसंक्षिनिः प्रतीत्य स्थितेर्भणनात्, अभव्यसंक्षिनि तु सागरोपमान्त
कोटीकोटीतो हीनो बन्धो न भवत्येव, यतो भिन्नप्रस्थित्यस्यैव हीनो बन्धः स्यात्, अभव्यसंक्षी चोद
ष्टतोऽपि प्रस्थित्यप्रदेशमेवाभ्येति, तदनन्तरं प्रस्थिं प्राप्य भूयोऽपि निवर्तते, निवर्त्य च प्रभूतं स्थितिबन्
धोऽस्तीति” इति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानयोरिव मतान्तरमपि ध्याच्यम्, श्रुतकेवलिना भद्रव
हुस्वामिनान्तःकोटीकोट्यभ्यन्तरवर्तिनः जन्तोः सम्यक्त्वादिसामायिकलाभानामावद्यव
निर्युक्तौ प्रतिपादनात्, तदुक्तं—“सत्तण्हं पयडीणं अन्भितरओ उ कोटिकोडीणं । काठण सा
राणं जह लहह चउण्हमण्णयरं ॥ १ ॥” श्रीमद्भरिभद्रसूरिभिरप्येऽवमेव वृत्तौ प्रतिपादि
मिति । वध्यते तत्तु भगवतः ‘तृतीयं भवं प्राप्य’ इति तु निकाचनापेक्षं ज्ञेयम् “तस्य ह्यारुह्य
सागरोपमकोटीकोटिर्वन्धस्थितिः” इत्यनिकाचनापेक्षया । “तच्च प्रारम्भबन्धसमयादारभ्य सततमु
चिनोति” इत्यनेन ध्रुवबन्धित्वं प्रतिपादितमिति । तृतीयभवं प्राप्येत्यादितः यावत् अपूर्वव
रणसंख्येयभागैरित्यन्तेनोत्कृष्टतः किञ्चिद्व्यूनपूर्वकोटिद्वयाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमं याव
वध्यते तीर्थकरनामकमेति सूचितम्, तथाहि—तीर्थकरभवादर्वाक् तृतीयभवे पूर्वकोट्य
युपा निकाच्यते, ततोऽनुत्तरेषु देवो जातः ततश्च्युत्वा चतुरशीतिलक्षपूर्वप्रमाणायुः तीर्थक
जातः, तत्रापि पूर्वमनुप्यभवसत्कः निकाचनादर्वाक्चनकालः जिनभवसत्कसहस्रवर्षमन्यूनसा
दशलक्षपूर्वकालश्चेत्येवं रूपं किञ्चिद्वूनत्वं बोध्यमिति । एतेन “तद्वन्धकालस्योत्कृष्टेनान्तर्मुहूर्ता
काष्टवर्षेनपूर्वकोटिद्वयाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपममात्रत्वात्” इति स्वकल्पनाकल्पितमिति प्रागुक्तं
स्पष्टं जातम् । न च पूर्वकोट्यायुष्कनरायेक्षयेदं कालमन्तं संभवतीति वाच्यम्, उत्कृष्टतः च
रशीतिलक्षपूर्वायुष एव जिना भवन्तीत्यनेकेषु ग्रन्थेषूपलम्भात्, किञ्च तथाभ्युपगमेऽपि के
लिनि तीर्थकरनाम्नः बन्धस्य त्वयाऽप्यनभ्युपगमेन त्वदुक्तकालमानस्य कथं सद्गतिः स्यात्
न च केचन तीर्थकराः केवलज्ञानं प्राप्यान्तर्मुहूर्त्तनैव शिवंगामिनः भविष्यन्तीति प्रथिलत्
मपि प्रकाश्यम्, जघन्यतोऽपि त्रिंशद्वर्षप्रमाणकेवलपर्यायस्याभिधानात् । किञ्चान्तर्मुहूर्त्त
भ्यधिकाष्टवर्षानन्तरमपि न सद्गतिमश्नति, तथाहि किं तीर्थकरनामकं सम्यग्दृष्टिः दे
विरतिः सर्वविरतिर्या वभाति ? आद्यपक्षेऽष्टवर्षादर्वाक् कथं न वध्यते ? तत्रापि सम्यक्त्वर
सद्भावात्, देवविरतिश्चेत् ? देवविरतित्वमपि जघन्यतो गर्भस्थकालाभ्यधिकाष्टवर्षं
लभ्यते, न ततोऽधोवर्ती, तदुक्तं श्रीमन्मलयगिरिपादः—“इह तिल कोऽपि पूर्वकोट्यायुषं
गर्भस्यो नय मासान् सातिरेकान् गमयति, जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद्देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते

वर्षाष्टकादधो वर्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्वाभाव्यात् देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात्” इति, यदि चान्तर्मुहूर्तं गर्भावस्थायामुपित्वा ततो जन्म ततो वर्षाष्टकं यावदविरतः ततो देशविरतिं सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यत इति वक्तव्ये तु निरुत्तरा वयमित्येव ब्रूमः । ननु भवन्मते पद्मार्पिकोऽतिमुक्तकुमारः पण्मासिको वज्रस्वामी भावतः प्रतिपन्नसर्वसावद्यविरतिरिति श्रूयते, तदुक्तं—“छम्मासियं छसु जयं माऊए समन्नियं वंदे” इति चेत् । सत्यम्, परं साऽऽश्चर्य-भूता कादाचित्कीति न दोषः, तदुक्तं श्रीमद्भिरभद्रसूरिभिः पञ्चचस्तुके—“तयहो परिभवलेत्तं न चरणभावो वि पायमेपसि । आहव भागदहं सुत्तं पुण होइ नायवं ॥१॥” इति । “तीर्थंकरयन्त्रप्रारंभका नराः” इति तु सत्यमुक्तं, तत्संवादिनी चैयं श्रीमद्ब्रह्माष्टुस्वामि-कृता गाथा “नियमा मणुयगईए इयी पुरिसेयरो य सुहलेसो । आसेविय बहुलेहि वीसाए अत्र-यरएहि ॥ १ ॥” इति । ‘वीसाए’ इत्यनेन प्रागुक्तं विंशतिस्थानाराधनमेव तीर्थंकरनामकर्मणः विशेषबन्धहेतुत्वमुक्तं, न केरलायाः पोडशभावनायाः कुत्रापि हेतुत्वमुक्तं, तेन “प्रथ-मोपशमिकसम्यग्त्वे स्तोत्रान्तर्मुहूर्तकालत्वात् पोडशभावनासमृद्धभावो जिनग्रन्थानारम्भे फारण” मिति प्रत्युक्तं, यदि वक्ष्यमाणतत्त्वार्थसूत्रगतकारणानामेव पोडशभावनात्वं व्यपदिश्यते तदा न वयं निराकुर्मः, परं सिद्धपूजादीनां तदकारणत्वापत्तिरिति । ‘केवलद्विकान्ते’ इत्यपि न केनचिदाचार्येणोक्तम्, अस्मदीयैः पूर्वाचार्यैः नोक्तमित्येव न, किन्तु भयसम्मत-श्रीमद्ब्रह्मास्वातिवाचक्रमुख्यैरपि नोक्तं । तथा च तद्ग्रन्थः—“दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतैर्जनविचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसवेगो शक्तिवत्स्यागतपसी सपसाधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्ह-वाचार्यनहुधुतप्रवचनमस्ति रायइयकाऽपरिहाणिमार्गप्रभावनाप्रवचनयत्सत्त्व तीर्थंकरवस्य ॥२२॥” इति । (तत्त्वार्थसूत्रम्) उमास्वातिकृष्णाक्ष्यम्—“परमप्रकृष्टा दर्शनविशुद्धिः विनयसम्पन्नता च शीलव्र-तेष्वन्यन्तिनो भृशमप्रमादोऽनतिचारः, अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगः, सवेगश्च, यथाशचित्तत्सागतपक्ष, सपस्य साधूनां च समाधिवैयावृत्त्यकरणमर्हत्वाचार्येषु च बहुधुतेषु प्रवचने च परमभावविशुद्धियुक्ता भक्तिः, सामायिकादीनां भावतोऽनुष्ठानस्यापरिहाणिः, सम्यग्दर्शनदैर्घ्यमार्गस्य निहृत्य मानं करणोप-देशाभ्यां प्रमायना, अर्हच्छासनानुष्ठापिनां श्रुतधराणां कालबुद्धवत्सिद्धिः फण्डाचार्यानां च समुद्रोपप्रहा-नुपप्रहकारितं प्रवचनवत्सत्त्वमित्येते गुणाः समस्ता व्यस्ता वा तीर्थंकरनाम्ना आश्रवा भवन्तीति ॥२३॥” अस्य श्रीमती सिद्धसेनीया वृत्तिः—“परममित्यदिदयेन सुमु प्रकृष्टा प्रकर्षपर्यन्तवर्तिनी परित्यक्त-शङ्कादिदोषाः शङ्कादयश्च वक्ष्यमाणाः सम्यग्दर्शनमलाः, वा पुनरसौ परमप्रकृष्टेत्याह दर्शनविशुद्धिरिति तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनसुखलक्षणविधानं दृष्टिः दर्शनं—तत्त्वविषया रुचिः प्रीतिः जीवादिषु प्रत्ययाव-धारणं तस्य दर्शनस्य (वि-) शुद्धिः—निर्मलता यथा नाना चित्र विचित्रमिति ह्यायोपशमिकोपशमिकशा-यिकाणां सम्यग्दर्शनानां यथास्वं नानाशुद्धिः विशुद्धिः तीर्थंकरनामकर्मण आश्रवाः ॥ “विनयसम्प-न्नता चे”ति विनीयतेऽनेनाष्टप्रकार कर्मेति विनयः, स च ज्ञानदर्शनचारित्र्योपचारभेदेन चतुर्धा, तत्र ज्ञानविनयः फालविनयबहुमानोपपानादिः, दर्शनविनयो निश्शङ्कनिष्कांक्षादिभेदः, चरणवि-नयः समितिगुप्तिप्रधानः, वपचारविनयोऽभ्युत्थानारूपप्रदानाञ्जलिप्रह्लादिभेदः, एवविधेन विन-

परिणामेन परिणतः कर्त्ता विनयसम्पन्न उच्यते, तद्भावो विनयसम्पन्नता, सा च तीर्थकरनामकर्मण
 आश्रयः, चशब्दः समुच्चयार्थः ॥ “तथा शीलव्रतेष्वात्यन्तिको भृशमप्रमादोऽनतिचारः,” शीलमुत्त-
 रगुणाः पिण्डविशुद्धिसमितिभावनादयः प्रतिमाऽभिग्रहलक्षणा मुमुक्षोः समाधिहेतुत्वात् शीलशब्दाभि-
 धेयाः, व्रतग्रहणात् पञ्च महाव्रतानि रजनीभक्तविरतिपर्यवसानलक्षणान्याक्षिप्तानि, शीलानि च व्रतानि
 च शीलव्रतानि, तेऽपि तद्विषयः आत्यन्तिकोऽत्यन्तभावः संयमप्रतिपत्तिकालादारभ्य यावदायुषः
 क्षयस्तावदविश्रान्त्या भवत्यात्यन्तिकोऽप्रमादः सम्बन्धः, ‘भृश’मिति प्रकर्षवचनः प्रष्टोऽप्रमादो भृश-
 मप्रमादो विकटेन्द्रियविकथाकपायनिद्रालक्षणः पञ्चधा प्रमादः, अनेन ह्याविष्टो जीवः कार्याकार्य-
 विमुक्तत्वादायाकर्मो वि प्राणातिपातादि वा परिहर्तुमक्षमो भवति, न प्रमादोऽप्रमादः प्रमादपरिवर्जनम-
 प्रमत्तता अनतिचार उच्यते, अतिचरणमतिचारः स्वकीयागमातिक्रमः, नातिचारोऽनतिचारः उत्सर्गा-
 पयादात्मकसर्वज्ञप्रणीतसिद्धान्तानुसारितया शीलव्रतविषयमुत्पन्नमित्यर्थः, एतच्च तीर्थकरनामकर्मण
 आश्रयः ॥ “अभीक्ष्णं ह्यानोपयोगः” इति अभीक्ष्णं—मुहुर्मुहुः प्रतिक्षणं, ह्यानं—द्वादशाङ्गप्रवचनं प्रदी-
 पाङ्कुशप्रसादप्लवस्थानीयं तत्रोपयोगः प्रणिधानं सूत्रार्थोभयविषय आत्मनो व्यापारः तत्परिणामतेति
 यावत् याचनापृच्छनानुप्रेक्षाप्रायधर्मोपदेशैरभ्यसनं तीर्थकरनामकर्मण आश्रयः ॥ “सवेगश्चेति” अभी-
 क्ष्णमिति सम्बन्धयते, चशब्दः समुच्चितौ, सवेजनं सवेगो मीतिः विचलनं वा ससारदुःखात् जाति-
 जरामरणस्वभावात् प्रियविप्रयोगादेश्च, भयपरिणामः प्रतिक्षणं जगत्प्रयानित्याशुचित्वादिचिन्तनाच्च
 सांसारिकमुखेष्वनभिलाषः तत्प्रवणपरिणामात् विचलनं सवेगः स चामीक्ष्णं तादृशः परिणामः समु-
 पजायमानः तीर्थवरनाम्न आश्रयः ॥ “यथाशक्तितत्यागः” इति यथाऽस्वानुरूपा शक्तिः सामर्थ्यं
 सत्त्वोत्कर्षः यथाशक्तिः तत्पूर्वकः त्यागः स्वानुरूपशक्त्यपेक्षः स्वस्य न्यायाजिस्वतानुक्तेष्वपानिर्जितात्मनो-
 महालम्पनं भूतेभ्यः, विशेषतस्तु विधिना यतिजनाय दानं त्यागः तीर्थकरनामकर्मण आश्रयः ॥ ‘तप-
 श्चे’ति यथाशक्तिरित्यभिसम्बन्धयते, धर्मणः स्थापनात् शोपणात् तपः तद्विधाऽन्तर्बहिर्भेदात्, पुनरे-
 वैकं षोढा प्रायश्चित्तादिभेदान् अनशनानिभेदाच्च, तत्स्यसामर्थ्यापेक्षम्—नुष्ठीयमानं लोकपटितपूजा-
 भिलाषतृष्णानिरपेक्षेण चेत्तसा तीर्थकरनामकर्मण आश्रयः ॥ सङ्गः समूहः सत्यकत्वज्ञानचरणानां
 तद्वाधारश्च साध्यादिः चतुर्विधस्तस्य समाधानं—स्वस्थता निरुपद्रवत्वं समाधिः तस्य वरणं जननं—वृत्ता-
 दनं तत्करोति, येन ज्ञानदर्शनचरणानां वृद्धिः भवति दिवसमनावाधश्च, साधुसयतीदेशयतिपुरुषयो-
 पितः, ज्ञानदर्शनपारित्रलक्षणाभिः पौरुषेयीभिः दत्तिभिः मोक्षं साधयन्तीति साधवः, तेषां च वैद्या-
 धृत्यकरणं व्यावृत्तः तत्कार्यानुष्ठानप्रवणः—तस्य व्यावृत्तस्य भावो वैद्यावृत्त्यं साधूनां मुमुक्षूणां प्रासुकाहा-
 रोपशिक्ष्यासत्या भेषजविश्रामणादिषु पूर्वत्र च व्यावृत्तस्य मनोवाक्यैः शुद्धपरिणामो वैद्यावृत्त्यमुच्यते,
 चशब्दः समुच्चये, अथवा सपभट्टारकस्य समाधुत्पादनम्, भावः चित्तपरिणामः परमार्थो भावः
 तस्य विशुद्धिः—निर्मलता, अथवा परमा चासौ भावशुद्धिश्च तद्युक्ता भक्तिः स्वगुणसन्दोहोत्कृष्टसमस्त-
 सुरासुरपुरुषेश्वरेष्वनित्यसामर्थ्येषु सन्मार्गोपदेशात् परमोपकारिषु प्रष्टमनःपरिणामशुद्धिपूर्विका भक्तिः
 सद्भूताविशयोत्कीर्तनवन्दनसेवापुष्पपूगन्धान्धर्पनायतनप्रतिमाप्रतिष्ठापनस्नपनविधिरूपा तीर्थकर-
 नामकर्मण आश्रयः ॥ पञ्चविधाचारानुष्ठानात् यतिजनाचरणीयोपदेशाद्वाऽऽचार्या धर्मोपदेशदी-

क्षेत्रतोपदेशदिग्वाचका वा भवन्त्याचार्याः, अत्रैव धृत्याचनाचार्यत्वादुपाध्यायमक्षणम्, अज्ञान-
 द्वप्रकीर्णकाद्यनेकश्रुततदर्थोभययोगात् बहुश्रुताः, प्रोच्यन्ते अनेन जीवादयः पदार्था इति प्रयचनमागमः
 श्रुतज्ञानं, चशब्दः समुच्चये, एतेषु परमभावविशुद्धा भक्तिः यथासंभयमभिगमतन्मदनपयुपासनयथा-
 विहितक्रमपूर्वकाध्ययनश्रवणश्रद्धानलक्षणा तीर्थंकरनामकर्मण आश्रयः ॥ “मामायादीनामि” त्यादिः
 अरक्तद्विष्टः समः तस्यायो लाभः चरणज्ञानदर्शनप्राप्तिः स प्रयोजनमस्येति सामायिकं सकलमात्र-
 निरतिलक्षणं, प्रतिक्रमणकादि—तदादिर्येपामावश्यकानां तानि सामायिकादीनि तेषां सामायिकादीना-
 मावश्यकानामवश्यमहोरात्राभ्यन्तरे कर्तव्यान्त्यावश्यकान्यवश्यतयाऽनुष्ठेयानि, तानि च सप्तदश-
 विधानि संयमविषयव्यापाररूपत्वादानेकप्रकाराणि इच्छामिष्यातथाकारादीनि तेषां मानवोऽनुष्ठान-
 स्थापनिहाणिः ‘भावत’ इति तदुपयोगानन्यत्वकथनम्, अनुपयुक्तस्य हि सर्वक्रियाऽनुष्ठानं द्रव्यमात्रत्वात्
 शुभमन्धलिर्जराकलशून्यमेव प्रवचने च ध्रुवते, न सद्भावाविहितचेतसो यदनुष्ठानकरणं तस्यापरिहाणिः,
 यथाविहितकालासेवनमन्यूनानतिरिक्ततयैवेमेपा आवश्यकपरिहाणिः तीर्थंकरनामकर्मण आश्रयो
 भवति ॥ ‘सम्यग्दर्शने’ त्यादि, तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं सकलगुणाधारः तदादिर्यस्यासौ तदादिः
 तस्य सम्यग्दर्शनादेः—मोक्षमार्गस्य, सकलकर्मक्षयः अनन्तकालमात्मनः स्वात्मन्यवस्थानं मोक्ष(न्)म्य-
 मार्गः पन्थाः प्राप्नुपायो ज्ञानक्रियालक्षणः तस्य प्रभावना प्रत्यापनं प्रकाशनं, केन प्रकारेणेत्याह—“निदृत्य
 मानं करणोपदेशाभ्यां” इति मानोऽहङ्कारः स च ज्ञात्यादिस्यानेद्भूतः श्रेयोनिपातकारी, यथाह—“धृत-
 शीलविनयसंदूषणस्य धर्मार्थकामविभ्रंस । मानस्य कोऽवकाशं मुहूर्त्तमपि पण्डितो दद्यात् ॥ १ ॥”
 तमेवविधिं मानं न्यक्कृत्य करणं स्वयमनुष्ठानं श्रद्धतः कालविनयगुमानाद्यासेवनं भूलोत्तरगुणप्रपञ्चा-
 नुष्ठानं चेति उपदेशोऽन्वक्ष्ये प्रतिपादनं घट्टुविषयिद्वज्जनसमितिषु स्याद्वादादिन्यायावष्टम्भेन प्रसभमपटव्य
 प्रतिभामेकान्तवादिनामर्हत्प्रणीतस्यानवयस्य सर्वतो भद्रस्य मार्गस्यैकान्तिकात्यन्तिकनिरतिशयापाद्यक-
 ल्याणकलस्य प्रकाशनं प्रभावना सा सत्त्वेपा तीर्थंकरनामकर्मण आश्रयः ॥ “अर्हदित्यादि” यन्दनन-
 मस्कारपूजासत्कारार्हाः अर्हन्स्तेषां शासनमुपदेश आगमायः तदनुष्ठायिनाभागमविहितक्रियानुष्ठा-
 पिनां धृतधराणामित्यनेन स्वयमधिगतज्ञानानामिति प्रतिपादयति, परप्रत्ययानुष्ठायित्वं निषेधयति,
 अधीतप्रवचनार्यो हि विदितोत्सर्गापवादप्रपञ्चः स्वातन्त्र्यात् क्रियात्रष्टौ न व्याह्रियते, पाटः ह्रुत्कः
 कारणप्रमाजितो जघन्यादिभेदः, आतिश्रुतपर्यायस्यविराः त्रयः पट्टिर्वर्षः, समवायधरो, मत्वारोपणो-
 त्तरकालं निशतिवर्षश्च यथाक्रमं वृद्धः, तपो बाह्यमनशानादि, आन्तरं च प्रायश्चित्तादि तदस्यास्तीति
 तपस्वी, विचित्रं वा तपः वनकरजमात्यादिभेदं वक्ष्यमाणं तद्योगात् तपस्वी, शिक्षत इति शिष्यः,
 शिक्ष एव शैश्वं स्वार्थे अण् प्रज्ञादित्वात्, शिक्षणशीलो वाच्छान्तादिपाठात् सः (अण्) प्रत्ययः शैश्वः सूत्रा-
 र्थाधिगमेऽभियुक्तो यथाविहितकालमध्येतव्ये श्रोतव्ये बाभ्रुद्यत इत्यर्थः, ग्लानो मन्दपाटवः सञ्चाधिक-
 त्वात् भक्तपानाचन्वेपणे न प्रत्यलः, आदिप्रहणात् कुलगणसमनोक्षपरिमहः, चशब्दः समुच्चये, धृतध-
 राणां बालादीनां च संग्रहादिवारित्वं, तत्र समग्रः परिग्रहणं उपसम्पन्नालोचनापूर्वकं संयमानुष्ठानमुना-
 ध्ययनचोदनाप्रतिचोदनार्थं, उपग्रहो वस्त्रपात्रोत्पादनगुणश्रेयान्तिविलक्षणः, अनुग्रहः भक्तपानयथा-
 योग्यविकृतिप्रदानादिलक्षणः एतत्करोति तच्छीलश्च तद्भावः सप्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं तत्परिणानि-

तेति यावात्, प्रवक्षीति प्रवचनमेव एव श्रुतधरादयो भगवद्भाषितार्थप्रतिपादनपरिणताः प्रवचनशब्द-
वाच्याः तेषु वात्सल्यमुक्तं संप्रहोपप्रदानुग्रहलक्षणम्, इतिशब्द आद्यर्थः, विंशतेः कारणानां सूत्रका-
रेण किञ्चित्सूत्रे, किञ्चिद्भाष्ये, किञ्चिदादिग्रहणात् सिद्धपूजाक्षणलवभ्यानभावनाख्यमुपात्तमुपयुज्य
एव प्रवक्त्रा व्याख्येयमिदानीमुपसंहरति—“एते गुणाः” इत्यादिना, एते ययोदिष्टा गुणा दर्शनविशुद्ध्या-
द्य आत्मनः परिणामाः समुदिताः प्रत्येकं च तीर्थंकरनामकर्मण आश्रवा भवन्ति न पुनः निय-
मोऽस्ति समस्ता एव व्यस्ता एव वा, विकल्पार्थो वाचब्दः, इतिशब्दः तीर्थंकरनामकर्माश्रवेयत्ताप्रति-
पादनार्थमिति ॥ २३ ॥” इति ।

ननु तिरश्चां सम्यक्त्वसद्भावेऽपि भवप्रत्ययादेव तथाविधाध्यवसायाभावात् तीर्थंकर-
नामकर्मबन्धो माऽस्तु, परं नरकभवे श्रेणिकादीनामिव ध्वजमानत्वेन पङ्कप्रभादिषु भवप्र-
त्ययात् न ध्वज इति वक्तुं न शक्यते, सम्यक्त्वस्य सद्भावेन च ‘तदभावात् न ध्वजतः’
इत्यपि न युज्यते वक्तुमतस्तत्र कोऽप्यन्यो हेतुः बन्धाभावे वक्तव्य इति चेत् ? श्रूयतां,
क्षेत्रमाहात्म्येन तत्र जिननामबन्धयोग्याध्यवसायाभावात् न ध्वजते । नचैतत् स्वमनीषिकया
विजृम्भितम्, किन्तु बन्धस्यामित्ववृत्त्यनुसारेणोक्तं, तथाहि—“तीर्थंकरनामोऽपि पङ्काइसु”
इति पङ्कप्रभाधूमप्रभातमःप्रभासु मन्तव्यमिति शेषः, अत्र पृथिवीत्रये तीर्थंकरनामनिमित्तसम्यक्त्वस-
द्भावेऽपि क्षेत्रमाहात्म्येन तथाविधाध्यवसायाभावात् तीर्थंकरनामकर्मबन्धो नास्ति” इति । भुवनपति-
व्यन्तरज्योतिष्केषु तु सम्यक्त्वादिसद्भावेऽपि तीर्थंकरनामा तत्र न गच्छतीति न ध्वजते,
तदुक्तं—“जिनकर्मसत्ताकस्य तेषूपपादाभावेन तत्र सद्बन्धाऽसंभवात्” इति । ननु कस्मान्न गच्छ-
तीति चेत् ? ततो निर्गत्य तीर्थंकरा न भवन्तीति हेतोः, तदुक्तं—“वेमाणिय हुन्ति हरिअ-
रिहा” इति । ननु वैमानिकनैरयिकाभ्यां एव तीर्थंकराः भवन्ति न भुवनपत्यादिभ्य इति
कथमुच्यते इति चेत् ? युक्तिवशाज्जिनवचनाच्च, तथाहि—अविराधितगुणाः सम्यग्दृष्टयो
मनुष्या वैमानिकदेवसत्कमेवायुष्कं वध्मन्ति न शेषायुष्कं, तदुक्तं—“सम्मदिट्ठी जीवो गच्छइ
नियमा विमाणवासीसु । जइ न चइय सम्मतो अहव न यद्दाडओ पुधि ॥ १ ॥” इत्यतो भुवन-
पत्यादिषु न गच्छन्ति । ननु तुर्यगुणस्थानवर्तिनः नरकायुष्कबन्धाभावेन नरकेष्वपि गमना-
भावात् ततो निर्गत्य कथं जिना भवन्तीति चेत् ? सत्यम्, ‘येन प्राग्मिश्चादृष्टौ
घटं प्रथमत्रयपृथ्वीनरकायुष्कं पश्चात् सम्यक्त्वप्राप्तावपि गत्यन्तराभावेन ‘वेदक-
सम्यग्दृष्टिश्चेत् मिथ्यात्वे गत्वा पश्चात् नरकं प्रजति, क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्चेत् ससम्यक्त्वो
गच्छतीति’ कृत्वा तन्निर्गता जिना भवन्तीति । नन्वविराधितगुणाः सम्यग्दृष्टयः भुव-
नपत्याद्यायुष्कं न वध्मन्ति तर्हि उदायिनृपतिः वद्धजिननामा कुत्र गतः ? न च नर-
कगतौ संभाष्यते, पापघ्नते पञ्चरवप्राप्तेः, नापि तीर्थंइमनुष्यगत्योः, ततो निर्गत्य तीर्थ-
करत्वानुपपत्तेः, नापि वैमानिकेषु गतः संभवति, यतो वैमानिकेषु जघन्यतोऽपि पत्यो-
पमप्रमाणमायुष्कं, तृतीयजिनभवने तु साधिकाष्टपट्टिसहस्राधिकलक्षवर्षप्रमाणमन्तरम-
स्तीति तत्र गमने तृतीयजिनः कथं भवति ? भुवनपत्यादिषु गमने ‘त्वविराधितगुणाः भुव-

नपत्याद्यायुष्कं न वधन्तीति, धैमानिकेभ्य एव जिना भवन्तीति, भुवनपत्यादिषु जित-
नाम न वधन्तीति, विरोधत्रयं संभवतीति चेत् ? सत्यम्, सम्यक्त्वप्राप्तेरर्वाग् भवनपत्या-
युष्कं वद्धं संभाव्यते, तत्र गमने च जिननामकर्मवन्धेऽपि न क्षतिः, नापि धैमानिकेभ्य
एव जिना भवन्तीत्यपि विरोधः, भुवनपत्यादिभ्योऽपि केचन जिना भवन्ति, तथापि
कादाचित्कत्वेन न विवक्षा कृतेति संभाव्यते, तदुक्तं प्रज्ञापनाविंशतितमपदवृत्तौ—
“वसुदेवचरीत्रे पुनः नागकुमारेभ्योऽप्युद्धृतोऽन्तरमेरुवत्क्षेत्रेऽस्यामेवावसर्पिण्यां चतुर्विंशतितम-
स्तीर्षद्वर उपदर्शितः तदत्र सत्त्वं केवलिनो विदन्ति” इति । एवं चरमतीर्थपतेः पितृव्यः भावी
द्वितीयजिनः सुपार्श्वोऽपि वक्तव्य इति । ननु जिननामसत्ताको द्वितीयतृतीयगुणस्थानयोः
कथं न गच्छतीति चेत् ? स्वभावादिति प्रागुक्तमेवेति । आशाम्यरमते नेमिश्चन्द्रो द्विती-
यगुणस्थाने जिनाहारकद्विकोभयाभावमिच्छति, तदुक्तं गोम्मटसारे गुणस्थानसत्ताधि-
कारे—“तित्याहारा जुगथं सधं तित्थं न मिच्छगादिति । तत्सत्तकम्मियाणं तगुणद्वान् ण संभवदि
॥ १ ॥” वृत्तिः—“मिध्यादृष्टौ तीर्थकृत्यसत्त्वे आहारद्वयसत्त्वं न, आहारकद्वयसत्त्वे च तीर्थकृत्यसत्त्वं
न, उभयसत्त्वे तु मिध्यात्वाश्रयणं न, तेन तद्व्यं तत्र गुणपदेकजीवापेक्षया न, नानाजीवा-
पेक्षयाऽस्ति, ततोऽष्टचत्वारिंशदुत्तरशतं सत्त्वं । सास्वादने तदुभयमपि एकजीवापेक्षयाऽनेकजी-
वापेक्षया च क्रमेण युगपद्वा सत्त्वं नेति पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशतं । मिथे तीर्थकरसत्त्वं नेति सप्तच-
त्वारिंशदुत्तरशतम्, कुतः ? तत्सर्वकर्मणां जीवानां तद्गुणस्थानं न संभवतीति कारणात्” इत्युक्तं
तदपि नागमाऽविरोधि, यतो द्वितीयतृतीयगुणस्थानयोः तीर्थकरवर्जं सप्तचत्वारिंशदु-
त्तरशतप्रकृत्यात्मकस्यैव सत्त्वस्य सर्वत्राभिधानात्, तदुक्तं—“तित्थयरेण विहीणं सीयाल-
सयं तु सन्तप होइ । सासावणंमि गुणे सम्मासीसे य पयडीणं ॥ १ ॥” इति बृहत्कर्मस्तय-
भाष्ये, “वितिगुणे विणा तित्थं” इति नव्यशतकेऽपि । किञ्चाहारकद्विकासत्त्वे आहारकव-
न्धनाहारकसङ्घातनयोरपि सत्त्वं न स्यात् प्रयोजनाभावात् यत् आहारकद्विकवन्धे
तयोरवश्यं बन्धः, उदये उदीरणायां च सत्यां तयोः उदयोदीरणेऽपि स्तः, तदुद्धलने
तयोरप्युद्धलनं, तत्सत्त्वे तयोरवश्यं सत्त्वं, तदभावे तयोरप्यभायः, एवं वैक्रिय-
द्विकेऽपि भावनीयम् । एतेन “विदुइगिणउदीणउदीअहचवदोअहियसीदिसीदीय । ऊणासी-
ददुत्तरी सत्तत्तरि दस य नव सत्ता ॥ १ ॥” व्याख्या—त्रिनवतिर्द्वानवतिरेकनवतिर्नवतिरष्टासीति-
ध्वजुरतीतिर्द्व्यशीतिरिणीतिरेकोनाशीतिरष्टसप्ततिः सप्तसप्तविंश नव च प्रकृतयः नामकर्मसत्त्वस्थानानि
त्रयोदश भवन्ति ॥ १ ॥ तेषामुत्पत्तिमाह—“सधं तित्याहारकमयऊणं सुरणिरयमणुयदुचारिदुगे । चंढिदे
हदेचनु तेरे जोगिरस दसणकयं ॥ २ ॥” व्याख्या—सर्वनामप्रकृतयः प्रथमं, तदेव तीर्थाहारद्वयतदु-
भयैः क्रमेणोनिर्तं द्वानवतिकैकनवतिकनवतिकत्वं प्राप्नोति । तत्रवतिकं पुनः सुरद्विकं पुनः नारकचतुष्कं
(नारकद्विकयैक्रियद्विकरूपे) पुनः मनुष्यद्विकं चोद्धलितेऽष्टाशीतिकचतुरशीतिकद्व्यशीतिकत्वं । पुनः
तानि त्रिनवतिकादीनि चत्वारि “गिरयतिरिक्खदुवियल”मित्यादि त्रयोदशसु क्षपितेषु अशीतिकै-
कोनाशीतिषाष्टसप्ततिकसप्तसप्तविकत्वं । दशकं नवकं चायोगिकेवलिन ॥ २ ॥” इति नेमिच-

न्द्रोक्तानि नामकर्मणः सत्त्वस्थानान्यपि स्वमतिपरिकल्पितानि प्रतिभान्ति, यतः सर्वनाम-
प्रकृतिसमुदायः त्रिनवतिप्रकृत्यात्मकं प्रथमं सत्त्वस्थानं भवति, तदेव तीर्थकरनामोनि-
द्वितीयं द्विनवतिप्रकृत्यात्मकं भवति, प्रथममेवाहारकचतुष्कविहीनमेकोननवतिप्रकृत्या-
त्मकं सत्त्वस्थानं भवति, आहारकद्विकाभावे आहारकसंघातनाहारकबन्धनयोरप्यभावात्
एकनवतिकं न प्राप्यते । आहारकचतुष्कजिनोभयविहीनमष्टाशीतिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं
भवति, न नवतिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति, त्रिनवतेः पञ्चप्रकृतीनामपनीतत्वात् । देव-
द्विके उद्धलिते अष्टाशीतिमध्यात् पञ्चशीतिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति । ततो नरकद्विक-
वैक्रियचतुष्के च युगपदुद्धलिते अष्टाशीतिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति, अतो नारकचतुष्के
उद्धलिते चतुरशीतिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं न भवति । मनुष्यद्विके उद्धलिते अष्टाशीतिप्रकृ-
त्यात्मकं अष्टसप्ततिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति । त्रिनवतिसत्ताकस्य त्रयोदशप्रकृतिक्षपित
अष्टाशीतिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति । द्विनवतिसत्ताकस्य त्रयोदशक्षये एकोनाशीतिप्रकृ-
त्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति । एकोननवतिसत्ताकस्य त्रयोदशक्षये पदसप्ततिप्रकृत्यात्मकं सत्त्व-
स्थानं भवति । अष्टाशीतिसत्ताकस्य त्रयोदशक्षये पञ्चसप्ततिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति ।
अयोगिनि नवप्रकृत्यात्मकं अष्टप्रकृत्यात्मकं च सत्त्वस्थानं भवति । तदेवं भाव्यमानानि
द्वादशैव भवन्ति, न त्रयोदशेति । यत्तु “तीर्थाहारोभयसत्त्वे मिध्यात्वस्य, तीर्थाहारयोरन्य-
तरसत्त्वेऽनन्तानुबन्धिनां, तीर्थसत्त्वे सम्यग्मिध्यात्वस्य चानुदयत्वं” हेतुत्वेनोपन्यस्तं, तदपि
न सम्यक्, यतः सास्वादने मिध्यात्वानुदयेऽप्युभयसत्त्वाभावो, मिध्यादृष्टौ च तीर्थकराहार-
कयोरन्यतरसत्त्वेऽप्यनन्तानुबन्धिनामुदयो, मिथस्थानुदयेऽपि सास्वादने तीर्थासत्त्वमिति ।
यत्तु “योनिमन्मनुष्ये ॥ क्षपकश्रेण्यां न तीर्थं, तीर्थसत्त्वयतोऽप्रमत्तादुपरि स्त्रीवेदित्वाऽसंभवात्” इति
गोम्मदसारघृष्टिकर्त्रोक्तं तदपि न सम्यक्त्वमश्नुति, स्त्रीत्वे एकोनविंशतितमतीर्थपतिभय-
नात् । ननु त्वयापि प्रोच्यते पुरुषोत्तमा एव जिना भवन्ति, एकोनविंशतितमो जिनः स्त्री-
त्वेनोत्पन्नसत्त्वाश्चर्यमिति चेत् ? सत्यम्, आश्चर्यमपि तदेव भवति यदनन्तानन्तकालेनापि
भवितुं योग्यं, नान्यत्, अन्यथाऽभव्यस्यापि मुक्तिगमनप्रसक्तेः, आश्चर्यं तु अनन्ताभिरु-
त्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः कालेन भवनादिति ॥

प्रकृतं प्रस्तुतम्—यद्वा जिनयुतं मनुष्यगतिप्रायोग्यं त्रिंशद्बन्धं धम्रतां श्युत्तरशतसत्क-
र्मणां देवानां श्युत्तरशतप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं संक्रमयति, नारकाणामपि एतद्बन्धस्थानं
भवति, तथापि सत्त्वस्थानं पण्णवतिप्रकृत्यात्मकमेव भवति, तीर्थकराहारकसत्कर्मणो नार-
कपृत्पादाभावात् । ततो नारकाणां देवानां च पण्णवतिसत्कर्मणां त्रिंशद्बन्धं धम्रतां
पण्णवतिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं संक्रमयति । देवगतिप्रायोग्यमेकोनत्रिंशद्बन्धं धम्रतां
श्युत्तरशतसत्कर्मणां मनुष्याणां जिननामकर्मणः बन्धावलिकायामपगतायां श्युत्तरशतं
संक्रामति, बन्धावलिकायामनपगतायां च श्युत्तरशतं संक्रामति । पण्णवतिसत्ताको
मनुष्यो देवप्रायोग्यकोनत्रिंशद्बन्धको जिननामकर्मणो बन्धावलिकायामपगतायां पण्णवतिं

संक्रामति । बन्धावलिकायामनपगतायां स एव पञ्चनवति संक्रामति । मनुष्यगतिप्रायोग्यै-
कोनत्रिंशद्बन्धका देवनैरयिकाः द्युत्तरशतसत्ताकाः द्युत्तरशतं, पञ्चनवतिसत्ताकाः पञ्चन-
वति संक्रामन्ति । द्युत्तरशतसत्ताकानां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां देवप्रायोग्याष्टाविंशति
बन्धकानां द्युत्तरशतं संक्रामति । पञ्चनवतिसत्ताकानां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां देवप्रायो-
ग्याष्टाविंशतिबन्धकानां पञ्चनवतिसत्स्थानं संक्रामति । सत्तानि सम्यग्दृष्टिसत्तानि संक्रम-
स्थानानि ॥

एकेन्द्रियवर्जपर्याप्ततिर्यग्गतिप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धं बध्नातां चतुर्गतिकानां मिथ्यादृष्टीनां पञ्च
सत्त्वस्थानानि संक्रामन्ति, तद्यथा—द्युत्तरशतं पञ्चनवतिस्त्रिनवतिश्चतुरशीतिर्द्व्यशीतिश्च
तत्र पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धं बध्नातां देवनारकाणामाद्यद्वयं सत्त्वस्थानं
संक्रामति । पर्याप्तविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धका एकेन्द्रियादयः तिर्यक्प-
ञ्चेन्द्रियपर्ययसानाः पञ्चापि संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । मनुष्यास्तत्प्रायोग्यबन्धका आद्यानि
चत्वारि स्थानानि संक्रामन्ति । सास्वादनाः चतुर्गतिका अपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यत्रिंश-
द्बन्धका भवन्ति । तत्र मनुष्याणामुपशमश्रेणितः प्रतिपातसम्भवेन द्युत्तरशतं पञ्चनवतिरिति
सत्स्थानद्वयं संक्रामति । शेषाणां श्रेण्यभावतः पञ्चनवतिप्रकृत्यात्मकमेकमेव संक्रामति ।
एकोनत्रिंशद्बन्धकानां मिथ्यादृष्टीनां षट् संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति, तद्यथा—द्युत्तरशतं
पण्णवतिः पञ्चनवतिः त्रिनवतिः चतुरशीतिर्द्व्यशीतिः । तत्र पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं
मनुष्यप्रायोग्यं वैकोनत्रिंशद्बन्धं बन्धकानां देवानां द्युत्तरशतं पञ्चनवतिरिति द्वयं संक्रा-
मति । नारकाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यमेकोनत्रिंशद्बन्धं बध्नातामेकमेव । मनुष्यप्रायोग्यं
एकोनत्रिंशद्बन्धं बध्नातां नारकाणां द्युत्तरशतं पण्णवतिः पञ्चनवतिरिति त्रीणि सत्स्थानानि
संक्रामन्ति । तत्र पण्णवतिं बद्धजिननामा अपर्याप्तावस्थायां संक्रामति । शेषा सर्वापि भावना
त्रिंशद्बन्धकयदेकोनत्रिंशद्बन्धकेऽपि वक्तव्या, नवरमेतद्बन्धस्थानं मनुष्यप्रायोग्यमपि भव-
ति । तत्र चतुरशीतिसत्कर्मणां तिरश्चां बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे द्व्यशीतिसत्स्थानं संक्रा-
मति, तत ऊर्ध्वं चतुरशीतिसत्त्वस्थानं संक्रामति । मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धकानां मिथ्य-
दृष्टीनां देवनारकाणां पञ्चनवतिः द्युत्तरशतमिति सत्स्थानद्वयं संक्रामति ॥ देवप्रायोग्याष्टा-
विंशतिबन्धकानां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनां सास्वादनसम्यग्दृष्टीनां च द्युत्त-
रशतं पञ्चनवतिरिति द्वयं संक्रामति । तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सास्वादनानां पञ्चनवतिप्रकृ-
त्यात्मकमेकमेव संक्रामति । उभयगुणवर्तिनां मनुष्याणां सत्स्थानद्वयमपि संक्रामति । अष्टा-
विंशतिबन्धकानां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनां पञ्च संक्रमस्थानानि संक्राम-
न्ति, तद्यथा—द्युत्तरशतं पण्णवतिः पञ्चनवतिः त्रिनवतिश्चतुरशीतिश्चेति । तत्र नरक-
गतिप्रायोग्यां देवगतिप्रायोग्यां चाष्टाविंशतिबन्धकानां द्युत्तरशतसत्कर्मणां पञ्चनवति-
सत्कर्मणां वा द्युत्तरशतं पञ्चनवतिश्च क्रमशः संक्रामति । नरकद्विकवर्जानां त्रिनवति-
सत्ताकानां देवगतिप्रायोग्यमष्टाविंशतिप्रकृतिबन्धं कुर्वतां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां देवद्विकवै-

क्रियसप्तकयोर्वन्धावलिकायाः परतो वर्तमानानां त्रिनवतिः संक्रामति । बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे तु चतुरशीतिः संक्रामति । तेषामेव पञ्चनवतिसत्ताकानां देवद्विकस्य बन्धावलि-
काया अभ्यन्तरे वर्तमानानां त्रिनवतिः संक्रामति । यद्वा देवद्विकवर्जत्रिनवतिसत्ताकानां
मिथ्यादृष्टितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां नरकद्विकवैक्रियसप्त-
कयोः बन्धावलिकाया ऊर्ध्वं वर्तमानानां त्रिनवतिः संक्रामति । तेषामेव बन्धावलिकाया
अभ्यन्तरे वर्तमानानां चतुरशीतिः संक्रामति । तेषामेव पञ्चनवतिसत्ताकानां नरक-
द्विकस्य बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानानां त्रिनवतिः संक्रामति । एवमेव मनुष्या-
णामप्यष्टाविंशतिबन्धकानां वाच्यम् । केवलं नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां द्वाद्वितीय-
करनामकर्मणां नरकाभिमुखानां षण्णवतिरपि संक्रामति ॥ पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशति-
बन्धकानामेकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियतिरश्चां द्युत्तरशतं पञ्चनवतिस्त्रिनवतिश्चतुरशीतिर्द्व्यशीति-
रिति पञ्चापि तत्तत्सत्कर्मणां संक्रामन्ति । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिबन्धकानां मनु-
ष्याणां द्व्यशीतिवर्जानि चत्वारि संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । तत्प्रायोग्यबन्धकानां देवानां
द्युत्तरशतं पञ्चनवतिरिति स्थानद्वयं संक्रामति । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिबन्धकाना-
मेकेन्द्रियादितिरश्चां द्युत्तरशतं पञ्चनवतिस्त्रिनवतिः चतुरशीतिः द्व्यशीतिरिति पञ्चसंक्र-
मस्थानानि संक्रामन्ति । तत्स्थानबन्धकानां मनुष्याणां पुनर्द्व्यशीतिवर्जानि तान्येव चत्वारि
संक्रामन्ति । देवानां पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिबन्धकानां द्युत्तरशतं पञ्चनवतिरि-
त्येवैकं सत्स्थानद्वयं संक्रामति । अपर्याप्तद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यपञ्चविंशतिब-
न्धकानामेकेन्द्रियादितिरश्चां प्रागुक्तानि पञ्चापि संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । तत्प्रायोग्य-
पञ्चविंशतिबन्धकानां मनुष्याणां द्व्यशीतिवर्जानि चत्वारि संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति ॥ अप-
र्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यत्रयोविंशतिबन्धकाः पञ्चेन्द्रियपर्यवसानाः तिर्यश्चो द्युत्तरशतपञ्चनवति-
त्रिनवतिचतुरशीतिर्द्व्यशीतिरूपाणि पञ्च संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । मनुष्या द्व्यशीतिव-
र्जानि चत्वारि संक्रामन्ति । तदेवमुक्तानि नामकर्मणः संक्रमस्थानानि ॥

॥ नाम्नः संक्रमस्थानानि ॥

| | | | |
|-----|--|----|---|
| १०१ | सर्वप्रकृतिसमुदायः | ८८ | त्रयोदशसु क्षीणास्वेकोनवतिसत्ताकस्य |
| १०२ | त्रिनवर्जं यदा कीर्तिवर्जं वा | | यदा कीर्तिवर्जम् |
| १०३ | त्रिनवर्जं कीर्तिवर्जं | ८९ | आहारकसप्तसर्वत्रिनवर्जं देवद्विकनरकद्विक- |
| ९६ | आहारकसप्तवर्जं | | वर्जितम् |
| ९५ | आहारकसप्तवर्जं कीर्तिवर्जम् | ९० | त्रयोदशसु क्षीणासु त्रयोविंशतिसत्ताकस्य |
| ९४ | आहारकसप्तवर्जं कीर्तिवर्जम् | | यदा कीर्तिवर्जम् |
| ९३ | आहारकसप्तत्रिनवर्जं देवद्विकवर्जम् | ९१ | त्रयोदशसु क्षीणासु द्वाविंशतिसत्ताकस्य |
| ८९ | त्रयोदशसु क्षीणासु नवतिसत्ताकस्य यदा कीर्ति- | | यदा कीर्तिवर्जम् |

अथ नामकर्मणः बन्धस्थानानि प्रोच्यन्ते-त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः पञ्चविंशतिरष्टाविं-
शतिरेकोनविंशत् त्रिंशदेकत्रिंशदेकेत्यष्टौ । एतानि च स्थानानि यथैकेन्द्रियादिप्रायोग्यत-

यानेकप्रकाराणि भवन्ति तथैवोपदिश्यन्ते-तिर्यग्गतिप्रायोग्याप्यष्टाविंशत्येकत्रिंशदेकप्रकृत्यात्मकानि वर्जयित्वा शेषाणि पञ्च बन्धस्थानानि भवन्ति । तत्राप्येकेन्द्रियप्रायोग्याप्याद्यानि त्रीणि बन्धस्थानानि सन्ति । तत्र त्रयोविंशतिप्रकृत्यात्मकं स्थानमिदम्-तिर्यग्गतिस्तदानुपूर्व्येकेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरनाम हुण्डसंस्थानं स्थावरनाम सूक्ष्मवादयोरेकतरमपयासनाम प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमस्थिरनामाशुभनाम दुर्भगनामाऽनादेयनामाऽयशः-कीर्तिनाम नामध्रुववन्धिनवकमिति । प्रत्येकवादराभ्यां प्रत्येकसूक्ष्माभ्यां साधारणवादराभ्यां साधारणसूक्ष्माभ्यां विभज्यमानमिदमपर्याप्तप्रायोग्यं स्थानं चतुष्प्रकारं भवति । तत्रैव पराघातोच्छ्वासयोः प्रक्षिप्तयोरपर्याप्तस्थाने पर्याप्तप्रक्षिप्ते च पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं विंशतिप्रकारं भवति । पञ्चविंशतिप्रकृतय एवमभिलपनीयाः-तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरनाम हुण्डसंस्थाननाम स्थावरनाम वादरसूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्तनाम प्रत्येकसाधारणयोरेकतरं स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं यशःकीर्त्यशःकीर्त्योरेकतरं दुर्भगमनादेयं पराघातनामोच्छ्वासनाम नामध्रुववन्धिनवकमिति । अत्र सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणनामकर्मभिः सह यशःकीर्तिनाम बन्धं नायाति, तदुक्तं-“नो सुहृमतिगेण जस” इति । तेन वादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभयशःकीर्तिभिः सहैकं पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं स्थानं भवति १, एवं वादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभायशःकीर्तिभिः सह द्वितीयं २, वादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिराशुभयशःकीर्तिभिः सह तृतीयं ३, वादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिराशुभायशःकीर्तिभिः चतुर्थं ४, वादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभयशःकीर्तिभिः पञ्चमं ५, वादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभायशःकीर्तिभिः षष्ठं ६, वादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिराशुभयशःकीर्तिभिः सप्तमं ७, वादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिराशुभायशःकीर्तिभिरष्टमं ८, वादरपर्याप्तसाधारणस्थिरशुभायशःकीर्तिभिः नवमं ९, वादरपर्याप्तसाधारणस्थिराशुभायशःकीर्तिभिः दशमं १०, वादरपर्याप्तसाधारणास्थिरशुभायशःकीर्तिभिरेकादशमं ११, वादरपर्याप्तसाधारणास्थिराशुभायशःकीर्तिभिः द्वादशमं १२ । एवं सूक्ष्मपर्याप्तनाम्नोर्वध्यमानयोः प्रत्येकसाधारणस्थिरास्थिरशुभायशःकीर्तिभिरष्टौ स्थानानि भवन्ति । तत्रैव पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिस्थाने द्योतनामकर्मणि आतपनान्नि वा प्रक्षिप्ते पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं षोडशप्रकारं बन्धस्थानं भवति । केवलं सूक्ष्मसाधारणस्थाने वादरप्रत्येकयोः निवेशः कार्यः, यत आतपोद्योताभ्यां सूक्ष्मसाधारणयोः बन्धो न भवतीति षोडशप्रकाराणि आतपोद्योतस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्यशःकीर्तिभिः सह भवन्ति । एवमेकेन्द्रियाणां विभज्यमानानि त्रीण्यपि बन्धस्थानानि चत्वारिंशत्स्थानानि भवन्ति । द्वीन्द्रियप्रायोग्याणि बन्धस्थानानि त्रीणि भवन्ति, तद्यथा-पञ्चविंशतिरेकोनत्रिंशत्रिंशदिति । तत्र पञ्चविंशतिरेवं-तिर्यग्द्विकं द्वीन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननं प्रसनाम वादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनामास्थिरनामाशुभनाम दुर्भगनामानादेयनामायशःकीर्तिनाम नामध्रुववन्धिनवकमिति । एतद्वन्धस्थानस्यापर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यत्वेन परावर्तमानप्रकृतयोऽशुभा

एव बन्धमायास्तीति न विभजनम् । पर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बन्धस्थानं एकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं च भवति । एकोनत्रिंशत्प्रकृतय एवम्—तिर्यग्गतिः तदानुपूर्वा द्वीन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननमप्रशस्तविहायोगतिनाम त्रसनाम वादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं दुःस्वरं दुर्भगनामानादेयनाम यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं पराघातनामोच्छ्वासनाम नामध्रुवबन्धिनवकमिति । एतद्वन्धस्थानं स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैरष्टधा भिद्यते । उद्योतयुतमेकोनत्रिंशदेव त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति । तदपि तद्वदेवाष्टधा भिद्यते । एवं त्रीण्यपि समुदितानि द्वीन्द्रियप्रायोग्याणि बन्धस्थानानि सप्तदशधा भवन्ति । एवमेव त्रीन्द्रियप्रायोग्याणि चतुरिन्द्रियप्रायोग्याणि च त्रीण्यपि सप्तदशधा भवन्ति । केवलं निजनिजजातिः पराघतनीया । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याणि त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । पञ्चविंशतिबन्धस्थानं द्वीन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिबन्धस्थानवत् बोध्यं, केवलं द्वीन्द्रियजातिस्थाने पञ्चेन्द्रियजातिर्वक्तव्येति । एकोनत्रिंशद्वन्धस्थानमिदं—तिर्यग्द्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं पण्णां संस्थानानामन्यतमं संस्थानं पण्णां संहननानामन्यतमं संहननं प्रशस्ताप्रशस्तखगत्योरन्यतरा खगतिः त्रसनाम वादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरास्थिरयोरन्यतरत् शुभाशुभयोरन्यतरत् सुभगदुर्भगयोरन्यतरत् सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरदादेयानादेययोरन्यतरत् यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरत् पराघातनामोच्छ्वासनाम वर्णादिचतुष्टयतैजसकर्मणाशुरुलूघूपातनिर्माणमिति । एतद्वन्धस्थानं मिथ्यादृष्टिमाश्रित्य ज्ञेयं । सास्वादने तु “हुण्डं असपत्तं वा सासाणञ्च न पन्ध” इति यचनात्, आद्यानां पञ्चानां संहननानामन्यतमं संहननं आद्यानां पञ्चानां संस्थानानामन्यतमं संस्थानमिति विशेषः । एतदपि बन्धस्थानं मिथ्यादृष्टौ भिद्यमानमष्टाधिकपद्वचत्वारिंशच्छतमेदं भवति, सास्वादने तु द्वात्रिंशच्छतमेदं भवति । पङ्क्तिः संस्थानैः पङ्क्तिः संहननैश्च भिद्यमानं पद्विंशद्वेदं भवति, प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां द्विसप्ततिः स्थिरास्थिराभ्यां चतुश्चत्वारिंशच्छतमेदं, शुभाशुभाभ्यामष्टाशीत्यधिकद्विंशतमेदं, सुभगदुर्भगाभ्यां पद्विसप्तत्यधिकपञ्चशतमेदं, सुस्वरदुःस्वराभ्यां द्विपञ्चाशदधिकैकादशशतमेदं, आदेयानादेयाभ्यां चतुरधिकत्रयोविंशतिशतमेदं, यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यामष्टाधिकपद्वचत्वारिंशच्छतमेदं भवतीति । सास्वादने तूक्तनीत्या गुण्यमानं द्वात्रिंशच्छतमेदमेव भवति । उद्योतयुते त्रिंशद्वन्धस्थानेऽप्येवमेवेति । सर्वसंख्यया तिर्यग्गतिप्रायोग्याणि अष्टाधिकत्रिनवतिशतानि ९३०८, तद्यथा—एकेन्द्रियप्रायोग्याणि चत्वारिंशत् ४०, विकलेन्द्रियप्रायोग्याणि एकपञ्चाशत् ५१, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याणि सप्तदशाधिकद्विनवतिशतानि ९२१७, इति तिर्यग्गतेः सर्वाग्रम् ९३०८ । मनुष्यगतिप्रायोग्याणि त्रीणि बन्धस्थानानि, पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रापर्याप्तमनुष्यप्रायोग्या पञ्चविंशतिः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियवद्बोद्ध्या, केवलं तिर्यग्द्विकस्थाने मनुजद्विकं नेय-

मिति । एकोनत्रिंशद्बन्धस्थानं त्रिधा गुणभेदेन भिद्यते-मिथ्यादृष्टिमाश्रित्येकं, सास्वाद-
माश्रित्य द्वितीयं, सम्यग्मिथ्यादृष्टिं सम्यग्दृष्टिं चाश्रित्य तृतीयं । तत्र प्रथमद्वितीये निर्वि-
शेषं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वत्परिभाषनीये, केवलं तिर्यग्द्विकस्थाने मनुष्यद्विकं वाच्यमिति ।
तृतीयं त्वप्रशस्तसंहननसंस्थानविहायोगतिदुर्भगदुःस्वरनादेयप्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदेन
स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्यशःकीर्तिपदैरष्टौ भवन्ति । तृतीयं जिनयुतं त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं
बन्धस्थानं भवति । अत्राप्यष्टौ भङ्गा भवन्ति । सर्वसंख्या मनुष्यप्रायोग्यबन्धस्थानानि विभ-
ज्यमानानि पञ्चत्वारिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि भवन्ति, तद्यथा-पञ्चविंशतेरेकम् १+ए-
कोनत्रिंशतेरेष्टाधिकपञ्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८+त्रिंशतेरष्टौ ८।४६१७, यतः द्वितीयतृ-
तीयगुणस्थानयोरेकोनत्रिंशद्बन्धस्थानसत्त्वानि प्रथमे एवान्तर्भवन्तीति । देवगतिप्रायोग्याणि
चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः, एकोनः शत, त्रिंशत्, एकत्रिंशदिति । तत्रा-
ष्टाविंशतिरियं-देवगतिः देवानुपूर्वा, पञ्चेन्द्रियजातिः, वैक्रियद्विकं, पराघातनामोच्छ्वासनाम,
प्रशस्तविहायोगतिः, प्रथमसंस्थानं, व्रसनाम, वादरनाम, पर्याप्तनाम, प्रत्येकनाम, स्थिरा-
स्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं, सुभगं, सुस्वरं, आदेयनाम यशःकीर्त्यशःकीर्त्योरेकतरं,
नामध्रुवबन्धिनवकमिति । एतद्बन्धस्थानबन्धकाः मिथ्यादृष्टेरारभ्यापूर्वकरणपष्ठभागपर्यव-
सानाः सर्वेऽपि ज्ञातव्याः । एतद्बन्धस्थानं स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्यशःकीर्तिपदै-
र्विभज्यमानमष्टप्रकारं भवति । तीर्थंकरनामयुतमेतदेवैकोनत्रिंशद्देवप्रायोग्यं भवति, बन्ध-
कास्त्यविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतयः मनुष्या एव, एतदपि विभज्यमानमष्टप्रकारं भवति ।
अष्टाविंशतिबन्धनस्थानमेवाहारकद्वययुतं त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति । एतद्ब-
न्धका अप्रमत्ता अपूर्वकरणा च वाच्याः, अतस्तद्विभागीकर्तुं न युज्यते, अस्थिराशुभा-
यशःकीर्तीनां प्रमत्ते बन्धव्यवच्छेदात् । तदेव जिनाहारोभययुतमेकत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं
बन्धस्थानं भवति । एतदपि त्रिंशद्बन्धस्थानवद्भावनीयमिति । सर्वसंख्ययाऽष्टादशधा
भवति, तद्यथा-अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् च अष्टधाष्टधा, त्रिंशदेकत्रिंशच्च एकैकप्रकारं,
८+८+१+१=१८ । नरकगतिप्रायोग्यमेकमेवाष्टाविंशतिप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति ।
एतद्बन्धका मिथ्यादृष्टिनो मनुष्यास्तियञ्च ज्ञातव्याः । अष्टाविंशतिरेकम्-नरकद्विकं पञ्चे-
न्द्रियजातिः वैक्रियद्विकं हुण्डसंस्थानं पराघातोच्छ्वासनाम्नी अप्रशस्तविहायोगतिः व्रस-
नाम वादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम अस्थिरनामाशुभनाम दुर्भगनाम दुःस्वरनामा-
नादेयनामायशःकीर्तिनाम नामध्रुवबन्धिनवकमिति । एतच्च विभागीकर्तुं न युज्यते,
सर्वात्तामशुभानामेव बध्यमानत्वादिति । यशःकीर्तिरूपमेकं बन्धस्थानं अपूर्वकरणपष्ठभा-
गान्ते देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे अपूर्वकरणादीनां त्रयाणामवसातव्यमिति । सर्वाणि
बन्धस्थानानि विभज्यमानानि सर्वसंख्यया त्रयोदशसहस्राणि नवशतानि पञ्चचत्वारिंशद-
धिकानि भवन्ति । नामकर्मणः प्रतिग्रहस्थानानि सप्रमेदान्यन्यूनानतिरिक्तानि बन्धस्था-
नवद्भावनीयानीति नामकर्मणो बन्धस्थानानि प्रतिग्रहस्थानानि चोक्तानि । यत्रकम्-

एकेन्द्रियप्रायोग्याणि ३

२३ यण्यत्तुत्पत्तेजसकार्मेणागुरुलघूपधातनिर्माणतिर्यग्निद्रकैकेन्द्रियजातिहुण्डौदारिकं स्थावरनाम सूक्ष्मपादर-
थोन्यतरपयोत्तनाम प्रत्येकसाधारणयोरन्यतरदस्थिरनामाशुभनाम दुर्भंगनामानादेयनामायशःकीर्ति-
नामेति ॥ भङ्गाः ४ अपयोत्तप्रायोग्यमेतत्स्थानम् ॥

२५ तिर्यग्द्वैवमेकेन्द्रियजानिरौदारिकशरीरनाम हुण्डसंस्थाननाम स्थावरनाम धादरसूक्ष्मयोरिकतरं पयोत्त-
नाम प्रत्येकसाधारणयोरिकतरं स्थिरास्थिरयोरिकतरं शुभाशुभयोरिकतरं यशःकीर्त्यशःकीर्त्योरिकतरं
दुर्भंगनामानादेयनाम पराधातनामोच्छ्वासनाम नामध्रुवबन्धिनवकमिति ॥ भङ्गाः २० पर्याप्तप्रायोग्यम् ॥

२६ प्रागुक्तास्तु प्रकृतिप्रातपमुद्योतं वा केवलं सूक्ष्मसाधारणस्थाने धादरप्रत्येके क्षेपणीये ॥ भङ्गाः १६ पर्याप्त-
प्रायोग्यम् ॥ ४० एकेन्द्रियप्रायोग्याणि ॥

द्वीन्द्रियप्रायोग्याणि ३

२५ तिर्यग्निद्रकं द्वीन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं हुण्डसंस्थानं सेवातंसंहननं प्रसनाम धादरनामापयोत्तनाम प्रत्येक-
नामास्थिरनामाशुभनाम दुर्भंगनामानादेयनामायशःकीर्तिनाम नामध्रुवबन्धिनवकमिति ॥ भङ्गाः १ अप-
योत्तप्रायोग्यम् ॥

२६ तिर्यग्निद्रकं द्वीन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं हुण्डसंस्थानं सेवातंसंहननमप्रशस्तविहायोगतिनाम प्रसचतुर्कं
स्थिरास्थिरयोरिकतरं शुभाशुभयोरिकतरं दुःस्वरं दुर्भंगनामानादेयनाम यशःकीर्त्यशःकीर्त्योरिकतरं
पराधातोच्छ्वासनाम नामध्रुवबन्धिनवकमिति ॥ भङ्गाः ८ पर्याप्तप्रायोग्यम् ॥

१० प्रागुक्तासुद्योतं प्रक्षेपणीयम् ॥ भङ्गाः ८ पर्याप्तप्रायोग्यम् ॥ द्वीन्द्रियस्य भङ्गाः १७, एवं त्रीन्द्रियचतुरि-
न्द्रिययोरपि ध्याय्यम् ॥ नवरं स्वरीया जातिः परावर्तनीया ॥

पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याणि ३

२५ द्वीन्द्रियपञ्चविंशतिबन्धस्थानवद्वाच्यम्, नवरं जातिः परावर्तनीया ॥ भङ्गाः १ अपयोत्तप्रायोग्यम् ॥

२६ तिर्यग्निद्रकं पञ्चेन्द्रियजानिरौदारिकद्विकं पण्णां संस्थानानामन्यतमं संस्थानं पण्णां संहननानामन्यतमं
संहननं प्रशस्तप्रशस्तप्रशस्तोरन्यतरा यगतिः प्रसचतुर्कं स्थिरास्थिरयोरन्यतरत् शुभाशुभयोरन्यतरत्
शुभगदुर्भंगयोरन्यतरत् सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरदादेयानादेययोरन्यतरत् यशःकीर्त्यशःकीर्त्योरन्यतरत्
पराधातोच्छ्वासनामवर्णादिचतुष्टेजसकार्मेणागुरुलघूपधातनिर्माणमिति ॥ भङ्गाः ४३०८ मिथ्यादष्टौ,
सास्वादने १२०० पर्याप्तप्रायोग्यम्, अग्न्यसंहननसंस्थानवर्जं संहननसंस्थानपञ्चकं सास्वादने ॥

१० वद्योतयुक्तं प्राशनं बन्धस्थानम् ॥ भङ्गाः ४६०८ पर्याप्तप्रायोग्यम् ॥ पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याः भङ्गाः
१२१०, त्रिकटोन्द्रियप्रायोग्याः ५१, एकेन्द्रियप्रायोग्याः ४०, तिर्यग्गतिप्रायोग्याः १३०८ ॥

मनुष्यप्रतिप्रायोग्याणि ३

२५ अपयोत्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पञ्चाच्यम्, नवरं तिर्यग्निद्रकस्थाने मनुजद्विकं वक्ष्य्यम् ॥ भङ्गाः १ अपयोत्तप्रायोग्यम् ॥

२६ शत्राणि तिर्यग्निद्रकस्थाने मनुजद्विकं ध्याय्यम् ॥ मिथ्यादष्टौ ४६०८, सास्वादने १२००, मिथ्यादौ ८ भङ्गाः १
अनशस्तमंहननमंरयानविहायोगतिदुर्भंगदुःस्वराणादेयप्रवृत्तीनां बन्धस्थानपञ्चेदेन स्थिरास्थिरशुभाशुभय-
शःकीर्त्यशःकीर्त्योरिकतरं ॥ पर्याप्तप्रायोग्यम् ॥

१० दिनपुनः प्राशनं स्थानम् ॥ भङ्गाः ८ पर्याप्तप्रायोग्यम् ॥ सर्वाम् ४६१० मनुजगती ॥

वैद्यप्रयोग्याणि ४

२८ देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकं पराघातनामोच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगिनिः प्रथममंस्थानं प्रसक्तपुष्कं स्थिरास्थिरयोरैकतरं शुभाशुभयोरैकतरं सुभग सुस्वरमादेश यन्न कीर्त्ययन्न कीर्त्योरैकतरं नामध्रुव-
वन्धिनवकमिति ॥ भङ्गाः ८ । सिध्यादष्टैरभ्यासपूर्वपञ्चभगवन्तम् ॥ पर्याप्तमायोग्यम् ॥

२९ त्रिनयुतमष्टाविंशतिवन्धस्थानम् ॥ भङ्गाः ८ । अत्रितसम्बन्धद्विप्रभृतयो बन्धवाः ॥

३० आहारकद्विकयुतमष्टाविंशतिवन्धस्थानम् ॥ भङ्गः १, प्रशस्तप्रकृतीनामेव सङ्गावात् । अममत्तेऽपूर्वकरणे चैतन्नयनि ॥

३१ त्रिनाहारकद्विकयुतमष्टाविंशतिवन्धस्थानम् ॥ भङ्गः १, प्राग्वदिति ॥ सर्वाम् १८ ॥

नरकगतिप्रायोग्यं १

२८ नरकद्विकं पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विकं निहायोगनिरप्रशस्तस्थान पराघातोच्छ्वासनाम प्रसक्तपुष्कं-
स्थिरपदकं नामध्रुववन्धिनवकमिति ॥ भङ्गः १ अममत्तेऽपूर्वकरणे चैतन्नयनि ॥

१ यन्न-कीर्तिनामधनस्थानमपूर्वसप्तमागात् सूक्ष्मतत्परापपर्यन्तम् ॥ भङ्गः १ एव ॥ सर्वे भङ्गाः ११९५५ ॥

प्रतिग्रहस्थानान्यपि बन्धस्थानव्यञ्जयानि ॥

ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-सोहनीय-आयुष्क-नाम-गोत्र-भग्नरायं

| | | | | | | | | |
|-------------------|---|---|---|----|---|----|---|---|
| सत्स्थानानि | १ | २ | २ | १५ | २ | १२ | २ | १ |
| संक्रमस्थानानि | १ | २ | २ | २३ | ० | १२ | २ | १ |
| बन्धस्थानानि | १ | २ | २ | १० | १ | ८ | २ | १ |
| प्रतिग्रहस्थानानि | १ | २ | २ | १८ | ० | ८ | २ | १ |

अथ नामकर्मणः संपेधश्चिन्त्यते-तत्र तिर्यग्विक्रैकेन्द्रियजातिर्तजसकर्मणां दारिकशरीरहृ-
ण्डसंस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातनिर्माणस्थावरसूक्ष्मवादन्यतरपर्याप्तप्रत्येकसा-
धारणान्यतरास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिरूपायामपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यायां त्रयोविं-
शत्यां तत्तत्सत्ताकाः तिर्यश्चः ह्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिरूपाणि पञ्च,
मनुष्याः तत्तत्सत्ताकाः ह्यशीतिवर्जानि चत्वारि सत्त्वस्थानानि संक्रामन्ति । तिर्यग्विक्रैकेन्द्रि-
यजात्यां दारिकशरीरहृण्डसंस्थानस्थावरवादरसूक्ष्मान्यतरपर्याप्तप्रत्येकसाधारणान्यतरस्थिरा-
स्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरयशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरदुर्भगानादेयपराघातोच्छ्वासनामध्रुव-
वन्धिनवकरूपायां पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यायां पञ्चविंशत्यां तिर्यश्चः प्रागुक्तानि पञ्च, मनुष्याः
ह्यशीतिवर्जानि चत्वारि, देवा ह्युत्तरशतपञ्चनवतिरूपे द्वे सत्तास्थाने संक्रामन्ति । पञ्चा,
तिर्यग्विक्रैकेन्द्रियजात्याद्यन्यतमजात्यां दारिकद्विकहृण्डसंस्थानमेवातर्गहननप्रगमादरापर्या-
प्तप्रत्येकस्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामध्रुववन्धिनवकरूपायामपर्याप्तद्विचतुष्टय-
वैन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यायां, तिर्यग्विक्रैकेन्द्रियस्थाने मनुष्यद्विकप्रशिक्षं गति अपर्याप्तमनुष्यप्रा-
ग्यायां च पञ्चविंशत्यां तिर्यश्चो ह्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिरूपाणि
मनुष्या ह्यशीतिवर्जानि चत्वारि सत्त्वस्थानानि संक्रामन्ति । तिर्यग्विक्रैकेन्द्रियजात्यां

कार्मणौदारिकशरीरहुण्डसंस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शस्थावरवादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतर-
शुभाशुभान्यतरयशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरदुर्भगानादेयागुरुलघूपघातोच्छ्वासपराघातनिर्मा-
णरूपायां पञ्चविंशत्यामुद्योते प्रक्षिप्ते आतपे वा प्रक्षिप्ते पर्द्विशतिः, तत्र तत्तत्सत्ताकाः तिर्यश्चो
द्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिरूपाणि पञ्च, तत्तत्सत्ताकाः मनुष्या द्व्यशी-
तिवर्जानि चत्वारि, तत्तत्सत्ताका देवाश्च द्युत्तरशतपञ्चनवतिरूपं द्वयं सत्त्वस्थानं संक्रामन्ति ।
देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकप्रथमसंस्थानप्रशस्तखगतित्रसवादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थि-
रान्यतरशुभाशुभान्यतरसौभाग्यसुस्वरादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरपराघातोच्छ्वासनाम-
ध्रुववन्धिनवकरूपायां देवप्रायोग्याष्टाविंशतौ पञ्चेन्द्रियतिर्यश्चो मनुष्यो वा द्युत्तरशतपञ्चन-
वतित्रिनवतिचतुरशीतिरूपाणि चत्वारि सत्तास्थानानि संक्रामन्ति । नरकप्रायोग्याष्टाविंश-
तिप्रतिग्रहेऽपि पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणामेवमेव, नवरं पण्णवतिरपि सत्त्वस्थानं वद्धजिन-
नाम्नां नरकाभिमुखानां मनुष्याणां संक्रामति । तिर्यग्विकद्वीन्द्रियाद्यन्यतमजात्यौदारिक-
द्विकहुण्डसंस्थानसेवार्तसंहननाप्रशस्तखगतित्रसवादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशु-
भान्यतरदुर्भगदुःस्वरानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरपराघातोच्छ्वासनामध्रुववन्धिनवक-
रूपे विकलेन्द्रियप्रायोग्यैकोनत्रिंशति प्रतिग्रहे, तिर्यग्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकसंस्था-
नपट्कान्यतमसंस्थानसंहननपट्कान्यतमसंहननान्यतरखगतित्रसवादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थि-
रान्यतरशुभाशुभान्यतरसुभगदुर्भगान्यतरसुस्वरदुःस्वरान्यतरादेयानादेयान्यतरयशःकीर्त्य-
यशःकीर्त्यन्यतरपराघातोच्छ्वासवर्णादिचतुष्टयतैजसकार्मणागुरुलघूपघातनिर्माणरूपे तिर्य-
क्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यैकोनत्रिंशति प्रतिग्रहे च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः द्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिन-
वतिचतुरशीतिद्व्यशीतिरूपाणि पञ्च सत्त्वस्थानानि संक्रामन्ति, द्व्यशीतिवर्जानि चत्वारि
सत्त्वस्थानानि मनुष्याः संक्रामन्ति । देवनारकाः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यैकोनत्रिंशति प्रति-
ग्रहे द्युत्तरशतपञ्चनवतिरूपं सत्त्वस्थानद्वयं संक्रामन्ति । मनुष्यद्विकपञ्चाक्षजात्यौदारिकद्वि-
कसंस्थानपट्कान्यतमसंस्थानसंहननपट्कान्यतमसंहननान्यतरविहायोगतित्रसवादरपर्याप्त-
प्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरसुभगदुर्भगान्यतरसुस्वरदुःस्वरान्यतरादेयानादेया-
न्यतरयशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरपराघातोच्छ्वासनामध्रुववन्धिनवकरूपैकोनत्रिंशति मनु-
ष्यप्रायोग्यप्रतिग्रहे तिर्यश्चो नराश्च द्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिरूपाणि चत्वारि-
सत्त्वस्थानानि, तिर्यश्चश्च मनुष्यद्विकस्य बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमाना एव द्व्यशीति-
रूपमपि सत्तास्थानं संक्रामन्ति । देवा द्युत्तरशतपञ्चनवतिसत्त्वस्थानद्वयं संक्रामन्ति । नार-
कास्तत्र द्युत्तरशतपण्णवतिपञ्चनवतिरूपाणि त्रीणि संक्रामन्ति । तत्र पण्णवतिस्तु वद्धजि-
ननामा अपर्याप्तावस्थायामिति । देवद्विकपञ्चाक्षजातिवैक्रियद्विकप्रथमसंस्थानप्रशस्तखगति-
त्रसवादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरसुभगादेयसुस्वरयशःकीर्त्ययशःकी-
र्त्यन्यतरपराघातोच्छ्वासजिननामध्रुववन्धिनवकरूपे देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशति प्रतिग्रहे मनु-
ष्याः द्युत्तरशत द्युत्तरशतपण्णवतिपञ्चनवतिरूपाणि चत्वारि संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति ।

प्रागुक्ते तिर्यक्प्रायोग्ये एकोनत्रिंशति प्रतिग्रहे उद्योतनाग्नि प्रक्षिप्ते सति त्रिंशत्प्रतिग्रह-
स्थानं भवति । तत्र संक्रमस्थानान्यपि तद्वदेव वाच्यानि । मनुष्यद्विकपञ्चाक्षजातौदारिक-
द्विकप्रथमसंस्थानप्रथमसंहननप्रशस्तखगतित्रसवादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशु-
भान्यतरसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरपराधातोच्छ्वासजिननामध्रुववन्धिनवका-
रूपे मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशति प्रतिग्रहे देवाः त्र्युत्तरशतपण्णवतिरूपं द्वयं संक्रामन्ति । नार-
काः पण्णवति संक्रामन्ति । देवद्विकपञ्चाक्षजातिवैक्रियद्विकप्रथमसंस्थानप्रशस्तखगतित्र-
सवादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिपराधातोच्छ्वासनामध्रुववन्धिनवका-
हारकद्विकरूपे देवगतिप्रायोग्ये त्रिंशति प्रतिग्रहे त्र्युत्तरशतं बन्धावलिकायामपगतायां
मनुष्याः संक्रामन्ति, बन्धावलिकाऽनपगतायां तु पञ्चनवति संक्रामन्ति । जिननाग्नि तत्र
प्रक्षिप्ते सति एकत्रिंशत्प्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे त्र्युत्तरशतत्र्युत्तरशतपण्णवतिपञ्चनवतिरूपाणि
चत्वारि स्थानानि संक्रामन्ति; जिनाहारकसप्तकयोर्यन्धावलिकायामपगतायां त्र्युत्तरशतं,
जिननाम्नो बन्धावलिकायामनपगतायां त्र्युत्तरशतं, आहारकसप्तकस्य बन्धावलिकायामनप-
गतायां पण्णवतिमुभयोर्यन्धावलिकायामनपगतायां पञ्चनवति मनुष्याः संक्रामन्ति । यशःकी-
र्तिरूपे प्रतिग्रहे अष्टौ स्थानानि संक्रामन्ति, तत्र प्रतिग्रहत्वे कृतां यशःकीर्तिरूपामपनीय
त्र्युत्तरशतैकोत्तरशतपञ्चनवतिचतुर्नवतिरूपाणि चत्वारि उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां च त्रयोद-
शक्षयादर्याक् संक्रामन्ति, त्रयोदशके च क्षीणे एकोननवत्यष्टाशीतिद्व्यशीत्येकाशीति-
रूपाणि चत्वारि स्थानानि तत्तत्सत्ताकाः संक्रामन्तीत्योद्यतः स्वामित्वं प्रतिपादितम् ॥

॥ नामकर्मणः प्रतिग्रहस्थानेषु संक्रमस्थानानि ॥

| प्रतिग्रह- स्थानानि | वर्ष्यमानप्रतिग्रह- प्रकृत्यभिधानानि | संक्रमस्थानानि | स्वामिनः | | | |
|------------------------|--|----------------|-----------------|--------|-------|--------|
| | | | सर्वे निर्यद्धः | मनुजाः | देवाः | नारकाः |
| २३ | अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यासु | १०२ | " | " | ० | ० |
| | " | ९५ | " | " | ० | ० |
| | " | ९३ | " | " | ० | ० |
| | " | ८४ | " | " | ० | ० |
| | " | ८२ | " | ० | ० | ० |
| २५ | पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यासु | १०२ | " | ३० | दे० | ० |
| | " | ९५ | " | " | " | ० |
| | " | ९३ | " | " | ० | ० |
| | " | ८४ | " | " | ० | ० |
| | " | ८२ | " | ० | ० | ० |
| २५ | अपर्याप्तैकैकेन्द्रियनिर्यक्ष- कैन्द्रियमनुप्रायोग्यासु | १०२ | " | ३० | ० | ० |
| | " | ९५ | " | " | ० | ० |

| | | | | | | |
|----|--|-----|-----------------------------|----|-------|--------|
| | ११ | ९३ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८४ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८२ | ११ | ० | ० | ० |
| २६ | पर्याप्तैकैन्द्रियप्रायोग्यासु | १०२ | ११ | म० | दे० | ० |
| | ११ | ९५ | ११ | ११ | ११ | ० |
| | ११ | ९३ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८४ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८२ | ११ | ० | ० | ० |
| २८ | देवप्रायोग्यासु | १०२ | पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्पणः | म० | ० | ० |
| | ११ | ९५ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९३ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८४ | ११ | ११ | ० | ० |
| २८ | नरकप्रायोग्यासु | १०२ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९६ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९५ | प० प० ति० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९३ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८४ | ११ | ११ | ० | ० |
| २९ | पर्याप्तैकैन्द्रियप्रायोग्यासु | १०२ | सर्वे तिर्पणः | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९५ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९३ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८४ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८२ | ११ | ० | ० | ० |
| २९ | पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्पणप्रायोग्यासु | १०२ | ११ | म० | देवाः | नारकाः |
| | ११ | ९५ | ११ | ११ | ११ | ११ |
| | ११ | ९३ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८४ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८२ | ११ | ० | ० | ० |
| २९ | पर्याप्तमनुजप्रायोग्यासु | १०२ | ११ | ११ | दे० | ना० |
| | ११ | ९६ | ० | ० | ० | ११ |
| | ११ | ९५ | नि० | म० | दे० | ११ |
| | ११ | ९३ | ११ | ११ | ११ | ११ |
| | ११ | ८४ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८२ | ११ | ० | ० | ० |
| २९ | देवप्रायोग्यासु | १०३ | ० | म० | ० | ० |
| | ११ | १०२ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९६ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९५ | ० | ११ | ० | ० |
| ३० | पर्याप्तैकैन्द्रियप्रायोग्यासु | १०२ | सर्वे तिर्पणः | ११ | ० | ० |

| | | | | | | |
|----|-------------------------|-----|----|-----------|----|-----|
| ११ | ११ | ९५ | ११ | ११ | ० | ० |
| ११ | ११ | ९३ | ११ | ११ | ० | ० |
| ११ | ११ | ८४ | ११ | ११ | ० | ० |
| ११ | ११ | ८२ | ११ | ० | ० | ० |
| ३० | ५० पञ्चेन्द्रियवैभवायो० | १०२ | ११ | म० | ६० | ना० |
| | ११ | ९५ | ११ | ११ | ११ | ११ |
| | ११ | ९३ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८४ | ११ | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८२ | ११ | ० | ० | ० |
| ३० | ५० मनुष्यायोग्यासु | १०३ | ० | ० | ६० | ० |
| | ११ | ९४ | ० | ० | ११ | ० |
| ३० | देवयोग्यासु | १०२ | ० | म० | ० | ० |
| | ११ | ९५ | ० | ११ | ० | ० |
| ३१ | देवयोग्यासु | १०३ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | १०३ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९४ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९५ | ० | ११ | ० | ० |
| ३ | यज्ञाः क्षीर्याम् | १०२ | ० | ११ व. धे. | ० | ० |
| | ११ | १०१ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९५ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ९४ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८९ | ० | ११ व. धे. | ० | ० |
| | ११ | ८८ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८२ | ० | ११ | ० | ० |
| | ११ | ८१ | ० | ११ | ० | ० |

अथ गुणस्थानद्वारेण स्वामित्वमुच्यते-गुणस्थानानि च चतुर्दश भवन्ति, तद्यथा-मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, सास्वादनसम्बन्धदृष्टिगुणस्थानम्, मिश्रदृष्टिगुणस्थानम्, अविरतसम्बन्धदृष्टिगुणस्थानम्, देशविरतिगुणस्थानम्, प्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, अपूर्वकरणगुणस्थानम्, अनिवृत्तिवादरसम्परायगुणस्थानम्, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम्, उपशान्तमोहवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानम्, क्षीणमोहवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानम्, सयोगिकेवलिंगुणस्थानम्, अयोगिकेवलिंगुणस्थानमिति । तत्र गुणाः ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषास्तेषां स्थानं शुद्धविशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपमेदः । तिष्ठन्ति गुणा अस्मिन्निति स्थानम्, गुणानां स्थानं गुणस्थानम् । मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिरर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिबस्तुप्रतिपत्तिः यस्य स मिथ्यादृष्टिः भक्षितहृत्पुरपुरुषस्य सति पीतप्रतिपत्तिवदिति । तस्य गुणस्थानं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् । ज्ञानादिगुणानामविशुद्धिप्रकर्षविशुद्ध्यपकर्षकृतः स्वरूपविशेष इति । ननु ज्ञानादयो गुणाः विपर्यस्तायां दृष्टौ कथं

भवेयुरिति चेत् ? उच्यते—इह यद्यपि प्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयाजिनप्रणीतजीवाजीवादि-
वस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतां विपर्यस्ता भवति, तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरवि-
पर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता भवति,
अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गात्, तदुक्तं—“सद्यजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निशुग्घाटिओ
चिट्ठइ जइ पुण सो वि आवरिज्जिजा तो णं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जति” यथातिनिविडघनाघन-
घनपटलेन रजनीकरदिनकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि न तत्प्रभाया एकान्तेन नाशः सम्पद्यते-
अन्यथा दिनरजनिविभागाभावप्रसङ्गात्, तदुक्तं—“सुदुवि मेहसमुदए होइ पहा चन्दसुराणं”
एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदयेऽपि काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृ-
ष्टेरपि गुणस्थानसंभवः । ननु तर्हि न्यायप्राप्तं सम्यग्भिथ्यादृष्टित्वम्, यतो मनुष्यपश्वाद्यपे-
क्षयान्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रापेक्षया च सम्यक्त्वं जिनप्रणीतत-
त्त्वाश्रद्धानापेक्षया तु मिथ्यात्वमिति चेत् ? न, जिनप्रणीतं सकलमपि द्वादशाङ्गार्थं रोच-
मानोऽपि जिनप्रणीतमेकमप्यक्षरमरोचमानो मिथ्यादृष्टिरुच्यते, सर्वज्ञे भगवति प्रत्यया-
भावात्, तदुक्तं—“पयमक्खरं पि इक्कं पि जो न रोएइ सुत्तनिविडं । सेसं रोयंतो वि हु मिच्छदि-
ट्ठी जमालिह ॥ १ ॥” इति, किं पुनः सर्वज्ञप्रणीतसकलद्वादशाङ्गार्थज्ञानविकल इति ॥

तच्च यज्जिनेन्द्रैः प्रज्ञप्तं तदेव सत्यमिति निश्चयात्मकस्य सम्यक्त्वस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्या-
त्वं द्विविधं भवति, जीवादयो न तत्त्वमिति विपर्यासात्मकं जीवादयस्तत्त्वमिति निश्चयाभा-
यरूपानधिगमात्मकम्, तदुक्तं धाचकमुख्यैः—“अनधिगमविपर्ययो च मिथ्यात्वम्” इति ।
यद्वा लौकिकलोकोत्तरमेदात् द्विविधं मिथ्यात्वं भवति । तत्र लौकिकमपि द्विविधम्, देव-
गतगुरुगतमेदात्, लौकिकदेवगतं हरिहरब्रह्मादिदेवानां नमनपूजनादिना तद्भयनगमनादि-
ना च तत्तद्देशप्रसिद्धमनेकविधं भवति, लौकिकगुरुगतं द्विजन्मतापसपरिव्राजकादीनां नम-
स्कृतिकरणं तदग्रे पतनं तदग्रे ‘नमः शिवाय’ ‘नमः कृष्णाय’त्यादिभजनं तत्कथाश्रवणं तदु-
क्तक्रियाकरणं तत्कथाश्रवणबहुमानकरणादिना नानाविधं भवति । लोकोत्तरमपि द्विवि-
धम्, देवगुरुगतमेदात्, देवगतमन्यतीर्थिकसंगृहीतजिनार्चार्चननमनादिना इह लोकार्थं
च जैनतीर्थयात्रागमनमाननादिना स्यात्, गुरुगतं च पार्श्वस्थादीनां गुरुत्वबुद्ध्या वन्दना-
दिकरणमिहलोकार्थं गुरुस्तूपादौ यान्नोपयाचनादिकरणमिति लौकिकलोकोत्तरोभयमीदृशे
भेदचतुष्टयी, तदुक्तं दर्शनशुद्धिप्रकरणे—“दुविहं लोइअमिच्छं देवगयं गुरुगयं सुणेअधं । लो-
उत्तरिअं पि दुविहं देवगयं गुरुगयं चेव ॥ १ ॥” इति ।

अधामिग्राहिकादिभेदेन पञ्चप्रकारं मिथ्यात्वमुच्यते, तद्यथा—आमिग्राहिकमनामिग्राहि-
कमभिनिवेशिकं सांशयिकमनाभोगिकमिति, तथा चोक्तम्—“आभिग्राहिअमणभिग्राहियं
च वइ अभिनिवेशिअं चेव । संसइअमणाभोगं मिच्छत्तं पंचहा एअं ॥१॥” तत्र स्वशासननिय-
न्त्रितविवेकालोकानां परपक्षप्रतिक्षेपदक्षाणां पातण्डिनामाभिग्राहिकं भवति, धर्माधर्मवादेन
परीक्षापूर्वकं तत्त्वमाकलय्य स्वाम्युपगतार्थं श्रद्धयानानां जैनानां परपक्षप्रतिक्षेपदक्षत्वेऽपि

नाभिग्राहिकम्, तद्विवेकालोकस्य स्वशास्त्रानियन्त्रितत्वात् । यस्तु नाम्ना जैनोऽपि स्वकु-
लाचारेणैवागमपरीक्षां नाधत्ते तस्याभिग्राहिकमेव भवति, सम्यग्दृष्टीनामपरीक्षिते पक्षपा-
तायोगात् । प्रज्ञापाटवाभावेन विवेकविकलानामपि गीतार्थनिश्चितानां मापतुपादिकल्पानां
नाभिग्राहिकमिति । अनाभिग्राहिकं सर्वे देवगुरवो घन्दनीयाः न निन्दनीयाः, तथा
सर्वोऽपि धर्मः श्रेष्ठ इत्यादिकमनेकविधं भवति । आभिनिवेशिकं जानानोऽपि स्वकीयं
कदाग्रहं न मुञ्चति, दुरभिनिवेशविप्लावितमत्तित्वाज्जमालिखदिति । सांशयिकं देवगुरुध-
र्ममध्यमन्यो वेति संशयानस्य भवति, अनाभोगिकं विचारशून्यस्यैकेन्द्रियादेः विशेषज्ञा-
नविकलस्य वा भवति । इदमपि सर्वांशविषयाव्यक्तबोधरूपं विवक्षितकिञ्चिदंशाव्य-
क्तबोधरूपं चेत्यनेकविधं भवति । पञ्चानामपि मिथ्यात्वानां बहुश्रुतधुरीणश्रीमन्मयायाचा-
र्योक्तानि लक्षणानि धर्मपरीक्षागतानि लिख्यन्ते-

“तत्राभिग्राहिकम्—अनाकलिततत्त्वस्याप्रज्ञापनीयताप्रयोजकस्वस्याभ्युपगतार्थश्रद्धानम्, यथा बौद्ध-
सांख्यादीनां स्वस्वदर्शनप्रक्रियावादिनाम्, यद्यपि चैतण्डिको न किमपि दर्शनमभ्युपगच्छति, तथापि
तस्य स्वाभ्युपगगवितण्डायादार्थ एव निविहामहवत्त्वादाभिग्रहिकत्वमिति नान्याप्तिः । ‘अनाकलिततत्त्वस्य’
इतिविशेषणाद् यो जैन एव धर्मवादेन परीक्षापूर्वं तत्त्वमाकलय्य स्वाभ्युपगतार्थं श्रद्धते तत्र नाति-
व्याप्तिः । यस्तु नाम्ना जैनोऽपि स्वकुलाचारेणैवागमपरीक्षां नाधत्ते तस्याभिग्रहिकत्वमेव, सम्यग्दृष्टो-
ऽपरीक्षितपञ्चपातित्वायोगात्, तदुक्तं हरिभद्रसूरिभिः—“पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ १ ॥” इति । यश्चागीतार्थो गीतार्थनिश्चितो मापतुपादिकल्पः
प्रज्ञापाटवाभावाद्नाकलिततत्त्व एव स्वाभिगतार्थं जैनक्रियाकदम्बररूपं श्रद्धते तस्य स्वाभ्युपगतार्थश्र-
द्धानं नाप्रज्ञापनीयताप्रयोजकम्, असद्ब्रह्मकल्पभावात्, किन्तु गुणवदाज्ञाप्रामाण्यमूलत्वेन गुणवत्पारत-
न्यप्रयोजकमित्य’ प्रज्ञापनीयताप्रयोजकत्व’विशेषणात् न तत्रातिव्याप्तिः ॥ स्वरराभ्युपगतार्थयोरविशेषेण
श्रद्धानमनाभिग्राहिकम्, यथा ‘सर्वाणि दर्शनानि शोभनानि’ इति प्रज्ञावतां मुग्धलोकानाम् । यद्यपि पर-
मोपेक्षावतां निश्चयपरिकर्मितमतीनां सम्यग्दृष्टीनां स्वस्थाने सर्वनयश्रद्धानमस्ति, शिष्यमतिविस्फारण-
रूपकारणं विनेकजननयार्थनियोरणस्याशास्त्रार्थत्वात्, तदाह सम्मतो सिद्धसेनः—“जिगमययणिज्जस-
सा मघगया परविमलणे मोहा । ते पुण न दिट्ठसमओवि भयइ सवे व अलिण्व” तथापि स्वस्थाना-
वियोगलक्षणैः विशेषेण तेषां सर्वनयश्रद्धानमस्तीति नातिव्याप्तिः ॥ विदुषोऽपि स्वरसवाहि भगवत्प्रणी-
तज्ञाप्रवाधितार्थश्रद्धानमाभिनिवेशिकम् । स्वस्वाशास्त्राधितार्थश्रद्धानं विपर्यस्तशाक्यादेरपीति तत्राति-
व्याप्तिवारणाय भगवत्प्रणीतत्वं शास्त्रविशेषणम् । भगवत्प्रणीतशास्त्रे याधितार्थश्रद्धानमिति सप्तमीगर्भस-
मामाप्तातिव्याप्तिनादयस्यम्, तथाप्यनाभोगात्प्रज्ञापकदोषाद्वा वितथश्रद्धानवति सम्यग्दृष्टायतिव्याप्तिः
अनाभोगाद्गुणनियोगाद्वा सम्यग्दृष्टेरपि वितथश्रद्धानभणनात् तथा चोक्तमुत्तराध्ययननिर्गुण्यै—“म-
ग्गहिटी जीयो उरइहं पययणं तु सरइइ । सरइइ असव्गमार्थं अणाभोगा गुरुणियोगा वा ॥१॥”
इति तद्वारणाय व्यसनवादीति सम्यग्बुद्धचरननिवर्त्तनीयमिति न. दोषमथापि जिनभद्रसिद्धसेनादिप्रावचनिकप्रधा-

नविप्रतिपत्तिविषयपक्षद्वयान्यतरस्य वस्तुनः शास्त्राधितत्वाच्चदन्यतरश्चद्वानवतोऽभिनिवेशित्वप्रसङ्ग इति तद्वारणार्थं 'विदुषोऽपी'ति—शास्त्रतात्पर्यवाचप्रतिसन्धानवत् इत्यर्थः । सिद्धसेनादयश्च स्वस्वाभ्युपगतमर्थं शास्त्रतात्पर्यवाचं प्रतिसन्ध्यायि पक्षपातेन न प्रतिपन्नवन्तः, किन्त्वविच्छिन्नप्रावचनिकपरम्परया शास्त्रतात्पर्यमेव स्वाभ्युपगतार्थानुकूलत्वेन प्रतिसन्ध्यायेति न तेऽभिनिवेशिनः । गोष्ठामाहि-
लादयः शास्त्रतात्पर्यवाचं प्रतिसन्ध्यायैवान्यथा श्रद्धेते इति न दोषः । भगवद्वचनप्रामाण्यसंशयप्रयुक्तः शास्त्रार्थसंशयः सांशयिकम्, यथा सर्वाणि दर्शनानि प्रमाणं कानिचिद्वा, इदं भगवद्वचनं प्रमाणं न वेत्यादि संशयानानां । मिथ्यात्वप्रदेशोदयनिष्पन्नानां साधूनामपि सूक्ष्मार्थसंशयानां मिथ्यात्वभावो मा प्रासाद्वक्ष्येदिति 'भगवद्वचनप्रामाण्यसंशयप्रयुक्तत्वं' विशेषणम् । ते च नैवभूताः किन्तु भगवद्वचनप्रामाण्यज्ञाननिवर्तनीयाः, सूक्ष्मार्थादिसंशये सति "तमेव सद्यं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं" इत्याद्यागमोदितभगवद्वचनप्रामाण्यपुरस्कारेण तदुच्चारस्यैव साध्याचारत्वात् । या तु दाह्या साधूनामपि स्वरसबाहितया न निवर्तते सा सांशयिकमिथ्यात्वरूपा सत्यनाचारापादिकैश्च, अत एव काह्यामोहो-
दयादाकर्षसिद्धिः ॥ साक्षात्परम्परया च तत्त्वाप्रतिपत्तिरनाभोगम् । यथैकेन्द्रियादीनां तत्त्वातत्त्वान-
ध्यवसायपतां मुपधलोकाणां च । यद्यपि मापतुपादिकरूपानां साधूनामपि साक्षात्तत्त्वाप्रतिपत्तिरस्ति, तथापि तेषां गीतार्थनिश्चितत्वात्तद्वत्तत्त्वप्रतिपत्तिः परम्परया तेष्वपि सत्त्वाश्च तत्रातिव्याप्तिः । तत्त्वा-
प्रतिपत्तिश्चात्र संशयनिश्चयसाधारणं तत्त्वज्ञानसामान्याभाव इति न सांशयिकेऽतिव्याप्तिरिति विष् । ॥

भव्यानां पञ्चापि मिथ्यात्वानि भवन्ति । अभव्यानामभिग्राहिकानाभोगिकरूपे द्वे एव भवतः, न दोषाणि, यतो व्यवच्छिन्नपक्षपातत्वेन मलात्पत्यनिवन्धनमनाभिग्राहिकम्, व्याप-
श्रद्दर्शननियतत्वेनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तशेषसंसारिणां चामिनिवेशिकं भवति, सांशयिकमपि त-
स्य न भवति, प्रयचननाधितार्थेऽभ्यस्य निष्कम्पत्वेनैव प्रवृत्तेः, सांशयिकमिथ्यात्ववत्तस्तु सकम्पैव प्रवृत्तिः । अत एव भव्याभ्यव्यत्यदाह्याऽप्यभ्यव्यत्याचाराद्वृत्तौ निषिद्धा, तदुक्तम्—
"अभ्यव्यस्य भव्याभ्यव्यत्यदाह्या अभावात्" इति । नन्वन्तस्तत्त्वशून्यानामभव्यानामनाभोगिकं मिथ्यात्वं भवतु परमाभिग्राहिकं कथं भवतीति चेत् ? नास्त्येवात्मा १ न नित्यात्मा २ न कर्त्ता ३ कृतं न यैदयति ४ नास्ति निर्वाणं ५ नास्ति निर्वाणोपाय ६ इत्याद्याभिग्राहिकस्य चार्थाका-
दिदर्शनप्रवर्त्तकस्य पट्टं भेदा भवन्ति, ते च सदा नास्तिकमत्तानामभव्यानां व्यक्ता भवन्तीति कथमाभिग्राहिकत्वे तेषां संशय इति । नन्वभव्यानां व्यक्तमिथ्यात्वे किं प्रमाणमिति चेत् ? गुणस्थानक्रमारोहसूत्रवृत्तिः, तथा च तद्वन्त्यः—
"अभव्याश्रितमिथ्यात्वेऽनाद्यनन्तास्थितिर्भवेत् । सा भव्याश्रितमिथ्यात्वेऽनादिसान्ता पुनर्मता ॥१॥ अभव्यानाश्रित्य मिथ्यात्वे—सामान्येन व्यक्ता-
व्यक्तमिथ्यात्वविषयेऽनाद्यनन्ता स्थितिर्भवति । तथा सेव स्थितिर्भव्यजीवान् पुनराश्रित्यानादिसान्ता मता । यदाह—मिच्छतममघ्राणं तमणाद्मणंतयं गुणेष्वं । अघ्राणं तु अणाहंसपञ्चवसियं तु सम्मत्ते ॥१॥" इति स्पष्टं व्यक्तमिथ्यात्वं भवति । अपि च प्रयचनाहृत्यत्यनीकानां व्यक्ततरतीप्रमिथ्यात्वमोहनी-
योदयानां पालकसद्गमादीनां नानाप्रकाराः कुविकल्पाः श्रूयन्ते, किञ्च मोक्षकारणे धर्मं एका-
स्तभयकारणत्वेनाधर्मश्रद्धानरूपं मिथ्यात्वमपि लब्ध्याद्यर्थं गृहीतप्रज्ञस्यानां व्यक्तमेव भव-

ति । ननु व्यवहारतो व्यक्तमिथ्यात्वे सम्यक्त्वे वा सत्यपि निश्चयतः सर्वकालमप्यनाभोग-
मिथ्यात्वमिति चेत् ? न, आभिग्राहिकस्थलेऽपि निश्चयतोऽनाभोगकल्पनाप्रसङ्गेन तदुच्छे-
दप्रसङ्गात्, बहिरन्तर्व्यक्ताव्यक्तोपयोगद्वयाम्युपगमेऽपसिद्धान्तकलङ्कदूषितत्वाच्च । ननु
क्रियावादित्वाभिव्यञ्जकं धर्मबुद्ध्या क्रियारुचिनिमित्तं चरमपुद्गलावर्त्तशेषसंसारस्य व्यक्त-
मिथ्यात्वं भवति, तदुक्तम्—“वेसु वि एगो पुग्गलपरिअट्ठो जेसि हुञ्ज संमारो । तहमवत्ता वेसि
केसिची होइ किरियइ ॥ १ ॥ तीए किरियाकरणं ढिंयं पुण होइ धम्मबुद्धीए । किरियाइमिनिमित्तं जं
बुजं वत्तमिच्छंति ॥ २ ॥” इति, ततोऽन्यदव्यक्तमिथ्यात्वम्, न चाभव्यस्यैकपुद्गलावर्त्तशेष-
संसारः, ततस्तस्याव्यक्तमिथ्यात्वं सिद्धमिति चेत् ? न, अचरमावर्त्तवर्त्तिनां भव्यानां शा-
क्यादीनामप्यव्यक्तानाभोगमिथ्यात्वसत्त्वे आभिग्राहिकमिथ्यात्वोच्छेदप्रसङ्गात्, तथा शा-
क्यादीनामुन्मार्गगामित्वमपि न स्यात्, तथाच—“कुणववणपासंडी सव्वे उम्मगापइइट्ठिया”
इत्यागमविरोधश्च । नन्वनाभोगमिथ्यात्ववत्तामपि शाक्यादीनामुन्मार्गगामित्वे को दोष इति
चेत् ? न, अनाभोगमिथ्यात्वे उन्मार्गगामित्वस्यैवासंभवात्, तथाहि—अनाभोगमिथ्यात्व-
स्यानादिमत्त्वेन तद्वतां निजगृहकल्पत्वेन न मार्गगामित्वं न वोन्मार्गगामित्वं स्यात्, यथा-
लोकेऽपि स्वगृहस्थितो न मार्गगामी न वोन्मार्गगामीति व्यपदिश्यते, किन्तु गृहाग्निर्यतोऽ-
ऽभीष्टपुरं गच्छन् मार्गगामीति भण्यते, अन्यथा तून्मार्गगामीत्युच्यते । एवं तथाभव्यव-
शोपादनादिमिथ्यात्वाद्भिर्गतो यदि जैनमार्गं प्रतिपद्यते तदा मार्गगामी, जिनोक्तमार्गस्यैव
मोक्षमार्गत्वात्, यदि शाक्यादिदर्शनं जमालिप्रमुखस्य वा दर्शनं प्रतिपद्यते तदोन्मार्गगा-
मित्वं व्यपदिश्यते, तद्दर्शनस्य संसारनिवन्धनत्वेन मोक्षमार्गं प्रत्युन्मार्गत्वादिति नानाभो-
गमिथ्यात्वे उन्मार्गगामित्वम् । उन्मार्गगामित्वं चाभव्यानां, चरमावर्त्तवर्त्तिनामचरमावर्त्तव-
र्त्तिनां वा भव्यानां सुस्पष्टमेवातोऽभव्यानामपि दुर्भव्यानामिध स्वयोग्यभूम्यनुसारेण
व्यक्ताभिग्राहिकमिथ्यात्वस्वीकारे न कोऽपि दोष इति । ये च केचनाधुनिका लोकवञ्चनपरा
वैपविडम्बका दम्भप्रियादयः शास्त्रविहितां भागवतीदीक्षामयोग्यत्वेनोपदिशन्ति, स्वोद-
रपूरणार्थं च लोकहेरीकया भवोपयोगिविज्ञानशालाद्यर्थं सूत्रविरुद्धं यथा तथा प्ररूपयन्ति,
देशकालादिव्याजेन तथोपदेशश्च मुनीनां कर्त्तव्यमिति च मन्यन्ते, देवद्रव्यापोहं च
कुर्वन्ति तेऽप्यभिनिवेशमिथ्यात्वान्तर्गता मन्तव्या इति ॥

एवमनाभिग्राहिकादीनामपि मिथ्यात्वानामाशयभेदेन बहवो भेदा भवन्ति, तथाहि—
अनाभिग्राहिकं द्विविधं भवति, तद्यथा—सर्वदर्शनविषयकं यथा सर्वाणि दर्शनानि शोभ-
नानीति, देशविषयकं यथा सर्व एव श्वेताम्बरदिगम्बरादिपक्षाः शोभना इत्यादि । आभिनि-
वेशिकस्यापि जमालिगोष्ठामाहिलादिभिः मतिभेदेन प्रधाविता अनेके भेदास्सन्ति, तदुक्तं
व्यवहारभाष्ये—“मइभेएण जमालीं पुंणि बुग्गाहिणण गोविंदो । संसग्गए भित्तू गोठ्ठामाहिछ
अहिणिवेसत्ति ॥ १ ॥” इति । सांशयिकमपि सर्वदर्शनजैनदर्शनतदेकदेशपदवाक्यादिसंश-

यमेदेन बहुभेदं भवति । अनाभोगिकमपि मिथ्यात्वं सर्वांशविषयाव्यक्तबोधरूपं विव । तकिश्चिदंशाव्यक्तबोधरूपमित्याद्यनेकविधं भवति । तत्राभिप्राहिकाभिनिवेशलक्षणे मिथ्यात्वे फलमपेक्ष्य गुरु, विपर्यासरूपत्वेन सानुबन्धकेशमूलत्वात्, विपर्यासोऽत्र मह दोषः, असत्प्रवृत्तिहेतुत्वेन दुष्प्रतीकारत्वादतो गुरुके । शेषाणि त्रीणि फलतः प्रज्ञाप यतारूपं गुरुपारतन्त्र्यरूपं च फलमपेक्ष्य लघूनि भवन्ति, विपरीतावधारणरूपविपर्या व्यावृत्तत्वेनैतेषां क्रूरानुबन्धफलकत्वाभावादिति, अनध्यवसायसंशयौ तु न गुरुदोषकौ, अतच्चाभिनिवेशाभावेन तयोः सुप्रतिकारत्वेनात्यन्तानर्थसम्पादकत्वाभावादत । त्रीणि लघूनि भवन्ति, तदुक्तं श्रीमद्भरिभद्रसूरिपादैरुपदेशपदे—“एतो अ एत गुर गाणज्ञावसायसंसया एवं । जम्हा असत्पवित्री एतो सङ्गत्यणत्थफला ॥ १ ॥” इति । तच्च । ध्यात्वं त्रिविधमनाद्यनन्तमभव्यस्यानादिसान्तं भव्यस्य, सादिसान्तं सम्यक्त्वात् प्रतिप्रत मिथ्यात्वमागतस्येत्युक्तं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ॥

सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमुच्यते—तत्रायमौपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयत्यप यतीति सासादनमनन्तानुबन्धकपायवेदनम्, “दृष्टोदरादित्याद्यलोपः” “दृढबुलमिति क नट” —। आसादनेन सह वर्तते इति सासादनः, सम्यगविपर्यस्ता दृष्टिः जिनप्रणीतवस्तुप्रति त्तिः यस्य स सम्यग्दृष्टिः, सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः । सास्वादनस ग्दृष्टिगुणस्थानमिति या पाठः तत्रौपशमिकसम्यक्त्वलक्षणरसास्वादेन सह वर्तते इति सास दनः, तथाहि—भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलिकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादया तद्वन्मिथ्यात्वाभिमुखत्वेन सम्यक्त्वस्योपरि व्यलिकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमन् तद्रसमास्व यति, सास्वादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सास्वादनसम्यग्दृष्टिस्तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग् दृष्टिगुणस्थानम् । परमानन्दरूपानन्तमुखफलप्रदो मोक्षवीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वला जघन्यतः समयेनोत्कृष्टतः पडावलिकाभिरपगच्छति, स एव सास्वादनगुणस्थानक इत्युक्तं सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् ॥

अथ मिश्रगुणस्थानमुच्यते, सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्विस्तारौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्त गुणस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् । अर्द्धविशुद्धदर्शनमोहनीयपुञ्जोदयादर्द्धविशु जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानं भवति, ततोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमुच्यं अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं तु नियमेन सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा गच्छतीति ॥

अधापिरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमुच्यते—विरतिः विरतं “शीवे चप्रलयः” तत्पुनः स षयोगप्रत्याख्यानं, तच्च जानाति नाभ्युपगच्छति न तत्प्राप्त्याय यतत इति त्रया पदानामर्था भद्राः । तत्र प्रथमेषु चतुर्षु भद्रेषु नियमात् मिथ्यादृष्टिरज्ञानित्वात्, शेष त्रिषु सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानित्वादिति । सप्तसु भद्रेषु नास्य विरतमस्तीत्यविरतो—“अधादि” इत्यप्रत्ययः, चरमे तु भद्रे विरतिरमीति ।

॥ अष्टभङ्गकयन्त्रम् ॥

| | | | |
|----------|-------------|----------|-----------------|
| न जानाति | न स्वीकरोति | न पालयति | सर्वलोभः |
| न जानाति | न स्वीकरोति | पालयति | अज्ञानतपहरी |
| न जानाति | स्वीकरोति | न पालयति | पाशंस्थः |
| न जानाति | स्वीकरोति | पालयति | अगीतार्थः |
| जानाति | न स्वीकरोति | न पालयति | प्रेमिकादयः |
| जानाति | न स्वीकरोति | पालयति | अनुत्तादेवाः |
| जानाति | स्वीकरोति | न पालयति | संविप्रपाक्षिकः |
| जानाति | स्वीकरोति | पालयति | धृतघारी |

यद्वा विरमति स सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति विरतो न विरतोऽविरतः । चासौ सम्यग्दृष्टिश्चाविरतसम्यग्दृष्टिः, च क्षायिकसम्यग्दृष्टिरौपशमिकसम्यग्दृष्टिः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्वा, परममुनिप्रणीतां सावद्ययोगविरतिं सिद्धिसौधाध्यारोहणनिःश्रेणिकत्वां जानन्नप्यप्रत्याख्यानकषायविघ्नितत्वान्नाभ्युपगच्छति, न तत्पालनाय यतत इत्यसावविरत-सम्यग्दृष्टिस्तस्य गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, तदुक्तं—“वधं अविरदं जाणतो रगदोसदुक्तं च । विरदसुहं इच्छन्तो विरदं काउं च असमत्यो ॥ १ ॥ एस असंजमसंमो निंदतो पापकम्मकरणं च । अहिगयजीवाजीवो अचलियदिट्ठी चलयमोहो ॥ २ ॥” इति । एतच्च गुण-स्थानं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतः साधिकत्रयास्त्रिंशत् सागरोपमं यावद्भवति, परतो देश-विरतित्यादिभाषादिति । मिश्रवर्जान्येतान्येव त्रीणि गुणस्थानानि गत्यन्तरमनुगच्छन्ति, न दोषाणीति । सम्यक्त्वं च सर्वथा मिथ्यात्वत्यागेन भवति, तस्यागश्च त्रिविधत्रिविधप्रत्या-ख्यानेन भवति, तदुक्तम्—“मिच्छत्तपडिक्कमणं तिविहं तिविहेण नायवं” इति । अत्र चेयं भा-यना-अनन्तरोक्तं मिथ्यात्वं मनोवाक्यैः न करोति न कारयति न चानुमोदयति, तदु-क्तम्—“एअं अणंतवुत्तं मिच्छत्तं मणसा न चिंतइ करेमि । सयमेव सो करेव अण्णेण कए थ सुट्ठु कयं ॥ १ ॥ एवं वाया न भणइ करेमि अण्णं च न भणइ करेह । अन्नकयं न पसंसइ व कुणइ सयमेव काण्णं ॥ २ ॥” इति । ननु त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यातमिथ्यात्वस्य मिथ्यादृष्टि-संसर्गेणानुमतिरूपं मिथ्यात्वं कथं न स्यादिति चेत् ? न, तस्याप्यतिचाररूपत्वेन वर्ज-नीयत्वस्यैवोक्तत्वात् । ननु यथा पुत्रादिकृतारम्भादौ संवासानुमतिः भवति, तदुक्तम् धर्मसंग्रहचूत्तौ—“अस्य चानुमतिरप्रतिपिद्धा, अपत्यादिपरिग्रहसद्भावात् तैः हिंसाकरणे तस्यानु-मतिप्राप्तेः, अन्यथा परिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रज्जिताप्रज्जितयोरभेदापत्तेः” एवं स्वकुटुम्बस्य मिथ्यादृष्टेः वर्जनाशक्तत्वेन संवासानुमतिः कथं न स्यादिति चेत् ? न, आरम्भणः संवासे आरम्भक्रियायाः कलात् प्रसवात् हिंसादौ संवासानुमतिसंभवेऽपि मिथ्यात्वस्य भावरूप-त्वेन तदसंभवात्, अन्यथाऽङ्गारमर्दकाचार्यशिष्यवत् संयतस्यापि मिथ्यादृष्टिनिश्चाया अपि

संभवेन तत्संवासानुमतेर्दुर्वारत्वादिति । नवैहिकाद्यर्थं रावणकृष्णादिवत् यक्षाद्याराधने को दोषः ? तत्त्ववृत्त्या अदेवादौ देवत्वबुद्ध्याऽऽराधने एव मिथ्यात्वस्य भावादिति चेत् ? न, परम्परया मिथ्यात्ववृद्धिस्थिरीकरणादिप्रसङ्गेन प्रेत्य दुर्लभवोधित्वापत्तेः, तदुक्तम्—“अने-
सि सत्ताणं मिच्छतं जो जणेइ भूढप्पा । सो तेण निमित्तेणं न लहइ बोहिं जिणाभिहिं ॥ १ ॥” इति ।
रावणकृष्णाद्यालम्बनमप्यनुचितमेव, कालभेदात्, यतस्तत्समयेऽर्हद्धर्मस्येतरधर्मभ्योऽति-
शायित्वेन न मिथ्यात्ववृद्धिस्तादृशी, सम्प्रति तु स्वभावतोऽपि मिथ्यात्ववृद्धिर्दुर्निवारैवा-
तो यक्षाद्याराधनमुत्सर्गतस्त्याज्यमेवेति । एवं मिथ्यात्वपरिहारपुरस्सरं सम्यक्त्वमानन्दा-
दिश्चावकोपदर्शितविधिना गुरुसमक्षमालापकोच्चारणपूर्वकं प्रतिपत्तव्यमिति, तदुक्तमा-
गमे—“तत्थ समणोवासओ पुद्भमेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ, सम्मत्तं उवसंपज्जइ, नो से कप्पइ अज-
प्पभई अन्नउत्थिप वा अन्नउत्थि अदेवयाणि वा अन्नउत्थिअपरिगगहिअरिहंतचेइयाइ वा धंवित्तप वा
णमंसित्तप वा पुर्वि अणालित्तेणं आलवित्तप वा संलवित्तप वा तेसि असणं वा पाणं वा खाइमं वा सा-
इमं वा दाणं वा अणुपदातं वा णण्णस्य रायाभिओगेण गणाभिओगेण देवयाभिओगेण गुरुनिगगहेण वि-
चीकंतारेण” इति, योगशास्त्रवृत्ताचपि—“एवंविधं च सम्यक्त्वं विशिष्टद्रव्यक्षेत्रकालभावसामग्र्यां
सत्यां गुरोः समीपे विधिना प्रतिपद्य श्रावको यथावत् पालयति, यदाह—“समणोवासओ तत्थ मिच्छ-
त्ताओ पडिक्कमे । दग्धओ भावओ पुर्वि सम्मत्तं पडिवज्जए ॥ १ ॥ न कप्पए से परवित्थिआणं तहेव तेसिं
चिअ देवयाणं । परिगगहे ताण य चेइआणं पहावणावंदणपूअणाई ॥ २ ॥ लोआण वित्थेसु सिणाणदाणं
पिंडप्पयाणं हुणणं तवं च । संकंति सोमग्गहणाएसुं पभूअलोआण पवाहकिचं ॥ ३ ॥” इति । इत्थं च
सम्यक्त्वाणुप्रतादिप्रतिपत्तिः सर्वापि गुरुसाक्षिकैव फलवती भवति, नान्यथा, तदुक्तं पश्चा-
द्भाके—“गुरुमूले सुअपम्मो संविगो इत्तरं च इअरं वा । गिण्हइ क्याइ कोई पालेइ तहा निरइआरं ॥ १ ॥”
वृत्तिः—गुरुः सम्यग्ज्ञानक्रियायुक्तः सम्यग् धर्मशास्त्रार्थदेशको, यदाह—“धम्मंशो धम्मकर्त्ता च,
सदा धम्मपरायणः । सत्त्वेभ्यो धम्मशास्त्रार्थ—देशको गुरुरुच्यते ॥ १ ॥” अथवा—“जो जेण सुद्धधम्मो
निओइओ संजएण गिहिणा या । सो चेव वस्स मण्णइ धम्मगुरु धम्मदाणाओ ॥ १ ॥” तस्य
गुरोराचार्यस्य मूलमन्तिकं गुरुमूलं तत्र, गुरुमूलेऽनेनान्यत्र धर्मध्वजप्रतिपेधो दर्शितो, विपर्यस्तबोध-
संभवात् । ‘ध्रुतधर्मः’ आकर्णितानुप्रतादिप्रतिपादनपरामर्शनः, अनेन चाभुतागमस्य ज्ञानाभावेन ध्रुत-
प्रतिपत्तिर्न सम्यगिति तत्प्रतिपेधो दर्शितो, यदाह—“जस्स नो इमं उवगयं भवइ इमे जीवा इमे यावरा
इमे तसा वस्स नो सुपच्चक्खायं भवइ, से दुप्पच्चक्खायं भवइ, से दुप्पच्चक्खाई मोसं भासइ, नो सधं
भासइ” इति, तथा स्वयमुल्लेखितशास्त्रस्यापि प्रतिपेध उक्तः, स्वयमुल्लेखेण हि सम्यक् शास्त्रानवगमेन
सम्यक्प्रवृत्त्यभावात्, यदाह—“न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् । प्रफटितप-
श्चाद्भागं पश्य नृलं मयूराणाम् ॥ १ ॥” तथा शातधर्मत्वदेव संविगो मोक्षामिलापी सन् संसारमीतो
या, अन्यथापिपस्य हि ध्रुतप्रतिपत्तिर्न मोक्षाय स्यात्, इत्वरमल्पकालं इतरं वा बहुकालं यावज्जीव-
मितायः” इति ।

तद्य सम्यक्त्वं पञ्चभिः लक्षणैर्लक्ष्यते । लक्षणानि चोपशमसंवेगनिर्वेदानुक्म्पास्तिक्याख्या-

नि पञ्च भवन्ति, तत्रोपशमोऽनन्तानुबन्धिनामनुदयः, स च कपायपरिणतेः कदुकफलावलोकनात् प्रकृत्या या, तदुक्तम्—“पगईए कम्माणं नाऊणं वा विवागमसुहं ति । अवरद्धे वि न दुणइ उवसमो सब्बकालं पि ॥१॥” । अन्ये तु क्रोधकण्डूविषयतृष्णोपशमः शम इत्याहुः, सम्यग्दृष्टिः श्रमणोपासकः आत्मानं क्रोधकण्डू विषयतृष्णया च न तरलीकियेत । ननु विषयतृष्णातरलितचेतसां क्रोधवतां श्रेणिककृष्णादीनां सापराधे निरपराधे च परस्मिन् कथं शमः ? तदभावे च कथं सम्यक्त्वसंभव इति चेत् ? मैवम्, सम्यक्त्वे सति लिङ्गैरवश्यं भाव्यमिति न नियमः, लिङ्गाभावेऽपि लिङ्गिनस्तप्तायोगोलके दर्शनात्, तदुक्तम्—“लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव लिङ्गिन्येवेतरत्पुनः । नियमस्य विपर्यासे संवन्धो लिङ्गलिङ्गिनोः ॥१॥” इति, यद्वा संज्वलनकपायोदयात् श्रेणिककृष्णादीनां क्रोधकण्डूविषयतृष्णे, संज्वलनकपायाणामपि तीव्रचतुःस्यानिकरसस्पर्धकोदयत्वेनानन्तानुबन्धिसदृशविपाको भवति । मोक्षसुखामिलापः संवेगः, सम्यग्दृष्टिः हि नरेन्द्रदेवेन्द्रविषयसुखानां वस्तुतो दुःखजनकत्वेन सुखाभासतयैव मन्यमानो निर्वाणसुखमेव सुखत्वेन मन्यतेऽभिलपति च, तदुक्तम्—“नरविमुहेसरसुकुपं दुक्कं चिअ भायः ओअ मन्नतो । संवेगओ न मोक्कं मोत्तूणं किंचि परयेइ ॥१॥” इति । भववैराग्यं निर्वेदः, सम्यग्दृष्टिः हि दुःखदौर्गत्यगहनैः संसारकारागारे कर्मपाशकैः कदर्यमानो निर्ममश्च दुःखेन निर्विण्णो भवति, तदुक्तम्—“नारयतिरिनरामरमेवसु निवेअओ वसइ दुक्कं । अकयपरलोगमगे ममत्तविसवेगरहिओ अ ॥१॥” इति । अन्ये तु संवेगनिर्वेदयोरर्थविपर्यासमाहुः—संवेगो भवविरागो निर्वेदो मोक्षामिलाप इति । पक्षपाताभावेन दुःखितेषु दुःखप्रहाणेच्छा अनुकम्पा, पक्षपातेन तु व्याघ्रादीनामपि स्वपुत्रादावनुकम्पा विद्यत एव, सा चानुकम्पा द्रव्यभायभेदात् द्विविधा भवति, द्रव्यतो दुःखिनां यथाशक्ति दुःखप्रतीकारेण, भावतश्च धर्म्मविहीनेष्व्याद्रूढयत्वेन भवति, तदुक्तं—“वट्ठण पाणिनिमहं मीमे भवसागरंमि दुक्कत्तं । अविसेसओऽणुकपं दुहा वि सामस्यओ पुणइ ॥ १ ॥” इति । अस्तीति मतिरस्येत्यास्तिकस्तस्य भावो धर्म्मो वा आस्तिक्यम्, तच्चान्तरश्रवणेऽपि जिनोक्ततत्त्वविषये या निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिस्तद्वान् ह्यास्तिक इत्युच्यते, तदुक्तम्—“मण्णइ तनेय सत्थं नीसकं जं जिणेहि पण्णत्तं । सुहपरिणामो सम्म कंसाइविमुत्तिआ खिओ ॥१॥” इति । यत्र च मोहवशात् क्वचिच्छङ्कोपजायते, तत्र चेत्यमाराध्यपादश्रीजिनभद्रगणिक्रमाश्रमणप्रतिपादिताप्रतिहतार्गला—“जत्थ य मइदुल्लेण तहविह आयरिअविरहओ वा नि । नेयगहणत्तणेण य नाणानरणोदण्णं च ॥ १ ॥ हेऊदाहरणासंभवे अंसइ दद्दु जं न मुण्णेआ । सत्थणुमयमवितहं तहा वि तं चित्तं मइमं ॥ २ ॥ अनुयक्कयपराणुगहपरायणा जं जिणा जगप्पयरा । जिअरागदोसमोहा य नग्राहा वाइणो तेणं ॥ ३ ॥” उमास्वातिवाचरुमुख्यैरप्युक्तम्—“सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादश्रम्य भवति नरः । सिध्दादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥ १ ॥” इति । अन्ये तु शमादीनि लिङ्गान्यन्यथा व्याचक्षते—सुपरीक्षितप्रयत्नप्रवाच्यप्रयत्नतत्त्वामिनिधेदात्मिध्यामिनिधेदोपशमः शमः स सम्यग्दर्शनस्य लक्षणं, यो ह्यतत्त्वं विहायात्मना तत्त्वं प्रतिपन्नः स लक्ष्यते सम्यग्दर्शनयानिति । संवेगो भयः, जिनपचनानुमारिणो नरकेषु शीतोष्ण-

सहनं संक्षिप्तसुरादिनिर्मितं परस्परोदीरितं च तिर्यक्षु भारारोपणाद्यनेकविधं मनुजेषु दारि-
द्र्यदीर्घायादिदेवेष्वपीर्ष्याविषादपरप्रेष्यत्वादि च दुःखमवलोकयतस्तद्गीरुतया तत्प्रश-
मोपायभूतं धर्ममनुष्ठानतुल्यकथ्यते-विद्यतेऽस्य सम्यग्दर्शनमिति । निर्वेदो विषयेष्वनभिष्वङ्गः,
यथेह लोके एव प्राणिनां दुरन्तकामभोगाभिष्वङ्गोऽनेकोपद्रवफलः परलोकेऽप्यतिक्रु-
नरकतिर्यग्मनुष्यजन्मफलप्रदोऽतो न किञ्चिदनेन, उज्जितव्य एवायमित्येवंविधेन निर्वेदेनापि
लक्ष्यतेऽस्त्यस्य सम्यग्दर्शनमिति । अनुकम्पा कृपा, यथा सर्व एव सत्त्वाः सुखार्थिनो
दुःखग्रहाणार्थिनश्च ततो नाल्पापि पीडा मयैषां कार्येत्यनयापि सम्यग्दर्शनमस्त्यस्येति
लक्ष्यते । सन्ति च जिनोपदिष्टा अतीन्द्रिया जीवपरलोकादिभावा इति परिणाम आस्तिक्य-
मनेनापि सम्यग्दर्शनयुक्तोऽयमिति लक्ष्यते । उक्तानि पञ्चलक्षणानि ॥

अथ चतुष्प्रकारं सम्यक्त्वश्रद्धानमुच्यते-सम्यक्त्वं श्रद्धीयतेऽस्तीति प्रतिपद्यतेऽनेनेति
सम्यक्त्वश्रद्धानम्, तत्र परमार्थो जीवादयः पदार्थास्तेषां संस्तवः परिचयः परमार्थसंस्तवः
प्रथमं श्रद्धानम् । सुज्ञातपरमार्थाः यतिजनाः आचार्यादयस्तेषां सेवनं सुज्ञातपरमार्थयति-
जनसेयनं द्वितीयं श्रद्धानमिति । निह्वानां परित्यागस्तृतीयं श्रद्धानम् । शाक्यादीनां
वर्जनं चतुर्थं श्रद्धानमिति । अङ्गारमर्दकादीनां परमार्थसंस्तवादिसंभवेऽपि तात्त्विकानामे-
तेषामन्नाधिकृतत्वेन तेषां तथाविधानामसंभयात् न व्यभिचार इति, तदुक्तम्-“परमत्य-
संत्वो दलु मुमुणिअमरमत्वज्जणनित्सेवा । वाचमकुदिद्वीण य वज्जणा सम्मत्तसद्वहणा ॥ १ ॥” इति
उक्तं चतुष्प्रकारं श्रद्धानम् ॥

अथ त्रिविधं लिङ्गमुच्यते-शुश्रूषा धर्मरागो, गुरुदेवानां यथासमाधिना धैर्यावृत्त्यकर-
णनियमः, तत्र श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा सद्बोधवन्धननिबन्धधर्मशास्त्रश्रवणवाञ्छेत्यर्थः, सा
च धैर्यादिगुणवत्तरुणनरकिन्नरगायनश्रवणरागादप्यधिकतमा सम्यक्त्वे सति भवति,
तदुक्तं-“यूतो धैर्यवन्तः कान्तायुक्तस्य कामिनोऽपि दृढम् । किन्नरगेयश्रवणादधिको धर्मश्रु-
यगः ॥ १ ॥” इति । तथा धर्मे चारित्र्यलक्षणे रागो, न तु श्रुतधर्मे, शुश्रूषालक्षणेनैव गतार्थत्वात्,
स च कर्मदोषात् तदकरणेऽपि कान्तारातीतदुर्गतबुभुक्षाक्षामकुक्षिघ्राक्षणाघृतघरभोजनामि-
लापादप्यतिरिक्तो भवति । तथा गुरवो धर्मोपदेष्टारो देवा अर्हन्तस्तेषां धैर्यावृत्त्ये तत्प्रति-
पत्तिविश्रामणाभ्यर्चनादी नियमोऽयदयं कर्तव्यताङ्गीकारः, स च सम्यक्त्वे सति भवतीति
धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् सम्यग्दृष्टेस्तानि लिङ्गानि । एभिस्त्रिभिः लिङ्गैः सम्यक्त्वं समु-
त्पन्नमस्तीति निश्चीयत इति भावः । धैर्यावृत्त्यनियमस्य तपोमेदत्वेन चारित्र्यांशरूपत्वेऽपि
सम्यक्त्वे सत्येयापदयंभावित्येऽपि च नाविरतिसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकाभावप्रयोजकतोद्भावा-
त्, एतद्रूपचारित्रस्याल्पतमत्वेनाचारित्र्यतया विवक्षितत्वात्, संमूर्च्छनजानां संज्ञामात्रसद्भावे-
ऽपि पिशितसंज्ञाऽभावादसंज्ञित्वव्यपदेशवत्, विरतित्वं च महाप्रताणुप्रतरूपानल्पचारि-
प्रसन्नाय एवेप्पते, यतो न कार्ष्णपणधनेन धनयानेकगयेन वा गोमानिति । उपशान्तमोहादिषु
सु कृतकृत्यत्वादेषां साक्षादभावेऽपि पठ्यतया सद्भावात्, यद्वा श्रायकधर्मापेक्षया शुश्रू-

पादीनि लिङ्गानि भवन्तीति न दोषः, तदुक्तम् पञ्चाशकवृत्तौ—“श्रावकधर्माधिकारदा, यच्छ्रावकावसायां सम्यक्त्वं तदाश्रित्य शुश्रूषादयस्तु भवन्ति दृढमित्यभिहितमतो न दोषः” इति । प्रतिपन्नसम्यक्त्ववता श्राद्धेनादित एव नियमपूर्वं गुरुदेवानां वैयावृत्त्ये तथाऽभ्यासः कार्यः यथा श्राद्धविधावुक्तः, तथा च तन्नन्यः—“पूर्वं तावन्मिथ्यात्वं त्याज्यं ततो नित्यं यथाशक्ति त्रिद्विः सकृद्वा वन्दनं जिनपूजा जिनदर्शनं सम्पूर्णदेववन्दनं चैत्यवन्दना च कार्येति, एवं सामग्र्यां गुपे बृहद्गुपे वा वन्दनं, सामग्र्यभावे नामग्रहणेन वन्दनं, नित्यं वर्षाचतुर्मासां पञ्चपञ्च्यादौ पाटप्रकापीपूजा, यावज्जीवं नव्याप्रपकाप्रकलादेर्देवस्य ढौकनं विनाऽग्रहणं, नित्यं नैवेद्यपूगादेर्ढौकनं, नित्यं चातुर्मासीप्रय-
वार्पिकदीपोत्सवाद्यौ षाऽष्टमङ्गलढौकनं, नित्यं पर्वसु वा वर्षमध्ये कियद्द्वारं वा राधास्थायीदिसर्गवन्दनं देवस्य गुरोश्च प्रदानपूर्वं भोजनं, प्रतिमासं प्रतिवर्षं वा महाध्वजप्रदानादिविस्तरेण स्नायमहापूजारात्रि-
जागरणादि, नित्यं वर्षादौ कियद्द्वारं चैत्यशालाप्रभार्जनसमारचनादि, प्रतिवर्षं प्रतिमासं वा चैत्येऽगस्त्ये-
पणं दीपार्थं पुष्पिकायाः कियद्दीपघृतचन्दनखण्डादेः शालायां सुपत्रवस्त्रजपमालाप्रोच्छनकचवरषलकापथै
कियद्ब्रह्मरुम्भलोगविश्र मोचनं, वर्षासु आद्यादीनामुपवेशनार्थं कियत्पट्टिकायैः करणं, प्रतिवर्षं सूत्रादिनापि
सप्तपूजा कियत्तापनिर्मिकवात्सल्यादि च, प्रत्यहं कियान् कायोत्सर्गः स्वाध्यायः त्रिशलादिगुणनं च, नित्यं
दिवा नमस्कारसहिवादेः रात्रौ दिवसपरिमस्य च प्रत्याख्यानस्य करणं, द्विः सकृद्वा प्रतिक्रमणादि
चादौ नियमनीयानि” इति । नन्वविरतसम्यग्दृष्टीनां विरतिपरिणामाभावेन प्रत्याख्यानप्रति-
क्रमणादेः करणं न युक्तम्, अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानाभावप्रसङ्गात्, नचास्मदादिबाह्य-
क्रियाकूटानि गुणस्थानान्ध्यायान्तीति वाच्यम्, क्षायोपशमिकभावरूपत्वात्तेषामिति चेत् ?
न, अग्निप्रायापरिज्ञानात्, अविरतानां विरतिक्रियाकरणमागमे न निषिद्धं केवलं पारमा-
र्थिकाध्यवसायरूपो विरतिपरिणामरूपः क्षायोपशमिकभावो न भवति, स च विशुद्धमत-
ग्रहणादिक्रियाकारणं तन्माहात्म्यादेव तद्ग्रहणानन्तरमसन्नप्युपजायते सैश्च परिवर्धते, ननु
प्रतिपातशीलो भवति । अत एवास्मदादिबाह्यक्रियाकूटानि गुणस्थानानि नायान्तीति बुद्ध्या
सम्यक्क्रियायां नोदासितव्यम्, प्रयत्नेन तेषामपि सुलभत्वात्, उपायाधीनत्वादुपेयस्य ।
न चैतत् स्वमनीषिकया विजृम्भितम्, तथा चाहुः श्रीमन्तो हरिभद्रसूरिपादाः—“गहणा-
दुवरि पयसा होइ असन्तो वि विरइपरिणामो । अकुसलकम्भोदयओ पडइ अवण्णाइ णिगमिह ॥१॥
सम्हा णिषसईए षडुमाणेणं च अहिगयगुणमि । पडिवक्खदुगं छाए परिणइ आडोअणेणं च ॥२॥
तित्यंरुत्तपीए मुसाहुजणपज्जुवासणाए अ । उत्तरगुणसद्धाए एत्थ सया होइ जइअब्बं ॥३॥ एवमसंतो
वि इमो जायइ जाओ वि पडइ न कया वि । ता इत्थं बुद्धिमया अपमामो होइ कायव्यो ॥१॥” इति ।
एवं च विरतेरभ्यासेनाविरतिर्जायते, अभ्यासादेव सर्वक्रियासु कौशलं प्राप्नोति, अनु-
भवसिद्धं चैतत्सर्वेषां लिखनपठनसंख्यानगायननृत्यादिसर्वकलाविज्ञानेषु, तदुक्तं—“अभ्या-
सेन क्रियाः सर्वा अभ्यासात्सकलाः कलाः । अभ्यासात् ध्यानबौनादि किमभ्यासस्य दुष्करम् ॥१॥”
निरन्तरं विरतिपरिणामाभ्यासे च प्रेत्यापि तदनुवृत्तिः स्यात्, तदुक्तं—“जं अचमसेइ जीवो
गुणं च दोसं च एत्थ जम्ममि । वं पावइ परलोए तेण य अच्चासजोएणं ॥१॥” इति । तस्माद-

भ्यासेन तत्परिणामदाढ्ये यथाशक्ति द्वादशव्रतस्वीकारः ततस्तस्य सर्वविरतिरपि सुलभा स्यादित्युक्तानि लिङ्गानि ॥

अथ विनयः उच्यते तत्रार्हत्सिद्धचैत्याचार्योपाध्यायसाधुधर्मश्रुतप्रवचनदर्शनेषु भक्ति-पूजावर्णाशातनापरिहाररूपो विनयो दशप्रकारो भवति, तत्र भक्तिः अभिमुखगमनासनप्रदानपर्युपास्त्यञ्जलिवन्धाद्या, पूजा सत्काररूपा, वर्णः प्रशंसा तज्जननमुद्रासनमवर्णवाद्यस्य च वजनम्, प्रतीपवर्त्तनमाशातना तस्याः परिहारः । एषो दर्शनविनयो दशस्थानविषयत्वात् दशप्रकारः, सम्यक्त्वे सत्यस्य भावात् सम्यक्त्वविनय इत्युक्तो विनयः ॥

अथ शुद्धिरुच्यते—तत्र जिनं जिनमतं जिनमतस्थितांश्च साध्वादीन् मुक्त्वा शेषमेकान्त-भ्रस्तं त्रिविष्टपं कचवरप्रायमसारमिति चिन्तया सम्यक्त्वस्य विशोध्यमानत्वादेतास्तिष्ठः शुद्धय इति, तदुक्तं—“मोक्षं जिनं जिनमयं जिनमयठिणं मोक्षं । संसारकत्तयारं चित्तिजंतं जगं सेसं ॥१॥” इति, उक्तास्तिष्ठः शुद्धयः ॥

अथ दूषणपञ्चकमुच्यते—तत्र शङ्कनं शङ्का सन्देहः सा च सर्वविषया देशविषया च । सर्वविषया—अस्ति नास्ति वा धर्म इत्यादि, देशशङ्कैकैकवस्तुधर्मगोचरा, यथा ‘अस्ति जीवः केवलं सर्वगतोऽसर्वगतो वा’ ‘संप्रदेशोऽप्रदेशो वा’ ‘पृथ्व्यादीनां कथं सजीवत्वं ?’ ‘निगोदादयो वा कथं घटन्ते ?’ इत्यादि । इयं च द्विधाऽपि भगवदहर्हत्प्रणीतप्रवचनेषु अप्रत्ययरूपा सम्यक्त्वं दूषयति । काङ्क्षणं काङ्क्षा अन्यान्यदर्शनजिघृक्षा, सापि सर्वविषया देशविषया च । सर्वविषया सर्वपाखण्डिधर्माकाङ्क्षारूपा, देशविषया त्वेकादिदर्शनविषया यथा ‘सुगतेन भिक्षुणामक्लेशकरो धर्म उपदिष्टः स्नानान्नपानाच्छादनशयनीयादिषु सुखानुभवद्वारेण, यदाह—“शुद्धी शय्या प्रातरुत्थाय पेया मध्ये भक्तं पानकं चापराहे । द्राक्षाखण्डं शर्करा-चाद्वरात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यसिंहेन दृष्टः ॥१॥” इति, एतदपि घटमानकमेवेति’ तथा ‘परि-म्राड्भौतब्राह्मणादयो विषयानुपभुञ्जानाः स्नानादिपरायणाश्चैव परलोकेऽभ्यसीदसुखेन युज्यन्ते इति साधीयानेषोऽपि धर्म’ इत्यादि, दृश्यन्ते हि मुग्धबुद्धयः स्थलनिस्त्रेणभू-धीजवापककर्षकवत् धर्मार्थितया सर्वदर्शनान्याराधयन्तः, एवं च काङ्क्षापि परमार्थतो भगवदहर्हत्प्रणीतागामानाश्वसरूपा सम्यक्त्वं दूषयति । विचिकित्सा चित्तविषयः फलं प्रति सन्देहः इत्यर्थः, सा च ‘सत्यपि युक्त्यागमोपपन्ने जिनधर्मेऽस्य महतस्तपः क्लेशस्य सिकता-कणकवलयन्निःस्वादस्यायत्यां का फलसम्पन्नवित्री ? अथ क्लेशमात्रमेवेदं निर्जराफलविकलमिति, उभयधापि हि क्रिया दृश्यन्ते सफला निष्फलाश्च कृपीवलादीनाम्, अत इयमपि तथा संभाव्यते ।’ इति विचिकित्सापि भगवद्वचनानाश्वसरूपत्वात् सम्यक्त्वस्य दोषः । ननु शङ्काविचिकित्सयोः कः प्रतिविशेष इति चेत् ? शृणु, सकलासकलपदार्थभाक्त्वेन द्रव्य-गुणविषया शङ्का, विचिकित्सा तु क्रियाविषयैव यद्वा विचिकित्सा निन्दा—सा च सदा-चारमुनिविषया, यथाऽ‘ज्ञानेन प्रत्येदजलङ्घिमलत्वात् दुर्गन्धिशरीरा एत’ इति, ‘फो दोषः स्याद्यदि मासुकचारिणाऽङ्गक्षालनं कुर्वीरन्निति ?’ इयमपि तत्त्वतो भगवद्वर्मानाश्व-

सरूपत्वात् सम्यक्त्वदोषः । मिथ्या विपरीता दृष्टिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयस्तेषां प्रशंसा, सा च देशविषया सर्वविषया च, तत्र देशविषया-‘इदमेव साङ्ख्यवचनं सुगतवचनं वा सम्य-
गिति’ प्रशंसा, सापि सम्यक्त्वं दूषयति । सर्वविषया च-‘सर्वाणि कापिलादीनि दर्शनानि
युक्तियुक्तानीति’ मध्यस्थसाराः स्तुतयः सम्यक्त्वस्य दूषणम् । मिथ्यादृष्टिभिरेवात्र संवा-
सात् परस्परालोपादिजनितः परिचयः संस्तवः, एकत्र वासे हि तत्प्रक्रियाश्रवणात् तत्कि-
यादर्शनाच्च दृढसम्यक्त्ववतोऽपि दृष्टिभेदः संभाव्यते, किं पुनः मन्दबुद्धेः नवधर्मस्येति
संस्तवोऽपि सम्यक्त्वस्य दूषणमित्युक्तानि पञ्च दूषणानि ॥

सम्यक्त्वस्य प्रभावकभेदेनाष्टौ प्रभावनाः भवन्ति । तत्र प्रवचनं द्वादशाङ्गं गणिपिटकं
तदस्यास्तीति प्रावचनी प्रथमप्रभावकः । आक्षेपणीविशेषणीसंवेगजननीनिर्घेदजननी-
लक्षणां चतुर्विधां जनितजनमनःप्रमोदां धर्मकथां कथयति ॥ धर्मकथी द्वितीयप्रभा-
वकः । वादिप्रतिवादिसम्बन्धसमापतिरूपायां चतुरङ्गायां परिपदि प्रतिपक्षक्षेपपूर्वकत्वपक्ष-
स्थापनार्थमवश्यं वदतीति वादी तृतीयः प्रभावकः । त्रैकालिकलाभालाभविषयं शास्त्रं
वेत्त्यधीते वा स नैमित्तिकः चतुर्थः प्रभावकः । तपोऽष्टमाद्यस्यास्तीति तपस्वी पञ्चमः प्रभा-
वकः । प्रज्ञप्त्यादिर्विद्यास्यास्तीति विद्यावान् षष्ठः प्रभावकः । अज्जनपादलेपतिलकगुटि-
काकर्षणवैकृत्यत्वप्रभृतयः सिद्धयस्ताभ्यः सिद्धयति स इति सिद्धः सप्तमः प्रभावकः । कथते
गद्यपद्यादिभिः प्रवचनैः वर्णनां करोतीति कविरष्टमः प्रभावकः । एते च प्रावचन्यादयोऽष्टौ
प्रभवतो भगवच्छासनस्य यथायथं देशकालार्थाचित्येन साहाय्यकरणात् प्रभावकाः, प्रभवन्तः
स्वतः प्रकाशस्वभावमेव प्रेरयन्तीति व्युत्पत्तेस्तेषां कर्म प्रभावना इति, वक्ताः प्रभावनाः ॥

अथ सम्यक्त्वस्य पञ्च भूषणान्युच्यन्ते-तत्र स्थैर्यं जिनधर्मं प्रति चलिताचित्तस्य परस्य
स्थिरत्वापादनं स्वयं वा परतीर्थिकछिंदर्शनेऽपि जिनशासनं प्रति निष्प्रकम्पता प्रथमं
भूषणं । प्रभवति जेनेन्द्रशासनं तस्य प्रभवतः प्रयोजकत्वं प्रभावना, सा चाष्टधा प्राग-
मिहितं, पुनरुपादानं तु स्वपरोपकारकत्वेन तीर्थकरनामकर्मनिवन्धनत्वेन च प्राधा-
न्यव्यापनार्थं, द्वितीयं भूषणम् । भक्तिः प्रवचने विनयवैयावृत्त्यरूपा प्रतिपत्तिः, सम्य-
ग्दर्शनज्ञानचारित्रादिगुणाधिकेष्वभ्युत्थानमभियानं शिरस्यज्जलिकरणं स्वयमासनदौकस-
मासनाभिग्रहो बन्दना पर्यापासना अनुगमनं चेत्यष्टविधकर्मविनयादष्टविधः उपचारविनयः,
व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यम्, तच्चाचार्योपाध्यायतपस्विदौ शक्तलानकुलगण-
सङ्घसाधुसाधर्मिकेषु दशस्वज्ञपानवस्त्रपात्रप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तारकादिभिः धम्मंजावन-
पमहः, शुश्रूषा भैषजक्रियाकान्तारविषमदुर्गोपसर्गेष्वभ्युत्पत्तिञ्चेति तृतीयं भूषणम् । जिन-
शासने कांशलं नैपुण्यम्, ततो हि व्यवहितोपध्यां विपरीतक्रियते, यथानावदे-
आर्द्रकुमारः कौशलादभयकुमारेण प्रतिबोधित इति चतुर्थं भूषणम् । तदा तदं-
देरिव संसारस्य तरणे मुक्तावतारो नागः, तच्च द्रव्यभावनेदात् द्विजिह्व-
धकृतां जन्मदीक्षाज्ञाननिर्वाणस्यानन् । ननु कन्-“जन्मं दिक्ता नन्वेति”

वाणं । जत्थ य किर निव्वाणं आगाढं दंसणं होइ ॥१॥” इति । भावतीर्थं तु ज्ञानदर्शनचारि-
त्राधारः श्रमणसङ्घः प्रथमगणधरो वा, यद्वाह—“तित्थं भन्ते तित्थं तित्थयेरे तित्थं, गोयमा ।
अरिहा साव नियमा तित्थकरे तित्थं पुण चउव्वण्णे समणसंघे पढमगणहरे वा” इति, तस्य सेवेति
पञ्चमं भूषणमित्युक्तानि भूषणानि ॥

पड्डिधा यतनोच्यते—परिव्राजकभिभूभौतिकाद्यन्यतीर्थिकगुरूणां रुद्रविष्णुयक्षाद्यन्य-
तीर्थिकदेवानां दिग्गम्भरादिगृहीतजिनप्रतिमानां महाकालादीनां च वन्दनं नमस्करणं
च न कर्तव्यम्, मिथ्यात्वस्थिरीकरणात्, तत्र वन्दनं शिरसाभिवन्दनम्, नमस्करणं प्रणाम-
पूर्वकं प्रशस्त्यभिभिर्गुणोत्कीर्तनमिति यतनाद्विकम् । तथाऽन्यतीर्थिकैः पूर्वमनालसः सन्नै-
घालपति, नापि संलपति, तत्रोद्गापणमालापः, मुहुर्भाषणं संलापः, तत्संभाषणे हि तैः सह
परिचयात् प्रतिक्रियाश्रवणदर्शनादिभिः मिथ्यात्वप्रसक्तिरपि स्यादेवेति तृतीया चतुर्थी च
यतना । तथाऽनुकम्पामन्तरेणान्यतीर्थिकेभ्योऽज्ञानादिकं न ददाति, अनुकम्पायाः कुत्राप्य-
निषिद्धत्वात्, तदुक्तम्—“सन्धेहिं वि जिणेहिं हुज्जयजिअरागदोसमोदेहिं । सत्ताणुकम्पणद्वा द्वाणं
न कहिं वि पडिसिद्धं ॥१॥” इति पञ्चमी यतना । तथा परतीर्थिकदेवानां तत्प्रतिगृहीतजिन-
प्रतिमानां च पूजाकृते गन्धपुष्पादिकं नैव प्रेष्यति, आदिशब्दात् विनयवैयावृत्त्यपात्रस्नाना-
दिकमिति पष्ठी यतना । एताभिः पड्डिर्यतनाभिः सम्यक्त्वं नातिक्रामतीति उक्ता यतना ॥

अथाकारा उच्यन्ते—अभियोजनमभियोगोऽनिच्छया प्रवर्तनम्, तत्र राजाभियोगः
नृपादेरभियोगः । गणः स्वजनादिसमुदायस्तस्याभियोगः गणाभियोगः, बलं हठप्रयोग-
स्तेन योगो बलाभियोगः । सुरस्य कुलदेवतादेरभियोगः सुराभियोगः । कान्तारमरण्यं तत्र
वृत्तिः वर्तनं निर्वाहः कान्तारवृत्तिः, यद्वा कान्तारमपि बाधाहेतुत्वादिह बाधात्वेन विय-
क्षितं तेन कारणेन बाधया वृत्तिः प्राणवर्तनरूपा कान्तारवृत्तिः कष्टेन निर्वाह इति यावत् ।
गुरवः माता पिता कलाचार्यः तेषां ज्ञातयः धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः, तदुक्तं—“माता पिता
कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा । वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गस्तथा मतः ॥ १ ॥” इति तेषां निग्रहः
निर्वन्धः गुरुनिग्रहः । एता जिनप्रवचने छिण्डिका अपवादरूपा भवन्ति, इदमुक्तं
भवति—स्वीकृतसम्यक्त्वस्य परतीर्थिकवन्दनादिकं निषिद्धं तद्यदि राजाभियोगादिभिः
कारणैः भक्तिवियुक्तो द्रव्यतः समाचरन्नपि सम्यक्त्वं नाभिचरतीति उक्ताः पडाकाराः ॥

अथ पद्म भावना उच्यन्ते—तत्र मूलमिव मूलं, यथा मूलरहितो वृक्षो धायुना हतः तत्क्षण-
मेव निपतति, तद्वत् सम्यक्त्वमूलरहितो देशविरतिसर्वविरतिरूपश्चारित्र्यधर्मवृक्षः कुती-
र्थिकमतान्दोलितो निपततीति प्रथमा भावना । तथा द्वारमिव द्वारं प्रवेशमुखमिति भावः,
यथाऽकृतद्वारं प्राकारयलयवेष्टितमपि नगरमनगरं भवति, जनप्रवेशननिर्गमनाभावात्,
एवं धर्मपुरमपि सम्यक्त्वद्वारशून्यमशक्याधिगमं स्यादिति द्वितीया भावना । तथा
प्रतिष्ठते प्रासादोऽस्मिन्निति प्रतिष्ठानं पीठं ततः प्रतिष्ठानमिव प्रतिष्ठानं, यथा पृथ्वीतलग-
तगर्तापूरकरहितः प्रासादः सुहृदो न भवति तथा धर्मप्रासादोऽपि सम्यक्त्वरूपप्रति-

घानं विना निश्चलो न भवतीति तृतीया भावना । तथाऽऽधारः, यथा धरातलं विना निरालम्बनं विश्वं न भवति तथा धर्मविष्टपमपि सम्यक्त्वलक्षणाधारव्यतिरेकेण न तिष्ठेदिति चतुर्थी भावना । तथा भाजनं पात्रमित्यर्थः, यथा हि पात्रविशेषं विना क्षीरादिवस्तु विनश्यति एवं धर्मवस्त्वपि सम्यक्त्वभाजनं विनेति पञ्चमी भावना । तथा निधिः, यथा हि निधिव्यतिरेकेण महार्हमणिमौक्तिककनकादि द्रव्यं न प्राप्यते तथा सम्यक्त्वनिधानमन्तरा चारित्रधर्मरत्नमपीति षष्ठी भावनेत्युक्ता भावना ॥

अथ पदस्थानान्युच्यन्ते—तत्र जीवोऽस्तीति प्रथमम्, एतेन नास्तिकदर्शनं निराकृतम् । स चोत्पादककारणाभावाद्युत्पत्तिविनाशरहित इति द्वितीयं स्थानम्, एतेन बौद्धमतो निराकृतः । मिथ्यात्वाविरतिक्रपायादिवन्धहेतुभिः करोति तत्तत्कर्माणि नियतयतीति तृतीयं स्थानम्, एतेन कपिलकल्पनाप्रतिक्षेपः कृतः । कृतं च कर्म वेद्यते, “सर्वं पपसतया भुज्जइ” इति वचनात्, एतेन सर्वथाऽऽभोकृजीववादी दुर्नयो निराकृत इति चतुर्थं स्थानम् । जीवस्य मोक्षो विद्यते, स च जीवस्य रागद्वेषमदमोहजन्मजरारोगादिदुःखक्षयरूपोऽवस्थाविशेषः, एतेन च ये सौगतविशेषाः प्रदीपस्य निर्वाणकल्पं ध्वंसरूपं निर्वाणं मन्यन्ते, तदुक्तं तन्मते—“दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, सेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥१॥” इति । तेऽपि निरस्ताः, दीक्षादिप्रयासवैयर्थ्यात्, द्रष्टान्तमपीन्धनध्वंसकल्पत्वेन न युक्तमिति, युक्तिविस्तरस्तु ग्रन्थान्तरादवसेय इति पञ्चमं स्थानम् । अस्ति च मोक्षोपायो ज्ञानदर्शनचारित्राणां मुक्तिसाधकत्वेन घटमानत्वादिति षष्ठं स्थानम्, अनेन मोक्षोपायाभावप्रतिपादकदुर्नयस्तिरस्कृतः । एतानि पदस्थानानि सम्यक्त्वे सति भवन्त्येवेति । उक्तमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् ॥

तथा सर्वसावद्ययोगस्य देशे एकव्रतविषये स्थूलसावद्ययोगादौ विरतं विरतिर्यस्यासौ देशविरतः । अस्य पुनः सर्वसावद्ययोगस्य विरतिर्नास्ति प्रत्याख्यानानावरणकपायोदयात्, तत्र सर्वविरतिरूपं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानानावरणाः, तदुक्तं च—“सम्मदंसणसहिओ गिण्हंतो विरइमप्पसत्तीए । एगव्वयाइचरिमो अणुमइमेत्तो देसजई ॥१॥” इति देशविरतस्य गुणस्थानं देशविरतिगुणस्थानम् । एतद्गुणस्थानं सयोगिकेवल्लिगुणस्थानं च जघ्न्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोटिं यावत् तिष्ठति, अन्तिमं तु पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारकालप्रमाणं शेषाण्यष्टावन्तर्मुहूर्त्तकालप्रमाणानि भवन्ति, केषाश्चिन्मते तु प्रमत्ताप्रमत्ते देशोनपूर्वकोटिके, तथोक्तं भगवतीसूत्रे—“पमत्तसंजयस्स णं पमत्तसंजए वट्टमाणस्स सच्चाणि णं पमत्ताद्धा फालओ केवधिरं होइ ! मंडिआ ! एणं जीवं पडुब्ब जहण्णेणं एणं ममयं एकोत्तेणं देस्सा पुच्चकोटी । णाणाजीवे पडुब्ब सव्वद्धा । अस्सा वृत्तिः—“जहण्णेण एणं ममयं ति” कथं ? उच्यते, प्रमत्तसंयतप्रतिपत्तिसमयसमन्तरमेव मरणात् । “देस्सापुच्चकोटि ति” क्खि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणे एव प्रमत्तान्तगुणस्थाने, ते च पर्यायेण जायमाने देशोनपूर्वकोटिं यावदुत्कर्षेण भवतः । महान्ति च अनन्तापेक्षया प्रमत्तान्तर्मुहूर्त्तानि कल्पन्त्ये । एवं च अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणानां प्रमत्तादानां मरणां नञ्जे संक० १०

देशोनपूर्वकोदिकालमानं भवति । अन्ये चाहुः अष्टवर्षाणां पूर्वकोटिं यावदुत्कर्षतः प्रमत्तता स्यात् । एवं अप्रमत्तसूत्रमपि, नवरं 'जहण्णेण अंतमुहुत्तं ति' किल अप्रमत्ताद्वायां वर्तमानस्यान्तर्मुहूर्तमध्ये मृत्युः न भवतीति । चूर्णिकारमतं तु, प्रमत्तसंयतवर्जः सर्वोऽपि सर्वविरतोऽप्रमत्त उच्यते, प्रमादाभावात्, स चोपशमश्रेणि प्रतिपद्यमानः शुद्धीर्त्ताभ्यन्तरे कालं कुर्वन् जघन्यकालो लभ्यत इति, देशोन-पूर्वकोटी तु केवलिनमाश्रित्य" इति ॥

तथा प्रमाद्यति स्म संयमयोगेषु सीदति स्म प्रमत्तः, यद्वा प्रमत्तमस्यास्तीति प्रमत्तः प्रमादवान्, प्रमदनं प्रमादः स च मदिराविषयकपायनिद्राविकथानामन्यतमः सर्वे वा, प्रमत्तश्चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयतः, तस्य गुणस्थानं प्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, विशुद्धाविशुद्धिप्रकर्षापर्यकृतस्वरूपभेदम्, तथाहि-देशविरतिगुणस्थानापेक्षया प्रमत्तसंयतस्य विशुद्धिप्रकर्षोऽविशुद्ध्यप्रकर्षश्च, अप्रमत्तगुणस्थानापेक्षया तु विपर्ययः, एवं शेषगुणस्थानेष्वपि वाच्यम् ॥

तथा न प्रमत्तोऽप्रमत्तः, यद्वा नास्ति प्रमत्तमस्यासावाप्रमत्तः, स चासौ संयतश्चाप्रमत्तसंयतः, तस्य गुणस्थानमप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ॥

तथाऽपूर्वमभिनवं प्रथममित्यर्थः । करणं स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमाभिनवस्थितिबन्धानां पञ्चानामर्थानां निवर्त्तनं यस्यासावपूर्वकरणः, तस्य गुणस्थानमपूर्वकरणगुणस्थानम् । स्थितिघातादयो यथा-बृहत्प्रमाणायाः स्थितेरग्निमभागादुत्कृष्टतः प्रभूतसागरोपमशतप्रमाणं जघन्यतः पत्योपमसंख्येयभागमात्रमपवर्त्तनाकरणेन घातयति तदलिकं च या स्थितिर्धो न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन च तस्मिन् स्थितिखण्डमुत्कीर्यते । ततः पुनरप्यधस्तात् पत्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन घातयति, प्राशुक्तीत्येव च निक्षिपति, एवमपूर्वकरणाद्वायां प्रभूतानि स्थितिरण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति । अपूर्वकरणाद्यसमये यत्स्थितिकर्मासीत् तत्तस्यैव चरमसमये संख्येयगुणहीनं जातम् । रसस्यापि प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्त्तनाकरणेनानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननन्तानुभागभागान् अन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन घातयति, एवमेकस्मिन् स्थितिखण्डेऽनेकान्यनुभागखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, तेषां स्थितिखण्डसहस्रैश्चापूर्वकरणं परिसमापयति । स्थितिघातरसघातां च पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवान्, अत्र पूर्वविशुद्धेः प्रकृष्टत्वात् बृहत्प्रमाणतयाऽपूर्वाविमौ करोति, तथा विशुद्धिचक्षादुपरितनस्थितेरपवर्त्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्योदयक्षणादुपरि शीघ्रतरक्षपणाय प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्धान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं गुणश्रेणिं विरचयति, एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वात् कालतो द्राघीयसीं दलिकरचनमाश्रित्याप्रयीयसीमल्पदलिकस्यापवर्त्तनात् विरचितवान्, इदं तु तमेव विशुद्धत्वादपूर्वा कालतो ह्रस्वतरां दलिकरचनमाश्रित्य पुनः पृथुतरां बहुतरदलिकस्यापवर्त्तनाद्विरचयतीति । तथा कर्मणां स्थितिमपि प्रागविशुद्धत्वात् द्राघीयसीं वद्धवान्, अत्र तु विशुद्धत्वात् लघीयसीं वधाति । तथाऽव्यवस्थितानां वध्यमानप्रकृतिषु प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्धा विशुद्धिवशात् दलिकस्य नयनरूपो यो गुणसंक्रमः तमप्य-

कपः संसारः, कपमयन्ते गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कपायाः क्रोधादयः, सत्तायां विद्यमाना अपि उपशान्ताः—उपशमिताः संक्रमोद्धर्तनादिकरणोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कपाया येन स उपशान्तकपायः, स चासौ वीतरागच्छद्भ्यश्चोपशान्तकपायवीतरागच्छद्भ्यस्तस्य गुणस्थानमुपशान्तकपायवीतरागच्छद्भ्यस्यगुणस्थानम् । कतिपयानां कपायाणामविरतसम्यग्दृष्ट्यादावुपशान्तत्वलाभेनोपशान्तकपायव्यपदेशः संभवत्यतस्तद्व्यवच्छेदाय वीतरागग्रहणम् । उपशान्तकपायवीतराग इत्येतावतापीदृष्टिद्वौ छद्भ्यस्यग्रहणं स्वरूपकथनार्थम् । असिंश्च गुणस्थाने मोहनीयस्याष्टाविंशतिरपि प्रकृतय उपशान्ता भवन्ति ॥

तथा क्षीणा अभावमापन्नाः कपायाः यस्य स क्षीणकपायः, वीतरागश्चासौ छद्भ्यस्यश्च वीतरागच्छद्भ्यः, क्षीणकपायश्चासौ वीतरागच्छद्भ्यश्च क्षीणकपायवीतरागच्छद्भ्यस्तस्य गुणस्थानं क्षीणकपायवीतरागच्छद्भ्यस्यगुणस्थानम् । अविरतश्चायिकसम्यग्दृष्ट्यादावतिव्याप्तिवारणाय वीतरागस्य ग्रहणं कृतम्, सर्वज्ञे भगवत्यतिव्याप्तिवारणायच्छद्भ्यस्तस्य निवेशः, उपशान्तकपायवीतरागच्छद्भ्यस्यगुणस्थानेऽतिव्याप्तिवारणाय क्षीणकपायग्रहणम् ।

अत्र प्रस्तावात् श्रेणिद्वयमुच्यते—तत्रादावुपशमश्रेणिरभिधीयते, तत्रानन्तानुबन्धिचतुष्कं मिथ्यात्वं मिश्रं सम्यक्त्वं चेत्वेताः सप्त प्रकृतयोऽविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणेषु यथार्हमुपशान्ता लभ्यन्ते । अयं भावः, अपूर्वकरणवर्जेषु शेषेष्वेतत्सप्तकमध्ये यथार्हं काश्चित्प्रकृतय उपशान्ताः काश्चित्पञ्चम्यमानाः प्राप्यन्तेऽत एतेऽविरतादयोऽपूर्वकरणवर्जा यथायोगमुपशामका अपि भण्यन्ते । अपूर्वकरणे त्वेता अवश्यमुपशान्ता एव स्यूतोपशान्तसप्तक एवोच्यते । तत्रादावनन्तानुबन्धिनामुपशमना प्रपञ्चयते—इह किलाविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तानामन्यतमोऽन्यतमे योगे वर्तमानोऽन्यतमशुभलेश्यायां वर्तमानः साकारोपयोगोपयुक्तोऽन्तःसागरोपमकोटिकोटिस्थितिसत्कर्मा करणकालात्पूर्वमवदायमानचित्तसन्ततिः सन् परावर्तमानशुभप्रकृतीनां बन्धं कुर्वन् प्रतिसमयमशुभानां प्रकृतीनामनन्तगुणहीनं द्विस्थानकं शुभानामनन्तगुणवृद्धं चतुःस्थानकमनुभागं विधत्ते । स्थितिवन्धेऽपि पूर्णं पूर्णोऽन्यामन्यां पत्न्योपमसंख्येयभागहीनां स्थितिं वध्नाति, तदुक्तं कर्मप्रकृतौ—“ठिइवंधापूर्ते नवधन्वं पल्लसंखभागूण” इति, पञ्चसंग्रहेऽपि—“वंधादुत्तरवंधं पलिओषमसंखभागूण” इति, तथा सप्ततिकावृत्तौ च—“स्थितिवन्धेऽपि च पूर्णं सत्यन्यं स्थितिवन्धं पूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पत्न्योपमसंख्येयभागहीनं करोति” इति । पञ्चसंग्रहमूलवृत्तौ तु—“वन्धादुत्तरवन्धं प्राक्तनस्थितिवन्धादन्यदभिनवस्थितिवन्धं तं पत्न्योपमसंख्येयभागहीनं वध्नाति” इति, तथा नव्यशतकवृत्तावपि—“स्थितिवन्धेऽपि च पूर्णं सति अन्यं स्थितिवन्धं पूर्वपूर्वस्थितिवन्धापेक्षया पत्न्योपमसंख्येयभागहीनं करोति” इति, तथा सप्ततिकाभाष्यवृत्तौ चापि—“स्थितिवन्धेऽपि पूर्णं पूर्णोऽन्यामन्यां स्थितिं पत्न्योपमसंख्येयभागेनोन्नां वध्नाति” इति, तत्त्वं पुनः तद्विदो विदन्ति । तथाऽशुभानां प्रकृतीनामनुभागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति, शुभानां द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थानकं करोति । एवं चान्तर्मुहूर्तमवस्थाय ततो यथाक्रमं प्रत्येकमान्तर्मुहूर्तकानि यथाप्रवृत्त्या-

दीनि त्रीणि करणानि करोति—यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च, चतुर्थी तूपशा-
न्ताद्धा । यथाप्रवृत्तकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धा विशुद्धा प्रविशति, पूर्वोक्तं
शुभप्रकृतिवन्धादिकं तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसंक्रमं वा
करोति, तद्योग्यविशुद्धाभावात्, प्रतिसमयं च नानाजीवापेक्षयाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेश-
प्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि विशुद्धापेक्षया पदस्थानपतितानि च भवन्ति । किञ्चाद्यसम-
यापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकारानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषा-
धिकारानि, एवं तावन्नेयं यावद्यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयः । एवं स्थाप्यमानानि विषमचतुरश्रं
क्षेत्रमास्तृणन्ति । तत्राद्यसमये जघन्या विशोधिः सर्वलोका, द्वितीयसमये जघन्या विशो-
धिरनन्तगुणा, ततस्तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा एवमुपर्युपरि जघन्या विशो-
धिरनन्तगुणा तावद्वाच्या यावत् यथाप्रवृत्तकरणाद्धायाः संख्येयभागो गतो भवति । ततः
आद्ये समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, तत उपरि जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवमुप-
र्यधैकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणं तावद्वाच्यं यावत् यथाप्रवृत्तकरणचरमसमये जघन्यं
विशोधिस्थानम् । तत उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानान्यनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तर-
मनन्तगुणवृद्धा तावन्नेयानि यावदन्त्यसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम् । अत्र स्थापना—

यथाप्रवृत्तकरणविशुद्धिः (प्ररूपणा त्वधोमुखीकार्या)

| २ संख्येयभागोऽपि | १ समये जघन्या विशोधिः सर्वलोका | | | | | | | |
|------------------|--------------------------------|----|---|---|------------------|-----|----------------------------------|---|
| | ततः | २ | ” | ” | अनन्तगुणा | | | |
| | ” | ३ | ” | ” | ” | | | |
| | ” | ४ | ” | ” | ” — | ततः | १ समये उत्कृष्टविशोधिः अनन्तगुणा | |
| | ” | ५ | ” | ” | ” — | ” | २ | ” |
| | ” | ६ | ” | ” | ” — | ” | ३ | ” |
| | ” | ७ | ” | ” | ” — | ” | ४ | ” |
| | ” | ८ | ” | ” | ” — | ” | ५ | ” |
| | ” | ९ | ” | ” | ” — | ” | ६ | ” |
| | ” | १० | ” | ” | ” — | ” | ७ | ” |
| | ” | ११ | ” | ” | ” — | ” | ८ | ” |
| | ” | १२ | ” | ” | ” — | ” | ९ | ” |
| | ” | १३ | ” | ” | ” — | ” | १० | ” |
| | | | | | | ” | ११ | ” |
| | | | | | २ संख्येयभागोऽपि | ” | १२ | ” |
| | | | | | | ” | १३ | ” |

इत्थं—रेखायुक्तसमयस्थानेषु परस्परान्तरप्ररूपणा कर्तव्येति ॥

तदेवं यथाप्रवृत्तकरणं स्पष्टाऽपूर्वकरणे प्रविशति । तत्रापि प्रतिसमयमसंख्येयलोकाकाश-
प्रदेशप्रमाणानि प्रतिसमयं च पदस्थानपतितानि भवन्ति । द्वितीयादिचरमसमयपर्यन्तेऽपि

विशेषाधिकानि विशेषाधिकान्यध्यवसायस्थानानि वाच्यानि । तत्रादिसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका सा च यथाप्रवृत्तकरणान्त्यसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा, तत आद्य-समय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततस्तत्रैव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, एवं प्रतिसमयं तावद्वाच्यं यावदपूर्व-करणचरमसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा । अत्र स्थापना—

अपूर्वकरणविशुद्धिः (अत्र सर्वसमयेषु परस्परक्रान्तप्ररूपणा कार्यति)

| प्रथमे | १ | समये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका (सापि यथाप्रवृत्तसर्वोत्कृष्टविशोधिरनन्तगुणा) ततः | खसैवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा |
|--------|---|--|---------------------------------|
| ततः | १ | समये जघ० विशोधिरनन्तगुणा | — ततः उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा |
| ततः | २ | समये " " | — " " |
| ततः | ३ | समये " " | — " " |
| ततः | ४ | समये " " | — " " |
| ततः | ५ | समये " " | — " " |
| ततः | ६ | समये " " | — " " |
| ततः | ७ | समये " " | — " " |
| ततः | ८ | समये " " | — " " |
| ततः | ९ | समये " " | — " " |

अत्र चापूर्वकरणाद्यसमय एव स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिगुणसंक्रमोऽन्यश्च स्थिति-बन्ध इति पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते । तत्र स्थितिघातो नाम स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागा-जघन्येन पल्योपमसंख्येयभागमात्रमुत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वमात्रं स्थितिखण्डमुत्कीर्य खण्डयित्वेत्यर्थो याः स्थितीरधो न खण्डयिष्यति तासु तद्वलिकनिक्षेपं करोति, अन्तर्मुहूर्त्तेन च तद्वलिकमुत्कीर्यते । ततः पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसंख्येयभागमानं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेनोत्किरति, तथैव च निक्षिपति । एवमपूर्वकरणाद्धायां स्थितिखण्डसहस्राणि बहूनि व्यतिक्रामन्ति । ततोऽपूर्वकरणं परिसमाप्यते । अपूर्वकरणाद्यसमयस्थितिसत्कर्मापेक्ष-याऽपूर्वकरणचरमसमये संख्येयगुणहीनं स्थितिसत्कर्म भवतीति ॥

गुणश्रेणिनाम यत्स्थितिखण्डं घातयति 'तन्मध्यात् दलिकं गृहीत्वा' इति पञ्चसंग्रहकर्मप्र-कृतिवृत्तिषु, कर्मप्रकृतिचूर्णौ तु "उपरिहातो ठिओ योगले घेचूण" इति, नच्यशतकवृत्तौ तस-तिकातन्नाप्यवृत्तौ च—"अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि याः स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्यादलिकं गृही-त्वा" इत्युक्तं, तत्त्वं पुनस्तद्विदो विदन्ति, उदयचतीनामुदयसमयादारभ्यानुदयचतीनामुदया-वलिकाया उपरीतनीषु स्थितिषु प्रथमसमये स्तोकं निक्षिपति, ततो द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणमेवं तावत्प्रतिसमयमसंख्येयगुणनिक्षेपो वाच्यो यावद-न्तर्मुहूर्त्तचरमसमयः, तच्चान्तर्मुहूर्त्तमपूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालाभ्यां मनागभ्यधिकं ज्ञेयम् ।

ष्टानां प्राणिनामध्यवसायस्थानान्याश्रित्यान्योन्यं निवृत्तिस्तिर्यक्पदस्थानलक्षणा नास्ती-
त्यनिवृत्तिकरणम्, तथाहि—अस्य करणस्याद्यसमये ये वृत्ता ये च वर्तन्ते ये च वर्तितव्यन्ते
तेषां सर्वेषां प्राणिनामेकमेवाध्यवसायस्थानं भवति ॥

॥ रसप्रतिघाते घात्यमानानुभागस्पर्धकसंख्या ॥

| घात्यमानाः स्थि० कण्डकाः | | घातितानुभाग- स्पर्धकानि | अवशिष्टानि अनु० स्पर्धकानि |
|--------------------------|---------------|----------------------------|-------------------------------|
| प्रथमे० | कण्डके घातिते | १०० कोट्यः | १०० कोट्यः |
| द्वितीये | " " | ९० " | १० " |
| तृतीये | " " | ९ " | १ कौटिः |
| चतुर्थे | " " | ९० लक्षानि | १० लक्षानि |
| पञ्चमे | " " | ९ लक्षानि | १ लक्षम् |
| षष्ठे | " " | ९० सहस्रानि | १० सहस्रानि |
| सप्तमे | " " | ९ " | १ सहस्रम् |
| अष्टमे | " " | ९ दशानि | १ दशम् |
| नवमे | " " | भवतिः (९०) | दश (१०) |

एवमेवैतत् दशावस्थानुभागात्तानि

प्रकल्पना दोषः—प्रथमे स्थितिकण्डके घातिते सति तदनुगतानुभागस्पर्धकाण्यप्यनन्तानि कल्पनया '१०० कोट्यः' घातितानि अवशिष्टैश्चोऽनन्ततमो भागः कल्पनया '१०० कोट्यः' एवं द्वितीयादिस्थितिघाते-
ऽप्येकमनन्ततमभागं मुक्त्वा दोषसंशानुभागस्य विनाशो वक्तव्यः ॥

॥ गुणसंक्रमः ॥

अवध्यमानाशुभानां दलस्य संख्याक्रमः

| समयाः | अध्यमानपरप्रकृतौ संक्रम्यमाणद- लिकसंख्या | अवशिष्टदलिक- संख्या (अवध्य- मानाशुभायाः) |
|-----------|--|--|
| १ मे समये | अनन्तं सर्वतःस्त्रोकम् | अनन्तगुणं ततो- ऽस्त्येयभागहीनम् |
| २ ये समये | ततोऽस्त्येयगुणं | |
| ३ ये " | " | " |
| ४ र्थे " | " | " |
| ५ मे " | " | " |
| ६ ठे " | " | " |
| ७ से " | " | " |
| ८ से " | " | " |

एवमन्तमुहृतं यावत्

॥ अनिवृत्तिकरणविशुद्धिः ॥

प्रथमे समयेऽत्रचन्थोऽकृष्ट-
विशुद्धिः सर्वाद्या (सापि-
अपूर्वकरणसंयोगकृष्टविशुद्धे-
नन्तगुणा)

ततः १ समयेऽनन्तगुणा
ततः ३ समये "
ततः ४ समये "
ततः ५ समये "
ततः ६ समये "
ततः ७ समये "
ततः ८ समये "
ततः ९ समये "
ततः १० समये "
ततः ११ समये "

विशुद्धेऽप्यन्योऽकृष्टसमयानवधायकृष्टविशुद्धिर्भवेत्तत्र नोवत्ता

एवं द्वितीयादिसमयेऽपि कालत्रयवर्तिनां सर्वेषामपि प्राणिनामेकमेवाध्यवसायस्थानं,
नवरं प्रथमादिसमयापेक्षया द्वितीयादिसमयेऽध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धमनन्तगु-
णवृद्धं च वाच्यम्, ततोऽत्र करणे समयप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति, तानि च

मुक्तावलिस्थानेन स्थापितव्यानि । अत्राप्यपूर्वकरणवत् प्रथमसमयादारभ्य पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते । अनिवृत्तिकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमानेऽनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरकरणमभिनयवन्धाद्वातुल्येनान्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति । अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्यमाणं वध्यमानासु परप्रकृतिषु क्षिपति । अधस्तनावलिकागतं च स्तिवुकसंक्रमेण वेद्यमानासु परप्रकृतिषु संक्रमयति । अन्तरकरणे च कृते सति द्वितीयसमयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिगतं दलिकमुपशमयितुमारभते, तद्यथा—प्रथमे समये स्तोत्रं, द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणमुपशमयति, एवं तावदन्तर्मुहूर्तेन कालेन साकल्येनानन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति । उपशमिता नाम यथारेणुनिकरो नीरेणाभिपिच्यभिपिच्य द्रुघणादिना कुडितो निश्चलो भवति, एवं कर्मरेणुनिवहोऽपि विशोधिवारिणा सिक्त्वा सिक्त्वाऽनिवृत्तिकरणद्रुघणकुडितः संक्रमोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणोदयानामयोदयः संपद्यते, तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाभिहिता ॥

॥ करणत्रयस्य स्थापना ॥

(प्ररूपणा त्वधोमुखी कार्या)

| समयाः | विशोधिस्थानानि जयन्त्यः | क्रमेण विशेषाधिकारि करणानामव्यवस्थानानि | विशुद्धिस्थानानि उत्कृष्टतः |
|--|--|--|---|
| १ मे २ वे ३ वे ४ वे ५ मे | | | करणकालापूर्वं जघन्योत्कृष्टविशुद्धिः कर्मप्रकृत्यादौ नोकाऽवोऽत्रापि नोच्यते |
| ६ मे ७ वे ८ वे ९ वे १० वे ११ वे १२ वे १३ वे | नैऋत्येण ध्वज्यादि (१ संख्ये ० भा०) | | |

अत्र यत्पञ्चाधिकत्वं तदनन्तगुणमिति ज्ञापनार्थं

[illegible]

ॐॐॐॐॐ एतानि द्रव्यानि अभ्यवसायस्थानानि ।

• • • • • एने विन्दवः विशुद्ध्यंताः । द्युभ्यविन्दोः संख्यानियमो नास्ति ॥

ॐॐॐ इति मुक्तावलिसंस्थानम्

करणत्रयपूर्वविशुद्धः प्रस्थापकः—

- १ पञ्चेन्द्रियसंक्षिप्योऽसत्त्वार्तुगतिकः ।
- २ ग्रन्थिकाभ्यां दान्तगुणविशुद्धः ।
- ३ मतिश्रुतावधिभिर्भक्ष्यतमसाकारोपयोग्यकुः ।
- ४ त्रयाणामन्यतमयोग्यकुः ।
- ५ विशुद्धदेहाप्रयान्यतमयुक्तः ।
- ६ कृतसप्तकर्मन्तः को० को० सा० स्थितिकः ।

करणत्रयपूर्वत्रिशुद्धेः क्रिया-

- १ अभ्युभानुभागस्य चतुस्स्थानरूपत्वं बन्धं च द्वि-
स्थानकं करोति । तमपि प्रतिसम्यमनन्तगुण-
हीनं २, शुभानुभागस्य द्विस्थानरूपत्वं बन्धं
च चतुःस्थानिकं करोति । तमपि प्रतिसम्यम-
नन्तगुणाधिकम् ।
- ३ स्वमद्यप्रयोग्याः शुभपरावर्त्तमानाः प्रकृतीः
वर्त्तन्ति ।
- ४ अभिनवबन्धं पञ्चोपमसंश्लेष्य (पञ्चसंग्रहे-प-
क्ष्यासंश्लेष्य) भागहीनं अन्तःको० को० सा०
प्रमाणं वर्त्तन्ति ।
- ५ योगानुरूपं प्रदेशप्रहणं करोति ।
- ६ भाववैर्यन्तं न करोति । (३० विरोधिप्रवादा)

॥ अनन्तानुबन्धिनामुपशमनाक्रमः ॥

प्रस्थापकाः—अविरताभ्रातृगणिकाः देशविरतास्त्रियंनराः सर्वदिरता मनुष्या एव । (अत्र चिन्दवः प्रदेशोदयसूचकाः)

| क्रियाक्रमः | अत्र प्रथमसमयादन्यस्थितिवन्धः । |
|--|---|
| वि यु वि (अन्तर्गु०) | अत्रापि प्रथमसमयादन्यस्थितिवन्धः । |
| य था प्र वृ स म् (अन्तर्गु०) | अत्र प्रथमसमयात् स्थितिघातादि ५ पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते । (नवर्गं गु० श्रे० दलिकप्रक्षेप उदयावलिकाया उपरि) |
| अ पूर्वं क र ण म् (अन्तर्गु०) | अत्रापि पूर्वोक्ताः ५ पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते । |
| अ ति वृ त्ति क र ण म् (अन्तर्गु०) | अतः प्रारम्भाभ्तरकरणं प्रथमस्थितेः प्रारभ्यते, द्वितीयसमयादुपशमनाऽपि प्रारभ्यते । |
| अ न्त र म् (अनन्तानुबन्धिना मनुदयः) अन्तर्गु० | स्त्रिबुकेन अनुदयवतीनामावलिकामाश्रयाः प्रथमस्थितेः प्रथम (पूर्वं) समयो यथायथा क्षीयते तथातथोपरितनसमय(परसमयः) आवलिकाया प्रविशति । अत्र अन्तरकरणक्रियासमाप्ता, उपशान्ता अनन्तानुबन्धिनोऽपि, निवृत्ताः स्थितिघातादयोऽपि । |
| द्वितीया स्थितिः (उपशान्ता) | अत्रागतस्य पुनरपि प्रदेशोदयो भवति । |

अन्ये त्वनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भव्यन्ते, किन्तु विसंयोजना । विसंयोजना नाम

क्षपणा, सा चैवं,—इह चानुगतिः अप्यविरताः क्षायोपशमसम्यग्दृष्टयः, देशविरताः तिर्य-
ङ्मनुजाः, सर्वविरताः मनुजा एव सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः अनन्तानुबन्धिनां क्षपणार्थं
यथाप्रवृत्त्यादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति । करणवक्तव्यता च प्रागिव सर्वापि वक्तव्या, नवर-
मिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणमुपशमनाद्धा च न भवति, तदुक्तं कर्मप्रकृतौ—
“चउगइया पञ्चा विणि वि संजोअणा विजोइंति । करणेहिं तिहिं सहिया नंतरकरणं उअसमो वा ॥१॥”

इति । अन्तरकरणाभावाच्च प्रथमस्थितिरपि, तदुक्तं “न उण पढमठिइं करेति” इति ।
गुणसंक्रमस्त्वपूर्वकरणे प्रथमस्थितिखण्डस्य स्थित्यपेक्षया बृहत्तरस्य द्वितीयादिस्थितिखण्डानां
च विशेषविशेषार्थानां यद्वातनं तेन निष्पन्नो य इद्वलनासंक्रमस्तदनुबिन्दो द्रष्टव्यः । तद-
नेनोद्वलनासंक्रमानुबिन्दुगुणसंक्रमेणानन्तानुबन्धिनः शेषप्रकृतिरूपतावस्थापनेन विनाश-
यति । अनिवृत्तिकरणे च प्रविष्टः सन् गुणसंक्रमानुबिन्दोद्वलनासंक्रमेणाधस्तनामायलिकां
मुक्त्वा निरवशेषान् विनाशयति, अधस्तनावलिकागतं च दलिकं वेद्यमानासु प्रकृतिषु संक्र-
मयति । ससत्तिकाभाष्यवृत्तौ तु—“स चैवंरूपेऽनिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन्ननन्तानुबन्धिनां स्थि-
तिमपवर्चनाकरणेन पत्योपमासंख्येयभागमात्रां विधत्ते । अपवर्चनाविधिश्च कर्मप्रकृतिसमूहण्यामुद्वलन-
संक्रमब्रह्मव्या । तच्च पत्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिगतं दलिकमधस्तादवलिकामात्रं मुक्त्वा वध्य-
मानासु मोहनीयप्रकृतिषु परिणमयति, तत्राद्यसमये स्फोरं ततो द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं परं यावद-
न्यसमये सर्वसंक्रमेणासंख्येयगुणं परिणमयति” इत्युक्तम् । अत्रापवर्चना व्याघातभाविनी द्रष्ट-
व्येति । तदेवमुक्तानन्तानुबन्धिनां विसंयोजना ॥

॥ अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनाक्रमः ॥

प्रस्थापकाः—अविरताश्चानुगतिकाः पर्याप्ताः देशविरतास्त्रिर्यमनुष्याः सर्वविरता मनुष्या एव ।

क्रियाक्रमः

| | |
|------------------------------|---|
| वि शु द्विः (अन्तर्मु०) | ० |
| यथाप्रवृत्तम् (अन्तर्मु०) | ० |
| अपूर्वकरणम् (अन्तर्मु०) | ० |

अत्र प्रथमसमयादेवान्स्थितिवन्धः ।

अत्रापि प्रथमसमयादेवान्स्थितिवन्धः ।

अत्र प्रथमसमयादेव स्थितिधातादि ५ पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते, नवरं
गुणसंक्रमानुबिन्दोद्वलनासंक्रमोऽपि ।



अनन्तानुबन्धिनां क्षयः

अत्र गुणसंक्रमानुविद्धोद्दलनासंक्रमेणाधस्तनावलिकामात्रं भुत्वा निरवशेषं वि-
नाशयति, आवृत्तिना ॥ १॥ वेदमानपरप्रकृतिषु सिवुकसंक्रमेण (नभ्यशतक-
प्रणेतृभिस्तु अनन्ततमं भागं मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य) वेदयति ।

सम्प्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते—तत्र मिथ्यात्वं मिथ्यादृष्टिः क्षायोपशमिकसम्यग्दृ-
ष्टिश्चोपशमयति, सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे तु वेदकसम्यग्दृष्टिरेवोपशमयति । तत्र सम्यक्त्व-
मुत्पादयतो मिथ्यादृष्टेः मिथ्यात्वस्योपशमना भवति, सा चैवं,—पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वाभिः
पर्याप्तिभिः पर्याप्तः उपशमलब्ध्युपदेशश्रवणलब्धिप्रयोगलब्धिप्रतिक्रियुक्तः जघन्यपरिणामेन
तेजोलेइयायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेइयायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्कलेइयायां साकारोपयोगे
च मतिश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् वर्तमानो देवो नारको वा मनुजगतिप्रा-
योन्मषाणां मनुजद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गप्रथमसंहननप्रथमसंस्थान-
प्रशस्तखगतिपराधातोच्छ्वासत्रसदशकसातवेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपां द्वाविंशतिसंख्यानां परावर्त्त-
मानानां शुभप्रकृतीनां बन्धकः, सप्तमपृथ्वीनारको यदि सम्यक्त्वमुत्पादयति तदा मनुजद्वि-
कोच्चैर्गोत्रस्थाने तिर्यग्विद्विकनीचैर्गोत्रे वक्तव्ये शेषं तथैव । तिर्यङ्मनुजो वोत्पादयति तदा दे-
वद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकप्रथमसंस्थानप्रशस्तखगतिपराधातोच्छ्वासत्रसदशकसातवेद-
नीयोच्चैर्गोत्राणामेकविंशतिप्रकृतीनां बन्धकः, उत्तरोत्तरसमयेषु चातीव विशुद्ध्यमानः प्रति-
समयमनन्तगुणविशुद्ध्या प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायश्चातुर्गतिकानामन्यतमोऽशुभानुभागेऽन-
न्तगुणहानिप्रवृत्तपरिणामः शुभेऽनुभागेऽनन्तगुणवृद्धिकरणप्रवृत्तपरिणामोऽन्तःसागरोपम-
कोटिकोटिस्यितसत्कर्मयुष्कमवधन्, अतिविशुद्धपरिणामो ह्यायुर्वन्धं नारभते, पूर्वस्मात्पूर्व-
स्मात् स्थितिवन्धादुत्तरोत्तरं स्थितिवन्धं पत्स्योपमसंख्येयभागेन न्यूनं न्यूनं कुर्वन्नशुभानां

प्रकृतीनामनुभागं प्रतिसमयमनन्तगुणहीयमानं २ द्विस्थानकं शुभानां च चतुस्थानकं प्रति समयमनन्तगुणवृद्धं वधन् अनुभागसत्कर्माप्यशुभप्रकृतीनां चतुस्थानकमपवर्त्तनाकरणेन द्विस्थानकं शुभानां प्रकृतीनां च द्विस्थानकं सन्तमुद्धर्त्तनाकरणेन चतुस्थानकं कुर्वन् प्रागिय यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति । नवरमिहापूर्वकरणे मिथ्यात्वस्य वध्यमानत्वेन गुणसंक्रमो न भवति, स्थितिघातरसघाताभिनवस्थितिवन्धगुणश्रेणयश्च भवन्ति । मिथ्यात्वस्योदयमानत्वेन गुणश्रेणिदलिकरचनाप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या । अनिवृत्तिरूपणाद्धायाश्च संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् संख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं करोति । अन्तरकरणं नामोदयधनादुपरि मिथ्यात्वस्थितिमन्तर्मुहूर्त्तमानामतिक्रम्योपरितनी च विष्कम्भभयित्वा मध्येऽन्तर्मुहूर्त्तमानं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभाधकरणम् । तन्निष्पादनकालोऽप्यन्तरकरणकाल एव यथा तन्तुसंयोजनाकालः पटकरणकालः । सोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः प्रथमस्थितेः किञ्चिन्न्यूनोऽभिनवस्थितिवन्धाद्धया समानः, तथाहि-प्रथमस्थित्यन्तरकरणे द्वे अप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणे युगपदारभते, अन्तरकरणप्रथमसमय एव चान्यं स्थितिवन्धं मिथ्यात्वस्य स्थितिवन्धान्तरकरणे युगपदेव परिसमापयतीति न्यायाचार्याः । नव्यशतकवृत्तौ 'मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकं न्यूनं वाऽभिनवस्थितिवन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्त्तकालेन करोतीति' । सप्ततिकावृत्तौ पुनः 'मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकं अभिनवस्थितिवन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्त्तकालेन करोतीति' । अस्माकं त्वन्तरकरणकरणकालः प्रथमस्थितेः किञ्चिन्न्यूनोऽन्तरकरणकालस्तु प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकश्च प्रतिभातीति न त्रयाणामपि पूज्यानां मतभेदः । अन्तरकरणसत्कं दलिकं तूत्कीर्योत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति, एवं प्रतिसमयं तावत्प्रक्षिपति यावदन्तरकरणदलिकं सकलमपि क्षीयते । प्रथमस्थितौ वर्तमान उदीरणाप्रयोगेणैव प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सोदीरणा, यत्पुनः द्वितीयस्थितिगतं दलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदीरणापि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते । अन्तरकरणादधस्तनी स्थितिः प्रथमा स्थितिरित्युच्यते, उपरितनी तु द्वितीया । उदयोदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद्गच्छति यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति । तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते, तत उदीरणैव केवला प्रवर्त्तते, सापि तावत् यावदावलिकाशेषो भवति । आवलिकाशेषीभूतायां तूदीरणापि शान्ता भवति, ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति । उदयावलिकाचरमसमये तु द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति, तद्यथा-सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वमिति । एषः प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनात् भवति ॥

अत्र त्रयाणामन्तरकरणक्रिया सम्यक्तवागालक्ष्य प्रवर्तते ।
अत्र द्वितीयसमयाध्रयाणामप्युपगतमना प्रवर्तते ।

अत्र सम्यक्तवागालक्षणश्रेण्योर्विच्छेदः ।

अत्र सम्यक्त्वोदीरणा स्थितिघातरसघातो च निवृत्ताः ।

अत्र सम्यक्त्वोदयविच्छेदः, उपशान्तं दर्शनत्रिकम् ।

अयं प्र० स्थि० गतोऽपि गुणश्रेणिनिभागोऽन्तरकरणेन सहो-
त्कीर्णो भवति ।

अत्र शिष्यात्वमिश्रयोगुं० सं० विच्छेदः, विद्या० सं० प्रवृत्तिश्च
तथा ७ कर्मणां स्थि० घात-रसघात-गुणश्रे० निवृत्ताः ।

| आवृत्तिकाः | आव० | आव० | गु० श्रे० आगाः | | उपशान्तिमिति द्वितीया स्थितिः सम्यक्तवाग |
|--|-----|------|----------------|------|--|
| संक्षेपतन्मात्रापरुषा सम्यक्तवाग प्रथमास्थितिः | सि | क | र | ण | मू |
| मिथ्यात्वसावृत्तिकास्थि० प्रथमास्थितिः | मि | थ्या | त्वा | त्वा | मू (अन्वयुं०) |
| मिथ्यासावृत्तिका-प्रथमास्थि० | मि | थ्या | त्वा | त्वा | मू (अन्वयुं०) |
| मिथ्यामिथ्याः १ आवा० | मि | थ्या | त्वा | त्वा | मू (अन्वयुं०) |

इदं च सम्यक्त्वं प्रतिपद्यमानः कश्चिद्देशविरतिसहितं सर्वविरतिसहितं वा प्रतिपद्यते.
संक० १२

तदुक्तं पञ्चसंग्रहे—“सम्पत्तेन समग सन्व देस च कोइ पडिवज्जे” इति ॥

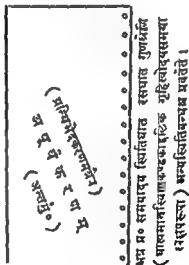
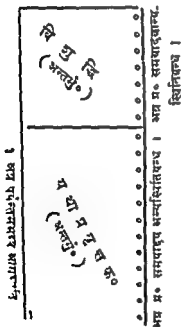
सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—

इह वेदकसम्यग्दृष्टिः सयमेव वर्तमानः सन् अन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयतीति मलयगिरिपादाः, नव्यशतकवृत्तौ तु—“इहोपशमश्रेणिप्रारम्भको भवत्यप्रमत्तसयत एव”, अन्ये तु “अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसयतानामन्यतम.” इति प्रतिपादयन्ति । उपशमयतः करणत्रिकविधिः पूर्ववत् तावद्वक्तव्यो यावदनिवृत्तिकरणाद्धायाः सख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेऽयतिष्ठमानेऽन्तरकरणं करोति । तच्च कुर्वन् सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितिमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा मिथ्यात्वमिश्रयोश्चावलिकामात्रा स्थापयति । उत्कीर्यमाण च दलिकं त्रयाणामपि सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति । मिथ्यात्वमिश्रयोः प्रथमस्थितिसत्कं दलिकं सम्यक्त्वप्रथमस्थितौ त्रिवुकसक्रमेण सक्रमयति । सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितौ विपाकानुभवतः क्रमेण क्षीणाया सत्यामौपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति । त्रयाणामपि मिथ्यात्वादीनामुपरितनस्थितिगतदलिकस्यानन्तानुबन्धिवदुपशमना करोति ॥

। अनादिमिथ्यात्वोपशमनानुक्रमः । (उपशमसम्यक्त्वस्य प्रथमलाभो वा)

प्रस्थापक — पञ्चाससंज्ञियेन्द्रियव्याप्यगतिक, ग्रन्थिकारभवादनन्तगुणविशुद्ध, अज्ञानश्रिकस्यान्यतमो पयोगे प्रवर्त्तमान प्रवान्यतमविशुद्धलेइयाक ।

क्रियाक्रम



सत्तण्ड” इति ग्रन्थेनायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणामन्तःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणो बन्धः सत्ता च प्रोक्ता, तथाप्यपूर्वकरणात् संख्येयगुणहीने बन्धसत्कर्मणी द्रष्टव्ये इति विशेषः । सोऽपि बन्धः पूर्वक्रमेण हानिं गच्छति । पूर्णे स्थितिवन्धेऽन्यस्थितिवन्धं पल्योपमसंख्येयभागहीनं करोति, तस्मिन्नपि पूर्णे सत्यन्यं स्थितिवन्धं पल्योपमसंख्येयभागहीनं करोतीत्यादि । अल्पबहुत्वमपि बन्धसत्तापकर्षेऽपि पूर्वक्रमेणैव वेदितव्यम् । तथा च—‘सर्वस्तोके नामगोत्रे हीनस्थितिकत्वात् स्वस्थाने परस्परं तुल्ये, ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानि विशेषाधिकानि परस्परं तुल्यानि, ततोऽपि मोहनीयं विशेषाधिकमिति’ । एतच्चाल्पबहुत्वं सर्वकालमपि द्रष्टव्यम् । अनिवृत्तिकरणे प्रविष्ट उत्कृष्टतोऽपि पल्योपमसंख्येयतमं भागं स्थितिखण्डं चारित्रमोहनीयोपशामकः खण्डयति । केवलमुत्कृष्टाज्जघन्यस्थितिखण्डं लघुतरं द्रष्टव्यम् । स्थितिघातसहस्रेषु गतेषु सत्सु बध्यमानप्रकृतीनां बन्धः सागरोपमसहस्रपृथक्त्वप्रमाणो भवति । ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्स्वेकस्मिन्श्चावशिष्टे सत्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतुल्यः स्थितिवन्धो भवति । तदनन्तरं स्थितिघातपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियस्थितिवन्धतुल्यः स्थितिवन्धः, ततो भूयोऽपि स्थितिघातपृथक्त्वे गते सति त्रीन्द्रियबन्धतुल्यः, ततोऽपि स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति द्वीन्द्रियबन्धतुल्यः, ततोऽप्येवमेवैकेन्द्रियबन्धतुल्यः, तत ऊर्ध्वं स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु नामगोत्रयोः स्थितिवन्धः पल्योपममात्रः, ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानां सार्धपल्योपममानो मोहनीयस्य द्विपल्योपमप्रमाणो भवति । सत्कर्मण्यल्पबहुत्वं बन्धक्रमेण वक्तव्यम्, तद्यथा—‘सर्वलोकं नामगोत्रयोः परस्परं तुल्यं ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानां विशेषाधिकं ततो मोहनीयस्य विशेषाधिकमिति’ । यस्य कर्मणो यदा पल्योपमप्रमाणः स्थितिवन्धस्तस्य तत्कालादनन्तरमन्योऽन्यः स्थितिवन्धो जायमानः संख्येयगुणहीनो भवति । ततश्च नामगोत्रयोः पल्योपमप्रमाणादन्यं स्थितिवन्धं संख्येयगुणहीनं करोति, शेषकर्मणां तु पल्योपमसंख्येयभागहीनं स्थितिवन्धं करोति । ततः कतिपयसु स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानां पल्योपमप्रमाणः स्थितिवन्धो भवति । मोहनीयस्य सार्धपल्योपमः, इतो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानां स्थितिवन्धः संख्येयगुणहीनो भवति, मोहनीयस्य तु संख्येयभागहीनो भवति । ततः स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु मोहनीयस्य पल्योपमप्रमाणः स्थितिवन्धो भवति, ततो मोहनीयस्याप्यन्यं स्थितिवन्धं पल्योपमसंख्येयगुणहीनं करोति । तदानीं च शेषकर्मणां पल्योपमसंख्येयभागप्रमाणः स्थितिवन्धो भवति, तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णो—“ततो अत्रेण ठितिरांबुपुहुतेण मोहणिजस्स ठितिवन्धो पलिओवमं ताहे मोहाउयवजाणं छण्ह कम्माणं पलिओवमस्स संतेज्जति भागो ठितिवन्धो” इति । अत्राल्पबहुत्वमेतत्—‘सर्वस्तोकं नामगोत्रयोः सत्कर्म ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानां संख्येयगुणं सत्कर्म परस्परं तुल्यं, ततोऽपि मोहनीयस्य संख्येयगुणं स्थितिसत्कर्मिति’ । ततः प्रभूतेषु स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु मोहनीयस्यापि पल्योपमसंख्येयभागमात्रः स्थिति-

वन्धो भवति । तदानीं नामगोत्रयोरन्यं स्थितिवन्धमसंख्येयगुणहीनं शेषकर्मणां च संख्ये-
यगुणहीनमारभते । अत्र च सत्कर्मपेक्षयाऽल्पबहुत्वमुच्यते—‘नामगोत्रयोः सर्वस्तोकं सत्कर्म,
ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानामसंख्येयगुणं स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यं ततो
मोहनीयस्य संख्येयगुणं सत्कर्म भवतीति’ । ततः स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु ज्ञानावरणदर्शनाव-
रणान्तरायवेदनीयानां स्थितिवन्धः पल्योपमासंख्येयभागमात्रो भवति । तदुक्तं कर्मप्रकृति-
चूर्णौ—‘ततो ठितिरिदं सहेस्तेषु गतेषु अत्रो ठितिवन्धो नाणावरणादीणं तिष्ठं अन्तरादयस्स च असंख्येय-
गुणहीनो आदवेति’ इति । अत्र सत्कर्मपेक्षयाऽल्पबहुत्वम्—‘सर्वस्तोकं नामगोत्रयोः स्थितिसत्कर्म,
ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानामसंख्येयगुणं परस्परं तुल्यं ततो मोहनीयस्या-
संख्येयगुणं स्थितिसत्कर्म भवतीति’ । ततो बहुषु स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेष्वेकहेल्यय मोहनी-
यस्य स्थितिवन्धो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानामधस्तात् भवति, सत्कर्मापि
चैवमेव भवति । ननु पूर्वं ज्ञानावरणादीनामुपर्यसंख्येयगुणं मोहनीयसत्कर्मासीदधुना कथ-
मेकहेल्ययधस्ताज्जातमिति चेत् ? बृहत्तरस्थितिखण्डस्यापवर्त्तितत्वात्तदोष इति । अत्र चाल्प-
बहुत्वं—‘सर्वस्तोकं नामगोत्रयोः सत्कर्म, ततो मोहनीयस्यासंख्येयगुणं ततोऽपि ज्ञानावरण-
दर्शनावरणान्तरायवेदनीयानामसंख्येयगुणं परस्परं तुल्यमिति’ । ततो बहुषु स्थितिवन्धस-
हस्रेषु गतेषु सत्सु मोहनीयस्य स्थितिवन्धो नामगोत्राभ्यामसंख्येयगुणहीनो जातः । अत्रापि
बृहत्तरस्थितिखण्डापवर्त्तनमेवमग्रेऽपि वाच्यमिति । अत्र स्थितिवन्धमाश्रित्याल्पबहुत्वमु-
च्यते—‘सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिवन्धस्ततो नामगोत्रयोरसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं
तुल्यः, ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामसंख्येयगुणः परस्परं तुल्यः’ । ततः कतिपयेषु स्थिति-
वन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु वेदनीयं ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायभ्योऽसंख्येयगुणं जातमिति
न्यायाचार्याः । कर्मप्रकृतिचूर्णौ तु ‘कतिपयेष्विति स्थाने ‘संख्येयेष्विति’ त्युक्तमस्ति । तद-
नन्तरं च वेदनीयस्यान्यस्थितिवन्धः सर्वेभ्योऽप्यसंख्येयगुणो जायते । अत्र स्थितिवन्ध-
माश्रित्याल्पबहुत्वं चिन्त्यते—‘सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिवन्धः, ततो नामगोत्रयोर-
संख्येयगुणः स्वस्थाने परस्परं तुल्यस्ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायानामसंख्येयगुणः
स्वस्थाने तु मिथस्तुल्यः ततोऽपि वेदनीयस्यासंख्येयगुण’ इति । ततः स्थितिवन्धसहस्रेषु
गतेषु सत्सु ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायभ्यो नामगोत्रकर्मणां असंख्येयगुणे जाते । ज्ञाना-
वरणादीन्यसंख्येयगुणहीनानि जातानीत्यर्थः । अत्राल्पबहुत्वं—‘सर्वस्तोको मोहनायस्य
स्थितिवन्धस्ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायानामसंख्येयगुणः स्वस्थाने परस्परं तुल्य-
स्ततोऽपि नामगोत्रयोरसंख्येयगुणः स्वस्थाने परस्परं तुल्यः, ततोऽपि वेदनीयस्यासंख्येय-
गुण’ इति पञ्चसंग्रहे, तथा च तद्वाक्यं—‘वीसगअसखभागे मोहं पच्छा उ घाई तइयस्स ।
वीसाण तओ घाई असखभागंमि वज्झन्ति ॥ १ ॥’ अस्याः स्वोपज्ञवृत्तिः—‘ततः स्थितिवन्धसहस्रेष्व-
तीतेषु नामगोत्रयोरधो मोहनीयस्य एकवारयैव वन्धो भवति । सर्वस्तोको मोहनीये, तस्मादसंख्येयगुण-
स्तुल्यश्च नामगोत्रयोः, घातिकर्मणामसंख्येयगुणस्तुल्यश्च । ‘तइयस्स’ इति वेदनीयस्यासंख्येयगुणः ।

ततः स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु 'वीसगण'ति नामगोत्रयोरैकप्रहारेणैव जातान्यधो घातीनि । मोहनीयस्य स्तोक्वन्धः, शेषघातिकर्मणामसख्येयगुणः, नामगोत्रयोः असख्येयगुणो वेदनीयस्यासख्येयगुणोऽनेन विविना दध्यत इति गार्थः । अत्र मलयगिरीपावृत्तिरप्युपन्यस्यते, तथाहि—“ततः स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु एकहेल्यैव विंशतिकयोः नामगोत्रयोरधस्तादसख्येयगुणहीनो मोहनीयस्य स्थितिवन्धो भवति । अत्र स्थितिवन्धमाश्रित्याल्पबहुत्वं चिन्त्यते—सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिवन्धः, ततो नामगोत्रयोरसख्येयगुणः, स्वस्थाने परस्पर तुल्यः, ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामसख्येयगुणः, स्वस्थाने परस्पर तुल्यः । स्थितिवन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु पञ्चाचतृतीयस्य वेदनीयस्य घातीनि ज्ञानावरण-दर्शनावरणीयान्तरायाणि अधो जातानि । अत्र स्थितिवन्धमाश्रित्याल्पबहुत्वं चिन्त्यते—सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिवन्धः, ततो नामगोत्रयोरसख्येयगुणः स्वस्थाने तु तयोः परस्पर तुल्यः, ततोऽपि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामसख्येयगुणः, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यः, ततोऽपि वेदनीयस्यासख्येयगुणः । ततः स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु विंशतिकयोर्नामगोत्रयोरसख्येयभागे घातीनि ज्ञानावरणीयादीनि धीणि दध्यन्ते, नामगोत्रापेक्षया ज्ञानावरणीयादीनां स्थितिवन्धोऽसख्येयगुणहीनो भवतीत्यर्थः । अत्राल्पबहुत्वं—सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिवन्धः, ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामसख्येयगुणः, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यः, ततोऽपि नामगोत्रयोरसख्येयगुणः, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यः, ततोऽपि वेदनीयस्यासख्येयगुणः”इति । कर्मप्रकृतौ तु वेदनीयस्य विशेष-पाधिक उक्तः, तथा च तन्नन्धः—“तो तीसगाणमुपि च वीसगा इ असख्यगुणाप । तद्वय च वीसगाहि य विसेसमहिय कमेणेइ ॥ १ ॥” वृत्तिः—“ततोऽनेनैव विविना स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु त्रिंशत्कानां त्रिंशत्सगरोपमकोटिकोटिस्थितिकानां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामुपरि स्थिति-वन्धमधिकृत्य विंशतिके नामगोत्रे जाते, अत्राल्पबहुत्वमिदं—सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिवन्धः, ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामसख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यः, ततोऽपि नामगोत्रयोरसख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यः, ततोऽपि वेदनीयस्य विशेषाधिकः । ‘असख्यगुणाप’ति यत्र मोहनीय ज्ञानावरणादिभ्योऽसख्येयगुणहीनं कृतं ततः प्रभृति सर्वत्राप्यसख्येयगुणहीनमेव क्रमेण पला-गच्छति । तथा तृतीय वेदनीय विंशतिकाभ्यां नामगोत्राभ्यां विशेषाधिक जातं सत्सर्वत्रापि विशेषा-धिकमेव क्रमेण पल्लुवर्तत” इति । एवं कर्मप्रकृतिचूर्णौ मलयगिरिकृतकर्मप्रकृतिवृत्तौ च चान्यम्, तत्त्वं पुनस्तद्विदो विदन्ति । यस्मिन् काले सर्वकर्मणां पल्योपमासख्येयभाग-मात्रस्थितिवन्धो जातः तस्मिन् काले दध्यमानप्रकृतिस्थित्यपेक्षया हीनानामसख्येयसमय-प्रवृत्तानां कर्मस्थितानीनामेवोदीरणा भवति, शेषस्थितानां क्षीणत्वसम्भवात्, तदुक्तं पञ्चसं-ग्रहवृत्तौ—“इह यदा पल्योपमासख्येयभागमात्र स्थितिवन्ध करोति तदा दध्यमानप्रकृतिस्थित्यपेक्षया याः समयादिहीनाः स्थितयस्ता एवोदीरणामुपगच्छन्ति, नान्याः, ताश्च चिरकालवद्धा एव क्षीण-शेषाः सम्भवन्तीत्यसंख्येयसमयवृत्तानां तदानीमुदीरणा” इति । ततः स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु मनःपर्यायज्ञानावरणदानान्तरायायोः देशघातिनमनुभागं वध्नाति । ततः सख्ये-येषु स्थितिवन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु लाभान्तरायावधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणानां देश-

घातिरसं वध्नाति । ततः संख्येयेषु स्थितिवन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु भोगान्तरायाचक्षुर्दर्शना-
वरणश्रुतज्ञानावरणानां देशघातिरसं वध्नाति । ततः संख्येयेषु स्थितिवन्धसहस्रेषु व्यति-
क्रान्तेषु चक्षुर्दर्शनावरणीयस्यानुभागं देशघातिनं वध्नाति । ततोऽपि संख्येयेषु स्थितिवन्ध-
सहस्रेषु व्यतिक्रान्तेषु मतिज्ञानावरणपरिभोगान्तराययोर्देशघातिरसं वध्नाति । ततः
संख्येयेषु स्थितिवन्धसहस्रेषु व्यतीतेषु वीर्यान्तरायस्य देशघातिरसं वध्नाति । अश्रेणिग-
तास्तु सर्वेऽपि सर्वासां देशघातिप्रकृतीनामनुभागं सर्वघातिनमेव वध्नाति । ततः संख्येयेषु
स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेष्व्याद्यवर्जद्वादशकपायाणां नवानां नोकपायाणां चान्तरकरणं
करोति । तत्रोदयवतीनां प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा, शेषाणामावलिकामात्रा ।
उदयश्च चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य कपायस्य त्रयाणां वेदानां चान्यतमस्य वेदस्य भवति ।
चतुर्णां कपायाणां त्रयाणां वेदानां च स्वोदयकालप्रमाणमिदम्—स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोरुदय-
कालः सर्वस्तोकः स्वस्थाने तु मिथस्तुल्यः, ततः पुरुषवेदस्य संख्येयगुणः, ततः संज्वलन-
क्रोधस्य विशेषाधिकः, ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकः, ततः संज्वलनमायाया विशेषा-
धिकः, ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः, तदुक्तं पञ्चसंग्रहे—“थीअपुमोदयफाला संखे-
न्नगुणे ३ पुरिसवेयस्स । तस्स वि विसेसअहिओ कोदे वचो वि जह् कमसो ॥ १ ॥” इति । तत्र
संज्वलनक्रोधेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणक्रोधोपशमो न भवति
तावत्संज्वलनक्रोधस्योदयः, संज्वलनमानेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानप्रत्या-
ख्यानवरणमानोपशमो न भवति तवत्संज्वलनमानस्योदयः, संज्वलनमाययोपशमश्रेणिं
प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानमायोपशमो न भवति तवत्संज्वलनमायाया
उदयः, संज्वलनलोभेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानलोभोपशमो न
भवति तवत्संज्वलनलोभस्योदयः, ततः परं सूक्ष्मसम्परायाद्वा । तदेवमन्तरकरणमुपरि-
तनभागापेक्षया समस्थितिकमधोभागापेक्षया च विपमस्थितिकं, प्रथमस्थितिप्रतियोगिकति-
पयप्रकृत्युदयकालवैपम्यात् । यावता कालेन चान्यं स्थितिवन्धमन्यं स्थितिरूपं वा
घातयति, तावता कालेनान्तरकरणमपि परिसमापयति, त्रयाणां तुल्यकालत्वात् । त्री-
ण्यपि युगपदारभते युगपच्च परिसमापयतीत्यर्थः, तदुक्तं पञ्चसंग्रहे—“अन्तरकरणेण
समं ठिइसंडगयन्धगद्वनिप्पती । अंतरकरणान्तरसमये जायति सत्त इमे ॥ १ ॥” इति ।
तच्चान्तरं प्रथमस्थितेः संख्येयगुणं भवति । अन्तरकरणसत्कदलिकस्य प्रक्षेपविधिश्चा-
यम्—येषां कर्मणां तदानीं बन्ध उदयश्च विद्यते तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथम-
स्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति, यथा पुरुषवेदोदयारूढः पुरुषवेदस्य । येषां तु कर्मणा-
मुदय एव केवलो विद्यते न बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितावेव प्रक्षिपति,
न द्वितीयस्थितौ, यथा स्त्रीवेदोदयारूढः स्त्रीवेदस्य । येषां पुनरुदयो न विद्यते किन्तु
केवलो बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं द्वितीयस्थितावेव प्रक्षिपति, न प्रथमस्थितौ,
यथा संज्वलनक्रोधोदयारूढः संज्वलनमानादीनाम् । येषां पुनर्न बन्धो नाप्युदयस्तेषामन्तरक-
रणसत्कं दलिकं परप्रकृतौ प्रक्षिपति, यथा द्वितीयतृतीयकपायाणामिति ॥ अत्र द्वेस्थापने-

॥ चा० मोहनीयान्तरकरणविषयतायाश्चित्रं ॥

इदमन्तरवैषम्यान्तरकरणक्रियाप्राप्तये (प्र० स्थितौ चर्यमानस्य)

इदमन्तरवैषम्यमेकस्य जीवस्यैकस्मिन् समये न भवेत् परमोक्तजीवोपेक्षया प्राप्यते, एकजीवस्यैकस्मिन्समयेऽन्तरवैषम्येदस्य कथापय चान्तरकरणमवगात् ।

अन्तरकरण,
काठेऽनुदय
वर्तमाने १९ तम

| प्र० स्थि० | अ | न | र | म | (अन्तर्मु०) | द्वितीया स्थितिः संक्षेपे० चर्यमानाणां |
|------------|---|---|---|---|-------------|--|
| आव० | | | | | | |

प्र० स्थितिः अन्तर्मु०

जीवेदस-

| प्र० स्थितिः अन्तर्मु० | अ | न | र | म | (अन्तर्मु०) | दि० स्थि० सं० व० |
|------------------------|---|---|---|---|-------------|------------------|
|------------------------|---|---|---|---|-------------|------------------|

प्र० स्थितिः अन्तर्मु०

ननुवेदस-

| प्र० स्थितिः अन्तर्मु० | अ | न | र | म | (अन्तर्मु०) | दि० स्थि० सं० व० |
|------------------------|---|---|---|---|-------------|------------------|
|------------------------|---|---|---|---|-------------|------------------|

प्र० स्थितिः अन्तर्मु०

पुंवेदस-

| प्र० स्थितिः अन्तर्मु० | अ | न | र | म | (अन्तर्मु०) | दि० स्थि० सं० व० |
|------------------------|---|---|---|---|-------------|------------------|
|------------------------|---|---|---|---|-------------|------------------|

प्र० स्थितिः अन्तर्मु०

सौ० जीवस-

| प्र० स्थितिः अन्तर्मु० | अ | न | र | म | (अन्तर्मु०) | दि० स्थि० सं० व० |
|------------------------|---|---|---|---|-------------|------------------|
|------------------------|---|---|---|---|-------------|------------------|

पुंवेदसः विशेषाधिका

सौ० मानस-

| प्र० स्थि० अन्तर्मु० (सोपेतः विशेषाधिका) | अ | न | र | म | (अन्तर्मु०) | दि० स्थि० सं० व० |
|--|---|---|---|---|-------------|------------------|
|--|---|---|---|---|-------------|------------------|

प्र० स्थि० अन्तर्मु० (मानस्य प्र०स्थितितः विशेषे०)

सौ० माध्या-

| प्र० स्थि० अन्तर्मु० (मानस्य प्र०स्थितितः विशेषे०) | अ | न | र | म | (अन्तर्मु०) | दि० स्थि० सं० व० |
|--|---|---|---|---|-------------|------------------|
|--|---|---|---|---|-------------|------------------|

प्र० स्थि० अन्तर्मु० (मानस्य प्र०स्थितितः विशेषे०)

सौ० कोमल-

| प्र० स्थि० अन्तर्मु० (माध्यायाः विशेषे०) | अ | न | र | म | (अन्तर्मु०) | दि० स्थि० सं० व० |
|--|---|---|---|---|-------------|------------------|
|--|---|---|---|---|-------------|------------------|

प्र० स्थि० अन्तर्मु० (माध्यायाः विशेषे०)

प्र० स्थि० अन्तर्मु० (माध्यायाः विशेषे०)

॥ इदं प्र० स्थितिवैषम्यादन्तरकरणप्रयोगोक्तं विन्यस्य,
॥ अन्तरकरणे सामासिकं (परपरार्थेभ्यः) वेद्यम् ।

॥ चा० मोहनीयान्तरकरणकाले अन्तरकरणदलिकप्रक्षेपविषयस्य चित्रम् ॥

तदानीं मोहस्य बन्धो-
दयप्रकृतीनां स्थि-
तताया अन्त० द०
प्रक्षेपविधिः-

| | | |
|--|---|---|
| प्रथमा स्थितिः । (अन्तर्मु०) अन्तरकरणदलिकप्रक्षेपविषयरूपा | अन्तरकरणस्यान (अ- न्तर्मु०) उत्तीर्णमा- याः स्थितयश्च । | द्वितीया स्थितिः । (वाक्य०संक्षेपे० चर्यमानाणां) अन्तरकरणदलिक- प्रक्षेपविषयरूपा |
|--|---|---|

अन्तरकरणकाले मो-
हस्य उदयमागता-
नां प्रकृतीनां स्थि-
लताया अन्तः क०
द० प्रक्षेपविधिः-



प्रक्षेपविपर्यया प्रथमा स्थितिः ।
(अन्तर्मुं०)

उत्कीर्यमाणाः स्थित-
यः । (अन्तरकरणस्थानं
अन्तर्मुं० प्रमाणं वा)

द्वितीया स्थिः । (उक्तं संख्येयव-
र्षप्रमाणां) (अन्तरक० दृष्टिकं भ्रम
न संक्रामति)

अन्तरकरणकाले य-
ध्यमानमोहनीयस्य
स्थितिलताया अन्तः
क० द० प्र० वि०-

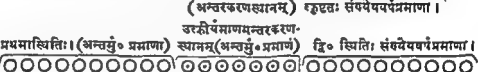


प्रथमा स्थितिः । (अन्तर्मुं० प्रमाणां)

उत्कीर्यमाणाः स्थितयः ।
(अन्तरकरणस्थानम्)

प्रक्षेपविपर्यया द्वितीया स्थितिरु-
च्छेदतः संख्येयवर्षप्रमाणा ।

अन्तरकरणकाले भय-
शोदयमोहप्रकृतीनां
स्थितिस्थितयः ।
क० द० प्र० वि०-



प्रथमा स्थितिः । (अन्तर्मुं० प्रमाणां)

उत्कीर्यमाणमन्तरकरण-
स्थानम् (अन्तर्मुं० प्रमाणं)

द्वि० स्थितिः संख्येयवर्षप्रमाणा ।

यन्धावलिका

मोहनीयस्य यध्यमानप्रकृतेर्यन्धावलिः पञ्चसप्तविंशतिः । (संख्येयवर्षप्रमाणां)

अन्तरकरणद्वितीयसमये वक्ष्यमाणाः सप्ताधिकारा युगपत् प्रवर्तन्ते, तथाहि- १ पुरुष-
वेदसंज्वलनानामानुपूर्व्या संक्रमः । २ संज्वलनलोभस्य संक्रमाभावः । ३ अन्तरकरणात्
प्राग्यद्वयं कर्म तद्वन्धावलिकायामतिक्रान्तायां प्राक्तनोदयसत्कर्मानुविद्धमुदीरणामायाति
स्म, अन्तरकरणे तु कृते तदनन्तरसमये यद्वयं तत् पडावलिकाकालमतीत्योदीरणामाया-
ति । ४ मोहनीयस्यैकस्थानिकमनुभागं वध्नाति । ५ मोहनीयस्य संख्येयवर्षप्रमाणोदीरणम् ।
६ मोहनीयस्य संख्येयवर्षको वन्धः स च सर्वोऽपि पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् संख्येयगुणहीनो
भवति, शेषाणां तु कर्मणामसंख्येयगुणहीनः । ७ तथाऽन्तरकरणकृते सति द्वितीय-
समये नपुंसकवेदमुपशमयितुमारभते, तद्यथा-नपुंसकवेदस्य प्रथमसमये स्तोकं प्रदेशा-
ग्रमुपशमयति, ततो द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणनेवं
यावदन्तरकरणचरमसमयः । परप्रकृतिषु च प्रतिप्रमयमुपशमितदलिकापेक्षयाऽसंख्ये-
यगुणं तावत्संक्रमयति यावद्विचरमसमयः । चरमसमये पुनरुपशम्यमानं दलिकं सं-
ख्येयगुणदलिकापेक्षयाऽसंख्येयगुणं द्रष्टव्यम् । नपुंसकवेदोपशमारम्भप्रथमसमयादारम्भे
सर्वकर्मणामुदीरणं दलिकापेक्षया सर्वस्तोका उदयस्त्वसंख्येयगुणः । तदेवमुपशान्ता
नसप्तकेन सह अष्टौ प्रकृतय इति ॥ अत्र स्थापना-

॥ पुंवेदोपशमनाक्रमस्य चित्रम् ॥

| | | | | | | | | | | | | | |
|----------|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|
| १ मेसमये | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| २ वे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| ३ थे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| ४ थं | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| ५ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| ६ छं | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| ७ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| ८ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| ९ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| १० मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| ११ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| १२ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| १३ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| १४ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| १५ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| १६ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| १७ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| १८ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| १९ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| २० मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| २१ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |
| २२ मे | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ |

प्रतिशमयसस्येयगुणोपशमना (पुंवेदस्य)

सप्तदशोपशमना

अन्तर्मुहूर्तोपशमना

प्रतिशमयसस्येयगुणोपशमना (पुंवेदस्य)

अन्तर्मुहूर्तं संक्रान्तिः

सप्तदशोपशमना

द्वितीयोपशमना

सप्तदशोपशमना

प्रतिशमय विरोपशमना संक्रान्तिः

द्वितीयोपशमना

सप्तदशोपशमना

प्रतिशमयसस्येयगुणोपशमना

स्यादिपद्मसुपशान्तं तस्मिन्नेव समये पुरुषवेदस्यैकसमयमात्रोदयस्थितिस्तिष्ठति । तदानीं स्थितिबन्धः पुरुषवेदस्य षोडशवार्षिकः संख्येयानि वर्षसहस्राणि च संज्वलनानां भवति । यच्च समयोनावलिकाद्विकेन कालेन बद्धं पुरुषवेदसत्कं दलिकं तदनुपशान्तं वर्तते शेषं सर्वमपि नपुंसकवेदोक्तप्रकारेणोपशान्तमिति, तदुक्तं पञ्चसंग्रहे—“जं समयं उवसवं छलं उदयद्विहं तथा सेसा । पुरिते समरूणावलिदुगेण बद्धं अनुवसवं ॥१॥” इति । कर्मप्रकृतावपि—“छसुबसमिज्जमाणे सेक्का उदयद्विहं पुरितसेसा । समरूणावलिदुगे बद्धावि य तावदद्वाप ॥ १ ॥” इति । षडशीतिवृत्तौ तु—“ततोऽन्यैव रीत्याऽन्तर्मुहूर्तेन हास्यादिपद्म् । तस्मिन्प्रोपशान्ते तत्समयमेव पुरुषवेदस्य बन्धोदयव्यवच्छेदः । ततः समयोनावलिकाद्विकेन पुरुषवेदसुपशमयतीति । एवं सप्ततिकाभाष्यवृत्तावपि—“ततोऽन्यैव रीत्याऽन्तर्मुहूर्तेन हास्यादिपद्मोपशमे पञ्चदश ।

१ तः १५ = अन्तर्मुहूर्तं समयाः । १६ तः २२ = द्विसमयोनावद्विकसमयाः ।
 अत्रैव च समये पुंवेदस्य बन्धोदयोदीरणानामधःस्थितेऽथ व्यवच्छेदः” इति, तत्त्वं पुनस्तद्विदो विदन्ति । पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ ह्यावलिकाशेषायां प्रागुक्तलक्षण आगालो व्यवच्छिद्यते

उदीरणा तु भवति । तस्मिन्नेव च समये पुरुषवेदस्य प्रतिग्रहतापगच्छति, संक्रम्यमाणसत्कं दलिकं पुरुषवेदे न संक्रमयतीत्यर्थः । संक्रमकरणे कर्मप्रकृतिपञ्चसंग्रहादौ तद्वृत्तौ च 'प्रथमस्थितौ समयोनावलिकाद्विकशेषायां पुरुषवेदस्यापतद्ग्रहतापगच्छति, उपशमनाधिकारे तु पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितावावलिकाद्विकशेषायाभागालो व्यवच्छिद्यते, तस्मिन्नेव समये तत्पतद्ग्रहतापगच्छतीत्युक्तमतोऽस्माभिरपि तथैवोक्तमिति । यदा च पुरुषवेदसत्का समयमात्रा इदयस्थितिरतिक्रान्ता भवति तदैव पुरुषवेदस्य बन्धोऽपि व्यवच्छिद्यते । यदप्यवेदकाद्धायाः प्रथमसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकचक्रं पुरुषवेदसत्कं दलिकमनुपशान्तं तिष्ठति तदपि समयद्वयोनावलिकाद्विकेन कालेनोपशमयति । उपशमनाविधिश्चायं—प्रथमसमये स्लोकमुपशमयति ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणमेवं तावद्वाच्यं यावत्समयद्वयोनावलिकाद्विकचरमसमयः । परप्रकृतिषु च प्रतिसमयं समयद्वयोनावलिकाकालं यावत् यथाप्रवृत्तसंक्रमेण संक्रमयति, तद्यथा—प्रथमसमये प्रभूतं द्वितीयसमये विशेषहीनं ततोऽपि तृतीयसमये विशेषहीनमेवं तावद्वाच्यं यावच्चरमसमयस्तत् उपशान्तः पुरुषवेदः । उपरिगता चास्य स्थापना ॥

सर्वाश्च षोडश प्रकृतय उपशान्ता भवन्ति । तदानीं च संज्वलनानां स्थितिवन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तानो द्वात्रिंशद्वर्षप्रमाणो भवति, तदुक्तं कर्मप्रकृतिवृत्तौ सुगृहीतनामधेयैः श्रीमदाराध्यप्रवरैरन्यायाचार्यैः—“ततः पुरुषवेद उपशान्तः । तदानीं च संज्वलनानां द्वात्रिंशद्वर्षप्रमाणोऽन्तर्मुहूर्त्तानः स्थितिवन्धो भवति” । पञ्चसंग्रहे तु—“बन्धो वत्तीससमा संजलणाणिराण उ सदस्” । कर्मप्रकृतिचूर्णौ तु—“पठमसमयअवेयगस्स संजलणाण ठिइवंधो वत्तीसं वरिसाणि अन्तोमुहूर्त्तूणाणि” इत्यस्मत्प्रतौ लिखितमस्तीति । तत्त्वं पुनस्तद्विदो विदन्ति । ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयनामगोत्राणां संख्येयानि वर्षसहस्राणि भवन्ति । ननु पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदानन्तरं क्षपकश्रेण्यामश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः पुरुषवेद समयोनावलिकाद्विकेन क्रोधे गुणसंक्रमेण संक्रमयन् चरमसमये सर्वसंक्रमेण संक्रमयति, तद्वदत्रापि गुणसंक्रमो विध्यातसंक्रमो वा कथं न भवतीति चेत् ? सत्यम्, परं कर्मप्रकृतिचूर्ण्यादौ सर्वत्र यथाप्रवृत्तसंक्रमस्यैवोक्तत्वेनास्माभिरपि तथैवोक्तमिति । यस्मिन् समये पुरुषवेदेनावेदको जातस्तस्मात् समयादारभ्य क्रोधत्रिकं युगपदुपशमयितुमारभते । तदुपशमनां कुर्वन् प्रथमस्थितिवन्धे पूर्णोऽन्यं स्थितिवन्धं संज्वलनानां संख्येयभागहीनं शेषाणां संख्येयगुणहीनं करोति । शेषं स्थितिघातादिकं तथैव । संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां पतद्ग्रहतापगच्छति । अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधदलिकं न तत्र प्रक्षिपति, किन्तु संज्वलनमानादाविति भावः । प्रथमस्थितावावलिकाद्विकशेषायां त्वागालो व्यवच्छिद्यते, आवलिकाशेषायां तूदीरणाया व्यवच्छेदः । उदीरणावलिकायाश्चरमसमये संज्वलनानां स्थितिवन्धश्चत्वारो मासाः शेषकर्मणां तु संख्येयानि वर्षसहस्राणि । संज्वलनक्रोधस्य च तदा बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः । तदानीं च मध्यमक्रोधद्विकमुपशान्तम् । प्रथमस्थितिसत्कामावलिकां समयोनावलिकाद्विकचक्रं च मुक्त्वा शेषं

सर्वं संज्वलनक्रोधस्योपशान्तम् । प्रथमस्थितिसत्का चावलिकास्तिवृक्संक्रमेण माने प्रक्षिप्यते । समयोनावलिकाद्विकवद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति संक्रमयति च, तद्यथा—प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति, ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणमेवं समयोनावलिकाद्विकचरमसमयः । परंप्रकृतिषु च यथाप्रवृत्तसंक्रमेण समयोनावलिकाद्विकं यावत् पुरुषवेदवत् संक्रमयति । एवं संज्वलनक्रोधः सर्वात्मनोपशान्तः । यदैव संज्वलनक्रोधस्य बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नास्तदैव संज्वलनमानस्य द्वितीयस्थितेर्दलिकं समाकृष्य प्रथमां स्थितिं करोति वेदयते च । तत्रोदयसमये स्तोकं प्रक्षिपति, द्वितीयस्थितावसंख्येयगुणं तत्तत्तृतीयस्थितावसंख्येयगुणमेवं तावद्वाच्यं यावत्प्रथमस्थितेश्चरमसमयः । प्रथमस्थितिप्रथमसमये संज्वलनमानस्य स्थितिवन्धश्चत्वारो मासा इति पञ्चसङ्ग्रहकर्मप्रकृतिवृत्त्योः । कर्मप्रकृतिचूर्णं त्वन्तर्मुहूर्तचूर्णान्वात्वारो मासाः, तथाच तद्वन्धः—“वाहे चैव माणस्स पढमठितिं वीयठितो वलियं घेत्तूण करेति पढमसमवेयगो पढमठितिं करेमाणे पढमसमते उव्ते पदेसगं थोवं देति । से काले असंखेज्जगुणाए सेदीप देति जाव पढमठितीए चरमसमयो ति । वाहे चैव माणस्स विविहस्स उवसामगो । संमि समते माणसंजलणाए ठितीए ग्रंथो चचारिमासा अंतोहुत्तूणा” एवमग्रेऽपि मायालोभयोः प्रथमस्थिति-प्रथमसमये चूर्णिकाराभिप्रायेणान्तर्मुहूर्तानां स्थितिर्वाच्या । ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयान्तरायनामगोत्रवेदनीयानां संख्येयानि वर्षसहस्राणि स्थितिवन्धः । तदानीमेव च मानत्रिकं युगपदुपशमयितुमारभते । संज्वलनमानस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां प्रतिग्रहतापगच्छति, तत्र मध्यमानाद्विकस्य दलिकं न प्रक्षिपति, किन्तु संज्वलनमायादौ । संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितायावलिकाद्विकशेषायामागालो व्यवच्छिद्यते, तत् उदीरणैव केवला प्रवर्तते । सापि च यावदावलिकाचरमसमयः । ततः प्रथमस्थितेरावलिकाशेषीभूता तिष्ठति । उदीरणावलिकाचरमसमये संज्वलनानां द्विमासिकः स्थितिवन्धः शेषकर्मणां तु संख्येयवर्षाणि । तदानीं संज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः । मध्यमानाद्विकं चोपशान्तम् । तदानीं संज्वलनमानस्य समयोनावलिकाद्विकवद्धं प्रथमस्थितिसत्कां चावलिकां मुक्त्वा शेषं सर्वमुपशान्तम् । तदानीमेव संज्वलनमायायां द्वितीयस्थितेर्दलिकं समाकृष्य प्रथमां स्थितिं करोति वेदयते च । संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिसत्कामावलिकां स्तिवृक्संक्रमेण संज्वलनमायायां संक्रमयति । समयोनावलिकाद्विकवद्धं च पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति संक्रमयति च । संज्वलनमायोदयप्रथमसमये च मायालोभयोः स्थितिवन्धो द्वौ मासौ, शेषकर्मणां संख्येयानि वर्षाणि । तत्समयादेवारभ्य तिस्रोऽपि माया युगपदुपशमयितुमारभते । ततो मध्यमानाद्विकसत्कं दलिकं संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां मध्यमानायां संज्वलनमायायां न प्रक्षिपति, किन्तु संज्वलनलोभे । आवलिकाद्विकशेषायां त्यागालो व्यवच्छिद्यते, तत् उदीरणैव केवला प्रवर्तते, सापि तावत् यावदावलिकाचरमसमयः । तस्मिंश्च समये संज्वलनमायालोभयोः स्थितिवन्ध एको मासः शेषकर्मणां तु संख्येयानि वर्षाणि । तदानीमेव च संज्वलनमायायां बन्धोदयोदीरणाव्य-

वच्छेदः, मध्यमं मायाद्विकं चोपशान्तम् । संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितिसत्कामावलिकां समयोनावलिकाद्विकवज्रं चानुपशान्तं तिष्ठते, शेषं सर्वमुपशान्तम् । ततोऽसौ लोभवेदको जातस्तस्मिंश्च समये संज्वलनलोभस्य द्वितीयस्थितेः सकाशादलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयति च । पूर्वोक्तां च मायायाः प्रथमस्थितिसत्कामावलिकां स्तिबुकसंक्रमेण संज्वलनलोभे संक्रमयति । समयोनावलिकाद्विकवज्राश्च लताः पुरुषवेदक्रमेणोपशमयति, संक्रमयति च संज्वलनलोभे । लोभस्य द्वितीयस्थितेर्दलिकमाकृष्य प्रथमां त्रिविभागोपेतां स्थितिं करोति, तद्यथा—प्रथमो विभागोऽश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञः, द्वितीयकिट्टिकरणाद्धासंज्ञः । एतयोर्द्वयोर्विभागयोर्दलिकनिक्षेपो भवति । किमुक्तं भवति ? द्वितीयस्थितेर्दलिकं समाकृष्य द्विभागप्रमाणां प्रथमां स्थितिं करोतीति । तृतीयः पुनः किट्टिवेदनाद्धा संज्वलनलोभोदये वर्तमानः प्रथमसमये त्रीनपि लोभान् युगपदुपशमयितुमारभते । उपशमनाविधिश्च प्राग्वत् । तत्राश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः पूर्वस्पर्द्धकेभ्यः प्रतिसमयं दलिकं गृहीत्वा तस्यात्यन्तं नीरसतामापाद्यापूर्वस्पर्द्धकानि करोति । संक्रमितमायादलिकसम्बन्धिभ्यः पूर्ववद्धसंज्वलनलोभस्पर्द्धकेभ्यो वा पूर्वस्पर्द्धकेभ्यः प्रतिसमयं दलिकं गृहीत्वा तस्य तत्कालवध्यमानसंज्वलनलोभस्पर्द्धकवदत्यन्तनीरसतामापादयन्नपूर्वं दलिकं प्रतिसमयं गृह्णन् पूर्वस्पर्द्धकानि करोति । इह तावदनन्तानन्तरमाणुनिष्पन्नान् स्कन्धान् जीवः कर्मतया गृह्णाति । तत्र चैकस्मिन् स्कन्धे यः सर्वजघन्यो रसः सोऽपि सर्वजीवानन्तगुणान् रसाविभागान् प्रयच्छति । तदुपेतपरमाणूनां समुदायः प्रथमा वर्गणा । ततः क्रमेणैकोत्तररसाविभागवृद्ध्या सिद्धानन्तभागाभ्ययानन्तगुणा वर्गणा याच्याः । तावद्वर्गणासमुदायः स्पर्द्धकमुच्यते । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरवृद्ध्या वर्धमानो रसो न लभ्यते, किन्तु सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसाविभागः । ततः प्राक्तनक्रमेण द्वितीयं स्पर्द्धकमारभ्यते । एवं तृतीयादीनि तावद्वाच्यानि यावदनन्तस्पर्द्धकानि । एतेभ्य एवेदानीं प्रथमादिवर्गणा गृहीत्वा पिशुद्धिप्रकर्षयशादनन्तगुणहीनरसाः कृत्वा पूर्ववत् स्पर्द्धकानि करोति । न चैवंभूतानि कदापि पूर्वं कृतानि ततोऽपूर्वाणीत्युच्यन्ते । एवमपूर्वाणि स्पर्द्धकानि क्षुर्यतः संख्येयेषु स्थितियन्धसहस्रेषु गतेषु सत्त्वश्वकर्णकरणाद्धा परिसमाप्यते । ततः किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति । तदानीं च संज्वलनलोभस्य दिनपृथक्त्वप्रमाणः स्थितिबन्धः, शेषकर्मणां यपपृथक्त्वप्रमाणः । किट्टिकरणाद्धायां च वर्तमानः पूर्वस्पर्द्धकेभ्योऽपूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च दलिकं गृहीत्वा प्रतिसमयमनन्ताः किट्टीः करोति । किट्टयो नाम पूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापाद्यैकोत्तरवृद्धित्यागेन बृहदन्तरालतया व्यवस्थापनं, यथा यासामेव वर्गणानामसत्कल्पनयाऽनुभागभागानां शतमेकोत्तरं द्युत्तरादि वासीत् तासामेवानुभागभागानां पञ्चकस्य दशकस्य पञ्चदशकादेश्च व्यवस्थापनमिति । तार्थैकस्मिन् अनुभागस्पर्द्धके यावन्त्यो वर्गणास्तासामनन्ततमे भागे यावन्त्यो वर्गणास्तप्यप्रमाणाः प्रथमसमये करोति । ताद्यानन्ताः सर्वजघन्यादनुभागादप्यनन्तगुणहीनरसाः करोति । द्वितीयसमये प्रथमसमयकिट्टिभ्योऽसंख्येयगुणहीनास्तृतीयसमये ततोऽप्यसंख्ये-

यगुणहीना एवं तावद्वाच्यं यावत् किट्टिकरणाद्धाचरमसमयः । प्रतिसमयं दलिकमसंख्ये-
यगुणं, तद्यथा—प्रथमसमये सकलकिट्टिगतं दलिकं सर्वस्तोकं ततो द्वितीयसमये सकलकिट्टि-
गतमसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये समस्तकिट्टिगतं दलिकमसंख्येयगुणमेवं तावद्वाच्यं
यावत् किट्टिकरणाद्धायाचरमसमयः । अनुभागस्तु प्रथमसमयासु कृतासु किट्टिपु सर्वप्रभूतः,
ततो द्वितीयसमयासु कृतासु किट्टिष्वनन्तगुणहीनः, ततस्तृतीयसमयकृतास्वनन्तगुणहीनः,
एवं तावद्वाच्यं यावत् किट्टिकरणाद्धाचरमसमयः । तथा प्रथमसमयेषु या निवर्त्तिताः किट्टि-
यस्तासां मध्ये या मन्दरसास्तासां दलिकं सर्वप्रभूतं, ततोऽनन्तरेणानन्तगुणेनानुभागेनाधि-
कायां द्वितीयस्यां किट्टी दलिकं विशेषहीनं ततोऽप्यनन्तरेणानन्तगुणानुभागेनाधिकायां
तृतीयस्यां किट्टी दलिकं विशेषहीनमेवमनन्तरानन्तरानन्तगुणाधिकानुभागासु किट्टिपु विशे-
षहीनं विशेषहीनं दलिकं तावद्वाच्यं यावत् सर्वोत्कृष्टरसा किट्टिः । एवं प्रतिसमयनिवर्त्ति-
तानामपि किट्टीनां भावनीयम् । तथा प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वजघन्यानु-
भागा किट्टी सा सर्वस्तोकानुभागा, ततो द्वितीयाऽनन्तगुणानुभागा, ततोऽपि तृतीयाऽन-
न्तगुणानुभागा एवं तावद्वाच्यं यावत् प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टा किट्टिः ।
एवं द्वितीयादिसमयकृतानामपि किट्टीनां ररूपणा कर्त्तव्या । तथा किट्टीनां परस्परं प्रदेशा-
नामल्पचहुत्यमुच्यते—तत्र प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वचहुप्रदेशा किट्टिः सा
स्तोकप्रदेशा तदपेक्षया द्वितीयादिसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वाल्यप्रदेशा साऽसंख्ये-
यगुणा, ततोऽपि तृतीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वाल्यप्रदेशा सा असंख्येयगुण-
प्रदेशा एवं तावद्वाच्यं यावच्चरमसमयः । तथा प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वज-
घन्यानुभागा किट्टिः सा प्रभूतानुभागा ततो द्वितीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वो-
त्कृष्टानुभागा किट्टी साऽनन्तगुणहीना, तथा द्वितीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्व-
मन्दानुभागा किट्टी तदपेक्षया तृतीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वोत्कृष्टानुभागा
किट्टिः साऽनन्तगुणहीना एवं तावद्वाच्यं यावच्चरमसमयः । अत्र स्थापना—

॥ किट्टिकरणाद्धायां सं० लोभद्धि० स्थितौ किट्टिकरणविधेक्षित्रम् ॥

| | | | | | |
|---|--|---|---|---|--|
| प्रथमसमयकृताः किट्टयः ११ (प्रत्युत्पन्न- मन्ताः) । अनुभागासु प्रथमसमयकृता- वपि जगत्प्रभूतानुभागासु प्रथमसमयकृता- नां प्रदेशासु प्रथमः सर्वस्तोकः । | | ० | ० | ० | सर्वोत्कृष्टानुभागा किट्टिः सर्वा- स्वमादेशिकी प्रथमा ततोऽनं० |
| | | ० | ० | ० | गु० हीनरसा द्वितीयादयः किट्टि- योऽनुक्रमेण विशेषाधिकमादे- |
| | | ० | ० | ० | लिख्यो ज्ञेयाः । |
| | | ० | ० | ० | " " " " |
| | | ० | ० | ० | " " " " |
| | | ० | ० | ० | " " " " |
| | | ० | ० | ० | " " " " |
| | | ० | ० | ० | " " " " |
| | | ० | ० | ० | " " " " |
| | | ० | ० | ० | " " " " |

किट्टीकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु सत्सु संज्वलनलोभस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः स्थितिवन्धः । ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां दिनपृथक्त्वप्रमाणो नामगोत्रवेदनीयानां प्रभूतवर्षसहस्र-
प्रमाणः । किट्टिकरणाद्धायाश्चरमसमये संज्वलनलोभस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः केवलमिदमन्तर्मु-
हूर्त्तं लघुतरमवसेयम् । ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामन्तरहोरात्रं नामगोत्रवेदनी-
यानां किञ्चिदूनवर्षद्वयप्रमाणः । उदीरणावलिकायाश्चरमसमये संज्वलनलोभस्य बन्धवादरो-
दयोदीरणा व्यवच्छिद्यन्ते । अनिवृत्तिवादरसम्परायगुणस्यानमपि परिसमाप्यते । अनिवृत्ति-
करणचरमसमये मध्यमलोभद्विकमुपशान्तम् । तदानीं च संज्वलनलोभस्य समयोनावलिका-
द्विकवज्रं, द्वितीयस्थितिगतं किट्टीकृतं किट्टीकरणाद्धायां शोपीभूतं, चरमावलिकागतं च मुक्त्वा
शेषं सर्वमुपशान्तं वर्त्तते, तदुक्तं पञ्चसंग्रहे—“लोभस्त अणुवसतं किट्टी उदयावली य पुष्टं ।
वायरगुणेण समगं दोण्ह वि लोभा समुवसंवा ॥ १ ॥” इति । ततः किट्टिवेदनाद्धायां प्रविशति ।
तत्र प्रविष्टः प्रथमसमये सूक्ष्मसम्पराय उच्यते । सूक्ष्मसम्परायाद्धायां चान्तर्माहूर्त्तिकायामुप-
विष्टः सन् संज्वलनलोभस्योपरितनस्थितेः कतिपयकिट्टीराकृत्य सूक्ष्मसम्परायाद्धातुल्यामध-
स्तनस्थितिं कुरुते वेदयते च । किट्टीकरणाद्धायाः चरमावलिकागतं दलिकं स्तिबुकसंक्रमेण
संक्रमयति । सूक्ष्मसम्परायाद्धायाः प्रथमसमये प्रथमातिमसमयकृताः किट्टीः वर्जयित्वा शेषस-
मयकृताः किट्टयः प्रायः उदयमागच्छन्ति । प्रथमस्थितिभावानाक्रान्तकिट्टिव्यवच्छेदार्थं प्रायः
पदम् । तथा चरमसमयकृतानां किट्टीनामधस्तादसंख्येयभागं प्रथमसमयकृतानां किट्टीनामु-
परितनमसंख्येयभागं वर्जयित्वा शेषाः किट्टीरुदीरयति । द्वितीयसमये उदयप्राप्तानां किट्टी-
नामसंख्येयभागं मुञ्चति, उपशान्तत्वेनोदये न ददाति । अपूर्वं चासंख्येयभागमनुभयनार्थमु-
दीरणाकरणेन गृह्णाति । एवं प्रतिसमयमियतो भागस्य ग्रहणमोक्षो कुर्वता तावन्नन्तव्यं यावत्
सूक्ष्मसम्परायचरमसमयः । द्वितीयस्थितिगतमपि दलिकं सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयादारभ्य
सकलमपि सूक्ष्मसम्परायाद्धायावत् पूर्ववदुपशमयति । समयोनावलिकाद्विकवज्रमपि च द-
लिकमुपशमयति । सूक्ष्मसम्परायाद्धायाश्चरमसमये ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामन्तर्मु-
हूर्त्तप्रमाणः स्थितिवन्धः । यज्ञःकीर्त्तिनाम्न उच्चर्गोत्रस्य च योऽश्ममुहूर्त्तप्रमाणः स्थितिवन्धः ।
वेदनीयस्य चतुर्दिशतिमुहूर्त्तप्रमाणः स्थितिवन्धः । तस्मिन्नेव समये मोहनीयमुपशान्तम् ।
शातवेदनीयं विहाय शेषकर्माणां बन्धन्यवच्छेदश्च । ततोऽनन्तरसमये उपशान्तमोहो भवति ।
तत्र चोपशान्ताद्धासंख्येयतमभागसमयप्रमाणा गुणश्रेणी रचयति । सर्वा अपि गुणश्रेणयः
कालापेक्षया प्रदेष्टापेक्षया च तुल्याः । ताश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा उपशान्तमोहगुणस्यानकालं
यावत् करोति, अवस्थितपरिणामरूपहेतोरेकरूपत्वात् । दर्शनत्रिकं मुक्त्वोपशान्तमोहनीयं
सक्रमोद्धर्त्तनापवर्तनोदीरणानिधत्तिनाकाचनाकरणानामयोग्यं भवति । दर्शनत्रिकं तु संक्रमा-
पवर्तनं भवतः, नान्यत्करणं, तत्र मिथ्यात्वमिश्रयोः सम्यक्त्वे संक्रमः, अपवर्त्तना त्रयाणा-
मपि भवति । इत्थं च क्रोधेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु मानेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्तदा
मानमनुभवन्नेव संज्वलनक्रोधं नपुंसकवेदोक्तप्रकारेण प्रथमत उपशमयति, ततः क्रोधोक्त-

प्रकारेण मानत्रिकमुपशमयति, शेषं तथैव । यदा च मायया श्रेणिं प्रतिपन्नस्तदा मायां वेदयन्नेव नपुंसकवेदोक्तप्रकारेण प्रथमतः क्रोधत्रिकं ततो मानत्रिकं चोपशमयति । ततः क्रोधोक्तप्रकारेण मायात्रिकं शेषं तथैव । यदा तु लोभेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्तदा लोभमनुभवन् नपुंसकवेदोक्तप्रकारेण क्रोधत्रिकं ततो मानत्रिकं ततो मायात्रिकं चोपशमयति । ततो लोभत्रिकमुक्तप्रकारेणोपशमयतीति । अत्र स्थापना—

॥ चारित्रमोहस्य सर्वोपशमनानुक्रमः ॥ (पुंवेदसंज्ञवलनक्रोधोदयाभ्याम्)

प्रस्थापकः—उपशमसम्यग्दृष्टिः क्षाधिकसम्यग्दृष्टिर्वा । प्ररूपणा त्वधोमुखी कुर्या ।

संज्ञार्थः—सं० व०=संज्ञेयानि यथाणि । दोषवर्जं=प्रथमस्थितेश्वरभावलिकासमयोनादलिकादिकेन बद्धं दलिकं च वर्जयित्वा । '० १ ० १ ० १ ०'=स्थितिघातसहस्राणि । '० १ ० १' इत्यत्र विन्ववस्त-
दावारकमोदयसूचका, सदधस्तन्थो रेखास्तु स्थितिघातसूचनार्थम् ।

क्रियाक्रमः

| | |
|-----------------------------------|--|
| ७ म गु ण स्था न म् | वि शु द्धिः (अन्तर्मु०) |
| | यथाप्रवृत्तम् (अन्तर्मु०) |
| ८ म गु ण स्था न म् | अ संज्ञेय संज्ञेय विशुद्धिः पातसहस्राणि (अन्तर्मु०) |
| | स्थितिघातसहस्राणि |

अतोऽन्यस्थितिवन्धः । (पद्व्यसंज्ञेयभागहीनकनेष)

अत्र प्रथमसमवादारभ्य स्थितिघातादि ५ पदार्थां गुणपदं प्रवर्तन्ते ।

अत्र निम्नाप्रचल्योदग्धविच्छेदः ।

अत्र देव १-पञ्चे०-वै० २-तै०-का०-समव०-वर्णादि ४-अगु०-उप०-परा०-
उक्षा०-व्रस ९-सुखग०-निर्माण-जिन-आहा० १-इति ३० प्रकृतीनां बन्ध-
विच्छेदः ।

अत्र चरमसमये हास्यरतिभयकुत्साणां बन्धविच्छेदः । हास्यवृत्त्योदयविच्छेदः ।
सर्वेषां देसोप०-निच०-निकाषनाया अपि विच्छेदः ।

| | |
|--|--|
| | अत्रापि प्रथमसमयतः पूर्ववत् ५ पदार्थाः प्रवर्तन्ते । (परमस्य प्रथमसमये पञ्चपदग्रहमतेन बन्धः सत्ता च अन्तः को० को० सागरप्रमाणा, कर्मप्रवृत्तिमतेन बन्धः कोटिसागरप्रमाणः सत्ता त्वन्तः को० को० प्रमाणा । यद्यपि प्रागुक्तैश्चपि करणत्वेतावान् बन्ध एतावदेव सत्कर्म सदा कर्मणां प्राप्पते, तथाप्यत्र बन्धसत्कर्मणां तदपेक्षया संख्येयगुणहीने द्रष्टव्ये इति विदोषः । सोऽपि बन्धः पूर्वकमेव हानि गच्छति) |
| स्थितिपातासद्व्याप्ति | अत्र सागरोपमसहस्रवृथस्त्वः स्थितिवन्धः । (७ कर्मेणाम्) |
| अभिहितसंयोगाभावाः । इति | अत्रासंज्ञिपक्षे० तुल्यस्थि० बन्धः । |
| ऊर्ध्वमेक एव भावाः दोषोऽयतिष्ठते । | अत्र चतुरिन्द्रियतुल्यस्थितिवन्धः । |
| स्थि० पा० पुष० स्थि० पा० पुष० स्थि० पा० पुष० स्थि० पा० पु० स्थि० पा० पु० स्थि० पा० पु० स्थि० पा० पु० | अत्र त्रीन्द्रियतुल्यस्थितिवन्धः । |
| | अत्र द्वीन्द्रियतुल्यस्थितिवन्धः । |
| | अत्रैकेन्द्रियतुल्यस्थितिवन्धः । |
| | इतः प्रारम्भ ७ कर्मणां यस्य कर्मणः पदयो० मात्रस्थि० बन्धः । तस्याग्न्यस्थि० बन्धः संख्ये० गु० हीनः, दोषाणां पूर्ववत् । अत्र साकर्मोपेक्षयाद्वयगुणवन्- |

| | | | | | |
|----|-----------|-------|-------|-------|---|
| म | सि० ब० स० | प० अ० | प० अ० | प० अ० | अत्र सर्वस्वोक्तो मोहस्य स्थितिवन्धः । ततो नाम- गोत्रयोरेकसंख्येयगुणः । ततो ज्ञानावरणादीना- मसंख्येयगुणः । |
| प | सि० ब० स० | प० अ० | प० अ० | प० अ० | अत्र सर्वस्वोक्तं नामगोत्रयोः एकमेव ततो मोह- स्यासंख्येयगुणं ततो ज्ञानावरणादीनां चतु- र्णामसंख्येयगुणम् । इतोऽसंख्येयसमवच्छा- स्थितय एवोदीरणासमागच्छन्ति नाम्नाः । |
| र | सि० ब० स० | अ० अ० | अ० अ० | अ० अ० | अत्र सर्वस्वोक्तं नामगोत्रयोः एकमेव । ततो मोह- वरणादिचतुर्णामसंख्येयगुणम् । ततो मोहस्या- संख्येयगुणम् । अतो मोहनीयस्य वृद्धप- वतेवा प्रवर्तते । |
| क | सि० ब० स० | अ० अ० | अ० अ० | अ० अ० | अत्र सर्वस्वोक्तं नामगोत्रयोः एकमेव ततो ज्ञाना- वरणादिचतुर्णामसंख्येयगुणं ततोऽपि मोहनी- यस्य संख्येयगुणम् । |
| ति | सि० ब० स० | अ० अ० | अ० अ० | अ० अ० | अत्र सर्वस्वोक्तं नामगोत्रयोः एकमेव ततो ज्ञाना- वरणादिचतुर्णामसंख्येयगुणं ततो मोहनीयस्य संख्येयगुणम् । |
| वृ | सि० ब० स० | अ० अ० | अ० अ० | अ० अ० | अत्र सर्वस्वोक्तं नामगोत्रयोः एकमेव ततो ज्ञाना- वरणादिचतुर्णामसंख्येयगुणं ततो मोहनीयस्य संख्येयगुणम् । |
| नि | सि० ब० स० | अ० अ० | अ० अ० | अ० अ० | अत्र सर्वस्वोक्तं नामगोत्रयोः एकमेव ततो ज्ञाना- वरणादिचतुर्णामसंख्येयगुणं ततो मोहनीयस्य संख्येयगुणम् । |
| अ | सि० ब० स० | अ० अ० | अ० अ० | अ० अ० | अत्र सर्वस्वोक्तं नामगोत्रयोः एकमेव ततो ज्ञाना- वरणादिचतुर्णामसंख्येयगुणं ततो मोहनीयस्य संख्येयगुणम् । |

...अथः श्रीश्रीश्रीः एव दे० शा० सं० आ ।

अ

न्त

र

क

र

ण

म्

स्थि० वन्यसहस्राणि (अन्यसहस्रं वा)
नपुंसकोपशमनाद्वा

उपशमनाद्वायाः
१ संज्ञेयभावाः

स्त्रीवेदोपशमनाद्वा (अन्यसहस्रं)

स्थि० वन्यसहस्राणि

नोकायापशमनाद्वायाः
१ संज्ञेयभावाः

६ नो क पा यो-
पुं दे-

अतः अतं गुं हान्या
”

अतः अतं गुं हान्या
”

संज्ञा०

अतः सं० गुं हान्या

अतः अतं गुं हान्या
”

सं० वा०

अतः सं० गुं हान्या स्थि० वन्यः

अतः २१ मोहानामन्तरकरणं प्रारभते।
अनन्तरसमये मोहस्य ७ पदार्थो
युगपत् प्रवर्तन्ते- १ अनुभा० वं०
१ स्थानकः। २ उदीरणा सं० वा-
पिका। ३ स्थि० वं० सं० वा०। ४
गु०-संज्ञ० नां भानुपू० संक्रमः।
५ सं०लोभस्य असंक्रमः। ६ सर्वा-
सामान्युदीरणा बन्धतः ६ आव०
अनन्तरं। ७ मोहान्मस्थि० वन्धः
सं० गुं क्षीनः, शेषाणां असं० गुं
क्षीनः। नपुंसकोपशमना च।

अत्र नपु० उपशान्तः। अतः सर्वास्तु
उदी०तः उदयदलिकमसं०गुणम्।

...अतः स्त्रीवेदोपशमनाप्रारम्भः।

...अतः ससं वे० वा० ज्ञा० ६० नाव्
१ स्थान० अनु० बन्धः।

...अत्र स्त्रीवेद उपशान्तः। अनन्तरस-
मयात् ६ नोका० पुंवे० उपशमना
प्रारम्भः।

| | | | | | | |
|----|---------|--------------------|--------------------|--------------------|--------------------|--|
| अ | सं० वा० | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः ७ कर्मणां सं० वा० स्थि० वं० । |
| नि | सं० वा० | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अत्र पुत्रेदागाळविच्छेदः, पतद्गृहताऽपि । |
| पु | सं० वा० | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अत्र पुत्रेदोदयोदीरणाविच्छेदः । |
| सि | सं० वा० | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अत्र ६ नोकपाया उपशान्ताः । पुं- वेदस्य समयमात्रा दोषास्त्विति । पुं० १६ वर्षः संज्व० स्य च संप्रयेय- वर्षसहस्राणि स्थितिवन्धः । |
| फ | सं० वा० | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अत्र वेदस्यावेदकोऽयन्धकोऽपि । द्वि- समयोनाव० द्विकेन बद्धं दलिकं धर्जेशपं सर्वं पुत्रेददलिकमुपशान्तं । शोध ३ कोपशमनाभारम्भश्च । |
| रि | सं० वा० | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अत्र पुत्रेद उपशान्तः । |
| जा | सं० वा० | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अत्र सं० शोधस्य अपतद्गृहता जाता । |
| प | सं० वा० | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | अतः सं० गु० हान्या | |

[illegible]

किं ङि रे द ना द्वा (तृतीयो भागः)
म ना द्वा (अन्तर्गुणः)
सू द्म सं प रा यः
(१० मगुणस्थानमन्तर्गुणः)

(११ मगुणस्थानं अन्तर्गुणः)
अ न्व र सू (मोहस्य)
(मोहस्य) उ प ना न्ता द्वा

मोहस्य द्वितीया स्थितिः
(अथात्मानो पुनर्मोहोदय उपपन्नमन्तातो
विपर्ययक्रमेण भवति)

१६ सुहृत्वं

(अवस्थाः)

१६ सुहृत्वादिस्थि० वन्धः पुनः प्रवर्तते

अन्तर्गुणः

(अवस्थाः)

अन्तर्गुणादिस्थि० वन्धः पुनः प्रवर्तते

२० सुहृत्वं

अत्राः प्राप्य सामयिकस्थि० वन्धः प्रवर्तते
प्रति समये

२० सुहृत्वादिस्थि० वन्धः पुनः प्रवर्तते

लोभ उपशान्तः । मध्यलोभो सर्वापशान्तो ।
लोभबन्धविच्छेदेन मोहस्याबन्धः । बा०
लोभोदयोदीरणाविच्छेदः । अनिवृत्तिकरणं स-
माप्तं । किट्टीकरणं समाप्तं । अनन्तरसमयास्तु-
हमकिट्टिवेदनमुपशमनं च ।

अत्र बा० लोभस्य चरमावलिकास्तितुकेन संक्रान्ता ।

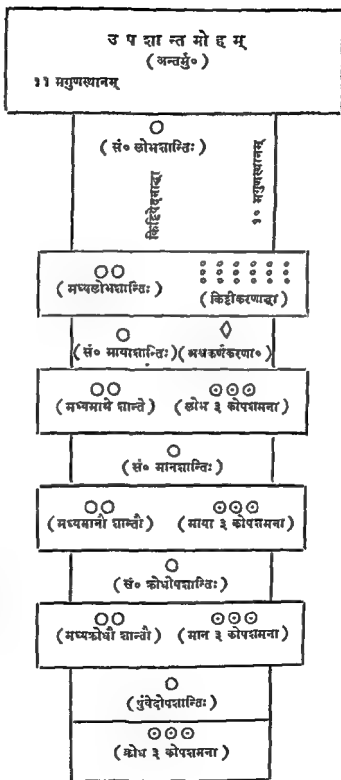
अत्र यदवलिकोपशान्तिः ।

अत्र सू० लोभस्य (किट्टे) उदपविच्छेदः । मोहस्य
सर्वापशमना ।

अत्रोपशान्ताद्धार्या मविष्टो जीव उपशमयथा-
ख्यातचारित्र्यमुपशान्तपीतरागत्य च प्रामोति ।
चारित्र्यमोहनीयं सर्वकरणासाध्यं, दर्शनमोह-
द्विकं च संक्रमापवर्त्तनामात्रसाध्यं सम्यग्बलं
च अपवर्त्तनामात्रसाध्यं भवति । भवक्षयेण
समयाद्यनन्तरमनुचरे गच्छति ।

अत्र उपशान्ताद्धाक्षयेण च यपैवाकुरुत्सपैव प्रति-
पतन् ममत्वं यावत् गच्छति ।

॥ संक्षेपतो मोहोपशमनाक्रमस्य चित्रं ११६ तमपृष्ठादुर्ध्वमुखं वाच्यम् ॥



सि क र म न स्या न म्)

| | |
|--|---------------------------------------|
| ○○○○○○ (नोक० ६ शान्ति) | |
| ○ (स्त्रीशान्तिः) | ○○○○○○○○ (नोक० पुत्रेदोपशमना) |
| ○ (नपु० उपशान्ति) | ○ (स्त्रीवेदोपशमना) |
| ○ (नपु० उपशमना) | |
| ①①①① (हा० १० भ० जु० बन्धविच्छेद) | ①①①①①① (हास्य ६कोदय — विच्छेद) |
| ①①①①①①①①①①①①①①①①①①①①①① (देव २ कादि ३० बन्धविच्छेद) | |
| ①① (निद्रा २ बन्धवि०) | |
| यथाप्र० | |
| वि० | |
| ○○○ (द० ३ शान्ति) | |
| ○○○ (दस० ३ कोपशमना) | |
| अप० क० | |
| यथाप्र० | |
| वि० | |
| ○○○○ (अन० ४ शान्ति) (विसयोविता वा) | |
| ○○○○ (अन० ४ कोपशमना) | |
| अपूर्वक० यथाप्र० वि० | |

कु
दि
अ
(अपूर्वक २ भाग्यं)
भू
न
स्था
गु
स
म
प्र
क

सम्प्रति प्रतिपात उच्यते, सोऽपि द्विधा—भवक्षयेणाद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो द्विय-
माणस्य, अद्धाक्षयश्चोपशान्ताद्धायां परिपूर्णायां । यः पुनः भवक्षयेण प्रतिपतति स आद्यसमय
एव बन्धनादीनि सर्वाणि करणानि प्रवर्त्तयति, अविरतसम्यग्दृष्टित्वभावात् । प्रथमसमये
च यानि कर्माण्युदीर्यन्ते तान्युदयावलिकायां प्रविशन्ति । यानि च नोदीरणायां निविशन्ते
तेषां कर्मणां दलिकान्युदयावलिकाया वहिस्तात् गोपुच्छाकारेण विरचयति । भवक्षयेण
द्वियमाणो नियमेन देवेष्वेव गच्छति । किञ्च सास्वादनेऽपि द्वियमाणो देव एव भवति,
तदुक्तं पञ्चसंग्रहे—“उवसमसम्मत्ताद्धाजन्तो आउक्खया धुवं देवो । जेण तिसु आउगेसुं बडेसु न
सेडिमारुहइ ।” इति । यस्तूपशान्तमोहगुणस्थानाद्धाद्धाक्षयेण प्रतिपतति स येनैव क्रमेण स्थि-
तिघातादीन् कुर्वन्नारूढस्तेनैव क्रमेण पश्चानुपूर्व्या स्थितिघातादीन् कुर्वन् प्रतिपतति, स च
तावत्प्रतिपतति यावत् प्रमत्तगुणस्थानकम् । प्रतिपतन् क्रमेण संज्वलनलोभादीनि कर्माण्यनु-
भवति, तथाहि—प्रथमतः संज्वलनलोभमनुभवति । ततो मायोदयविच्छेदस्थानादारभ्य मा-
यामनुभवति । ततो मानोदयविच्छेदस्थानादारभ्य मानं ततः क्रोधोदयविच्छेदस्थानादारभ्य
क्रोधमनुभवति । अनेन क्रमेण तेषामनुभवनार्थं द्वितीयस्थितेः सकाशादलिकमाकृष्याकृष्य
प्रथमां स्थितिं करोति । तत्रोदयसमये प्रभूतं दलिकं प्रक्षिपति, ततो द्वितीयादिषु समयेषु विशेष-
पहीनं विशेषपहीनं तावद्वाच्यं यावदुदयावलिकाचरमसमयः । उदयावलिकाचरमसमयप्रक्षिप्त-
दलिकेभ्य उदयावलिकाया उपरितनप्रथमसमयेऽसंख्येयगुणं प्रक्षिपति, ततोऽप्युपरितनद्वि-
तीयसमयेऽसंख्येयगुणं प्रक्षिपति । ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणमेवमुदयवतीनां ताव-
द्दक्षव्यं यावद्गुणश्रेणिमस्तकम् । ततः पुनरप्युदयावलिकोक्तक्रमेण विशेषपहीनो विशेषपहीनो
निक्षेपो वक्तव्यः । अनुदयवतीनां तूदयावलिकाया उपर्येव दलिकनिक्षेपः प्रवर्त्तते, सोऽपि
गुणश्रेणिमस्तकं यावत् प्रतिसमयमसंख्येयगुणः ततः परतः पुनर्विशेषपहीनो विशेषपहीनः ।
अत्रत्या स्थापना च ‘ऊ’ एतादृशचिह्नीकृतास्यष्टभागे (११७ तमपृष्ठे)ऽवलोकनीयेति ।

तथाऽन्तरकरणे कृते बध्यमानमोहनीयप्रकृतीनामानुपूर्व्यैव संक्रम उक्तः स इह तु न
भवति, किन्त्वनानुपूर्व्यापि भवति । तथा प्रागन्तरकरणे कृते सति बध्यमानप्रकृतीनां पण्णा-
मावलिकानां मध्य उदीरणा न भवतीत्युक्तमिह तु बन्धावलिकातिक्रमेऽप्युदीरणा भवतीति ।
शेषं तु यत् यत्र स्थाने व्यवच्छिन्नं बन्धसंक्रमणापवर्तनोदीरणादेशोपशमनाऽऽगालनिध-
त्तिनिकाचनादि तत् तत्र स्थाने तथैव भवति । तथा यत् स्थितिघातादिकं यत्र जातं तत्तत्र
स्थाने तद्विधमेव भवति । तथा मोहनीयप्रकृतीनां गुणश्रेणिः कालमधिकृत्य वेद्यमानसंज्व-
लनकालादभ्यधिका प्रतिपतता सता प्रारभ्यते । समारोहकालापेक्षया तु तुल्या । तथा
यस्य कपायस्योदये उपशमश्रेणिप्रतिपत्तिरासीत् तस्योदयप्राप्तस्य सतो गुणश्रेणिः प्रतिप-
तता शेषकर्मसत्कगुणश्रेणिभिः सह तुल्या क्रियते । यथा कश्चित् संज्वलनक्रोधेनोपशम-
श्रेणिं प्रतिपन्नस्ततः श्रेणेः प्रतिपतन्नपि संज्वलनक्रोधोदयवान् भवति, ततः प्रभृति तस्य

शेषकर्मभिः सह तुल्या गुणश्रेणिर्भवति । एवं मानमाययोरपि वाच्यम् । संज्वलनलोभेन पुनरुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य प्रतिपातकाले प्रथमसमयादेवारभ्य संज्वलनलोभस्य शेषकर्म-गुणश्रेणिभिः सह तुल्या प्रवर्तते । तथा क्षपकसारोहतो यस्मिन् स्थाने यावत्प्रमाणः स्थितिबन्धस्तस्मिन्नेव स्थाने उपशमश्रेणिमारोहतो द्विगुणस्थितिबन्धो भवति, क्षपकापेक्ष-योपशमकस्य मन्दपरिणामत्वात् । ततोऽपि तस्मिन्नेव स्थाने उपशमश्रेणितः प्रतिपत्ततो द्वि-गुणो भवति, आरोहणादवतरणपरिणामस्य मन्दत्वात् । क्षपकाच्चतुर्गुणो बन्धो भवती-त्यर्थः । तथा क्षपकस्याशुभप्रकृतीनां यत्र स्थाने यावाननुभागबन्धस्तस्मिन्नेव स्थाने उपशम-श्रेणिमारोहतस्तासांमेवाशुभप्रकृतीनामनन्तगुणो भवति, ततोऽपि तस्मिन्नेव स्थाने तासा-मेव प्रकृतीनामुपशमश्रेणिं प्रतिपत्ततोऽनन्तगुणो भवति । शुभानां पुनरनुभागो विपरीतो-ऽनन्तगुणो वक्ष्यस्तथाहि-उपशमश्रेणीतः प्रतिपत्ततो यस्मिन् स्थाने योऽनुभागः शुभप्र-कृतीनां बन्धमायाति, तदपेक्षया तस्मिन्नेव स्थाने शुभप्रकृतीनामुपशमश्रेणिमारोहतोऽन-न्तगुणानुभागो बन्धमायाति, ततोऽपि तस्मिन्नेव स्थाने क्षपकश्रेणिमारोहतोऽनन्तगुणोऽ-नुभागो बन्धमायाति । शेषमारोहत इव प्रतिपत्ततोऽपि ज्ञेयं यावत् प्रमत्तगुणस्थानम् । प्रमत्ताप्रमत्तयोः प्रभूतानि सहस्राणि यावत् परिवृत्तीः कृत्या देशविरतिमविरतसन्ध्यदृष्टिं वा गच्छेत् । येषां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमना भवति, तेषां मते कश्चित् सास्त्रादन-भावमपि गच्छेत् । तथैकत्र भवे उत्कर्षतो द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते—“एगभवे दु-पलुचो वरितमोहं उवसमेजा” इति पञ्चसंग्रहवचनात् । तस्य चावश्यं तत्र भवे क्षपकश्रेण्य-भावः । यः पुनरेकवारमुपशमश्रेणिं प्रपद्यते स तस्मिन्भवे क्षपकश्रेणिमपि करोति । तदुक्तं चूर्णौ—“जो दुवे वारे उवसमसेहिं पडिबज्जइ तस्स नियमा तस्मि भवे रवगसेदी नत्थि जो इत्थि उवसमसेहिं पडिबज्जइ तस्स रवगसेदी होज्ज वत्ति” इति कर्मग्रन्थिकाभिप्रायः । आगमाभिप्रा-येण त्येकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते—“अन्नयरसेदिवज्जं एगभवेणं च सव्वाहं” । अन्य-प्राप्युक्तम्—“मोहोपशम एकस्मिन् भवे द्विः स्यादसन्तवः । यस्मिन् भवे उपशमः क्षयो मोहस्य तत्र न ॥ १ ॥” इति । एवं पुरुषवेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्य विधिरुक्तः । स्त्रीवेदेन श्रेणिं प्रतिपन्ना सती प्रथमतो नपुंसकवेदमुपशमयति, ततः स्त्रीवेदं तच्च तावदुपशमयति यावत्स्योदयस्य द्विचरमसमयः, तस्मिंश्च समये एकां चरमसमयमात्रमुदयस्थितिं च वर्जयित्वा शेषं सकल-मपि स्त्रीवेदसत्कं दलिकमुपशमितं ततश्चरमसमये गते सति अवेदका सती सप्तनोकपायान् युगपदुपशमयितुमारभते । शेषं पुरुषवेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्येव सर्वं द्रष्टव्यम् । नपुंसकवेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्तु स्त्रीवेदेन पुरुषवेदेन वा श्रेणिं प्रतिपद्यमानो यस्मिन् स्थाने नपुंसकवेदमुप-शमयति, तदूर्ध्वं यावत्क्षेवलं नपुंसकवेदमेवोपशमयति, तत ऊर्ध्वं तु युगपत् वर्षवरं स्त्रीवेदं च तावदुपशमयति यावत् नपुंसकवेदोपशमनाद्वा द्विचरमसमयस्तास्मिंश्च समये स्त्रीवेदं शान्तः । नपुंसकवेदस्य समयमात्रोदयस्थितिर्वर्तते, शेषं सर्वमप्युपशान्तं तस्यामप्युदयस्थितिर्वर्तते ।

तावतीतायामवेदको भूत्वा पुरुषवेदादिकाः सप्तप्रकृतीः युगपदुपशमयितुमारभते । शेषं पुरुषवेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नवद्द्रष्टव्यमिति पञ्चसङ्ग्रहकर्मप्रकृतिवृत्तितः । नव्यशतकवृत्तौ तु—
“अथ स्त्रीवेदप्रारम्भिका ततः प्रथम नपुसकवेद ततः पुरुषवेद ततः पट्ट ततः स्त्रीवेदमिति । अथ नपुसक एव प्रारम्भकस्ततोऽसावुदीर्णमपि प्रथम स्त्रीवेदमुपशमयति ततः पुरुषवेद ततः पट्ट ततो नपुसकवेदमिति” इत्युक्तोपशमश्रेणिरिति ॥

॥ भिन्नकपायोदयेन श्रेणौ विशेषः ॥

| सञ्ज्यंक्रोधोदयेन | सञ्ज्यंमानोदयेन | संमायोदयेन | संलोभोदयेन |
|--|-----------------------------|------------------------------------|-----------------------------------|
| प्रथम संक्रोध वेद्यमान क्रोधत्रिक (नपु० वद्) | संमान वेद्यमान क्रोधत्रिकम् | संमाया वेद्यमान प्रथम क्रोधत्रिकम् | संलोभ वेद्यमान प्रथम क्रोधत्रिकम् |
| ततो मानत्रिक (क्रोधवत्) | ततो मानत्रिकम् | ततो मानत्रिकम् | ततो मानत्रिकम् |
| ततो मायात्रिकम् | ततो मायात्रिकम् | ततो मायात्रिकम् | ततो मायात्रिकम् |
| ततो लोभत्रिकमुपशमयति | ततो लोभत्रिकमुपशमयति | ततो लोभत्रिकम् | ततो लोभत्रिकम् |

॥ भिन्नवेदेन श्रेणौ विशेषः ॥

यदि स्त्री प्रारम्भिका

प्रथम नपु० वेद शमयति
तत स्त्रीवेद शमयति
तत समयानन्तर पुवेदहास्य
६ कम्
शेषविधि पुवेदवद् ।

यदि नपुसक. प्रारम्भक

प्रथम नपु० वेदोपशमनाप्रारम्भ
तत नपु० स्त्रीवेदो युगपदुपशमयति
तत स्त्रीवेदोपशान्ति, नपुस १ स्थि०
अवशिष्टा
तत समयानन्तर नपु० वेदोपशान्ति
तत समयानन्तर पुहास्य ६ कोपश
मना प्रारम्भ
शेषविधि पुवेदवद् ।

यदा पुरुष प्रारम्भक

प्रथम नपु० वेद शमयति
ततोऽन्तर्मुहूर्तानन्तर स्त्रीवेद शमयति
तत समयानन्तर पुवेदहास्य ६ कोप
शमना प्रारम्भ
ततो हास्य ६ कोपशान्ति पु० १
स्थितिरवशिष्टा
तत पुवेदोपशान्ति
तत उदयावधिका समयोनावधिका
द्विकवद् च मुक्त्वा सर्वपुवेदशान्ति ।

अत्र यस्या प्रकृतेरुपशमो नोक्तस्तस्या तत्स्थान एवान्तर्मुहूर्तेनोपशमो भवतीति श्रेयम् ॥

अथ क्षपकश्रेणिरुच्यते—यो वर्षाष्टकादुपरि वर्चमानो मनुष्यो वज्रपंभनाराचसहननी शुभध्यानोऽविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसयतानामन्यतमः—यदि अप्रमत्तसयतः पूर्ववित्त तदा शुक्लध्यानोपगतः शेषस्तु सर्वोऽपि धर्मध्यानोपगतः—तत्र क्षपकश्रेणिमारोहन् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनः क्षपयति । सा च क्षपणा प्रागुक्तत्वेन न पुनरुच्यते । अनन्तानुबन्धिचतुष्कं क्षपयित्वा दर्शनत्रिकं युगपत् क्षपयितुमारभमाणः प्राग्वत् पुनरपि यथाप्रवृत्त्यादीनि त्रीणि करणानि करोति । करणानि च प्रागिव वक्तव्यानि, नयरमपूर्वकरणप्रथम-समयादारभ्य चरमसमयपर्यन्तमनुदितयोर्मिथ्यात्वमिश्रयोर्दलिकं गुणसकमेण सम्यक्त्वे

प्रक्षिपति । तत्रोद्धटनासंक्रममपि तथोरेवारभते-प्रथमं स्थितिसृष्टं बृहत्तरमुद्धलयति, ततो द्वितीयं विशेषहीनं ततोऽपि तृतीयं विशेषहीनमेवं तावद्वाच्यं यावदपूर्वकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणप्रथमसमये यत्स्थितिसत्कर्मासीत् तत्तस्यैवापूर्वकरणचरमसमये संख्येयगुणहीनं जातम् । अपूर्वस्थितिवन्धोऽपि अपूर्वकरणप्रथमसमये यावान् स्थितिवन्ध आसीत् तदपेक्षयाऽपूर्वकरणचरमसमये संख्येयगुणहीनो भवति । ततोऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति । तत्र च प्रविष्टः सन् प्रथमसमयादारभ्यापूर्वा गुणश्रेणिमपूर्वाभिनवस्थितिवन्धमपूर्वस्थितिघातमपूर्वसंघातं कर्तुमारभते । अनिवृत्तिकरणाद्धायाः प्रथमसमय एव च दर्शनत्रिकल्प देशोप-

मिश्रसत्त्वानि सम्यक्त्वे प्रक्षिपति, सम्यक्त्वसत्त्वानि त्वधस्तात् स्वस्थान इति । ततः सम्यक्त्वमिश्रयोरेकमसंख्येयभागं मुक्त्वा शेषानसंख्येयभागान् विनाशयति । ततो यदेकमसंख्येयभागं तस्याप्यसंख्येयान् भागान् कृत्वा एकं च भागं मुक्त्वा शेषान् विनाशयति । एवं कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु मिश्रमोहनीयमावलिकामात्रमवतिष्ठते, तदा सम्यक्त्वसत्कर्माष्टवर्षप्रमाणं भवति । तदानीं च सकलविघ्नविलयात् निश्चयनयमतेन दर्शनमोहनीयक्षपक उच्यते । तत ऊर्ध्वं सम्यक्त्वस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं स्थितिखण्डं घातयति, तदलिकं चोदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति । तच्चैवम्—उदयसमये स्तोकं ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणमेवं तावद्वाच्यं यावद्गुणश्रेणि-शिरस्तत ऊर्ध्वं विशेषहीनं विशेषहीनं तावद्वाच्यं यावच्चरमा स्थितिः । ततो द्वितीयं स्थिति-खण्डं प्रथमस्थितिखण्डादसंख्येयगुणमन्तर्मुहूर्त्तं कालेन खण्डयति, दलिकनिक्षेपप्रकारस्तु पूर्वाक्तप्रकारेणोदयसमयादारभ्य निक्षिपति । एवं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादसंख्येयगुणान्यान्तर्मुहूर्त्तकान्यनेकानि स्थितिखण्डानि द्विचरमस्थितिखण्डं यावत् खण्डयति, पूर्वोक्तप्रकारेण दलिकनिक्षेपं च करोति । चरमं च स्थितिखण्डं द्विचरमात् स्थितिखण्डात् संख्येयगुणं । तस्मिंश्च खण्ड्यमाने तेनैव सह गुणश्रेण्या अपि संख्येयभागं खण्डयति । अन्याश्च तदुपरितनीः संख्येयगुणाः स्थितीश्चरमखण्डस्य तावन्मानत्वादेव उत्कीर्य च तदलिकमुदयसमयादारभ्यासंख्येयगुणनया श्रेण्या निक्षिपति, तद्यथा—उदयसमये स्तोकं निक्षिपति, ततो द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणमेवं तावद्वाच्यं यावद्गुणश्रेणी-शिरः । अत ऊर्ध्वमुत्कीर्यमाणमेव दलिकं प्राप्यते, न तत्प्रक्षेपाधारभूतमिति न तत् कापि प्रक्षिप्यते । चरमे च स्थितिखण्डे उत्कीर्णं सत्यसौ क्षपकः कृतकरण इत्युच्यते, तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—“सम्मतदुचरिमखंडगतो चरिमखंडगं सखेज्जगुणं, चरिमखंडग आगा(घा)तिज्ज-मार्गं गुणसेदीए सखेज्जविभागो, अथ य उवरि सखेज्जगुणाओ ठितीसो आगा(घा)तिज्जंति । सम्मत्तस चरिमे ठितिखंडगे पढमसमये आगा(घा)तिएवट्टिज्जमाणासु ठितीसु जं पदेसगं उदये दिज्जंति वं थोवं, से काले असखेज्जगुणं असखेज्जगुणं जाव ठितीखंडगस पढम (चरम) समयं पत्तोति । सा चेव ठिती गुणसेदीसीसगं जातं । ठावणाए समए समए उक्किरिज्जमाणं दलियं चरिमसमते उक्कड्ढमाणो उदए पणसगं थोवं देति से काले असखेज्जगुणं जाव गुणसेदीसीसगं । चरिमठितिखंडगे निठिए कयकज्जोत्ति भण्णति, कयकरणाद्धा य पच्छिमे होति” इति । कृतकरणाद्धायां वर्तमानः कश्चित्कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यामुत्पद्यते । पूर्वं शुक्लेदयायामासीत् सम्प्रति त्वन्यतमस्यां भवति । ततः क्षीणसम्यक्त्वशेषः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भवति ।

॥ दर्शनमोहक्षपणानुक्रमः ॥

प्रस्थापकः

निष्ठापकाः

सर्वज्ञकालसंभवी संज्ञिपयांसनरो जघन्यतः ६ वार्षिकः
उत्कृष्टतः पूर्वकोऽप्यायुः प्रथमसंहननी ।

देवा नारका युगलिकृतिचंभो युगलिकृतराशेयं धानुर्ग-
तिकाः ।

—०

—० स्थितिपातसहस्राणि सूचनार्थं देधाः, बिन्दवस्तु

—० तदावारककर्मोदयसूचका इति संकेतार्थः ।

—०

क्रियाक्रमः

| | |
|---------------------------------|--|
| वि यु वि (भक्तुं०) | अत्र प्रथमसमयादन्वस्थितिवन्धः । |
| य था प्र वृ त्त म् (भक्तुं०) | अत्रापि प्रथमसमयादन्वस्थितिवन्धः । |
| अ मृ धे क ट ण म् (भक्तुं०) | अत्र प्रथमसमयादेव स्थितिपातः—रसपातः—गुणधेनिः—उद्बलानुवि- द्धगुणसंक्रमः—अन्वस्थितिवन्धश्च युगपत् प्रवर्तन्ते । |
| | अत्र चरमसमयेप्रथमसमयापेक्षया संयवेयगुणहीनसत्ता बन्धश्चजायतः । |
| | अत्र प्रथमसमयतः पूर्ववत्, पश्चापि पदार्थो युगपत् प्रवर्तन्ते । |
| अ | |
| अ | |
| अ | अत्र दर्शनत्रिकस्य स्थितिसत्ता अर्धज्ञिपयेन्द्रियगुण्या । |
| अ | |
| अ | अत्र चतुरिन्द्रियगुण्या । |
| अ | |
| अ | अत्र प्रीतिन्द्रियगुण्या । |

दशप्रकृतीनामन्तरकरणं करोति । अन्तरकरणादुपरितनस्थितिगतं नपुंसकवेदस्य दलिकमुद्ध-
लनविधिना तथोद्धलयति यथाऽन्तर्मुहूर्त्तेन पत्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिकं जायते । ततः
प्रभृति तद्दलिकं गुणसंक्रमेण वक्ष्यमानासु प्रकृतिषु प्रक्षिप्य प्रक्षिप्यान्तर्मुहूर्त्तेन समस्तं क्षप-
यति । अधस्तनस्थितिगतं तु दलिकं यदि नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढस्तदा तदनुभवतः
क्षपयति । अन्यथा त्वावलिकामात्रं तत्स्यात् । तच्च वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण
संक्रमति । तदेवं क्षीणो नपुंसकवेदः । एवं नपुंसकवेदोक्तप्रकारेणान्तर्मुहूर्त्तमात्रेण कालेन
स्त्रीवेदं क्षपयित्वा हास्यादिपङ्के युगपच्छन्तुमारभते, केवलमुपरितनस्थितिगतं दलिकं पुंवेदे
न संक्रमयति, किन्तु संज्वलनक्रोधे । तदुक्तं सप्ततिकायाम्—“तो नोकसायङ्कं ह्रुर्भई सजलनको
इन्मि” इति । एवं चान्तर्मुहूर्त्तेन हास्यादिपङ्क्त्योपरितनस्थितिगतं दलिकं निःशेषतः परि-
क्षीणं तत्समय एव च पुरुषवेदस्य बन्धोदयोदीरणव्यवच्छेदश्च भवति । समयोनावलिका-
द्विकषणं मुक्त्वा शेषं सर्वं क्षीणमिदं पुरुषवेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्य वाच्यम् । यस्तु नपुंसक-
वेदेन श्रेणिं प्रतिपद्यते स पूर्वं स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ युगपच्छन्ति, तत्क्षयसमकालमेव पुरुषवे-
दस्य बन्धव्यवच्छेदः । तदनन्तरं चावेदकः सन् पुरुषवेदहास्यादिपङ्के युगपच्छन्ति । यश्च
स्त्रीवेदेन श्रेणिं प्रतिपद्यते स पूर्वं नपुंसकवेदं ततः स्त्रीवेदं क्षपयति । स्त्रीवेदक्षयसमय एव
च पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदः । ततोऽवेदकः पुंवेदहास्यादिपङ्के युगपत् क्षपयति । अथ पुंवेदेन
श्रेणिमारूढमाश्रित्य प्रकृतमुच्यते—अवेदकः सन् संज्वलनक्रोधं वेदयते । तद्वेदनाद्धायाश्च भा-
गत्रयं भवेत्—अश्वकर्णकरणाद्धा किट्टीकरणाद्धा किट्टिवेदनाद्धा च । तत्राश्वकर्णकरणाद्धायां
वर्तमानश्चतुर्णां संज्वलनानामन्तरकरणोपरितनस्थितावपूर्वस्पर्शकानि कुरुते । पुंवेदमपि सम-
योनावलिकाद्विकेन कालेन क्रोधे गुणसंक्रमेण संक्रमयन् चरमसमये सर्वसंक्रमेण संक्रम-
यतीति क्षपितः पुरुषवेदः । अथाश्वकर्णाद्धायां पूर्णायां किट्टीकरणाद्धायां प्रविश्य संज्वलन-
चतुष्कस्योपरितनस्थितिगतदलिकस्य किट्टीः करोति । ताश्च परमार्धतोऽनन्ता अपि स्थूरजा-
तिभेदापेक्षया द्वादश कल्प्यन्ते । एकैकस्य कपायस्य तिस्रस्तिष्ठः, तद्यथा—प्रथमा द्वितीया
तृतीया चेति । क्रोधेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्येदं द्रष्टव्यम् । मानेन प्रतिपन्नस्तुद्धलनविधिना
क्रोधे क्षपिते शेषसंज्वलनत्रिकस्य नव किट्टीः करोति । मायया प्रतिपन्नस्तु मानमपि प्रा-
क्तोद्धलनविधिना क्षपयति । शेषद्विकस्य पञ्च किट्टीः करोति । लोभेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्तु
मायामप्युद्धलनविधिना क्षपयति, लोभस्य किट्टित्रिकं करोति । एष किट्टीकरणविधिः ।
तदेवं किट्टीकरणाद्धायां निष्ठितायां किट्टिवेदनाद्धायां प्रविष्टः सन् यः क्रोधेन श्रेणिं
प्रतिपन्नः स क्रोधस्योपरितनस्थितिगतमाद्यकिट्टिदलिकं समाकृष्यान्तरकरणाधस्तनस्थितिं
करोति । अत्राधस्तनस्थितिः प्रथमस्थितिरिति चैकार्थं । एवमुपरितनस्थितिर्द्वितीया
स्थितिरिति । तां च तावत् वेदयति यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । तदनन्तरसमये
द्वितीयकिट्टिगतं दलिकं समाकृष्य प्रथमां स्थितिं कुरुते वेदयति च तावद्यावत्समया-
धिकावलिकाशेषः । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिगतं दलिकमाकृष्य प्रथमां स्थितिं

करोति वेदयति च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । तिसृष्वपि चेत्तासु किट्टिवेद-
नाद्धासूपरितनस्थितिगतं दलिकं प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्धिलक्षणेन गुणसंक्रमेणापि संज्व-
लनमाने प्रक्षिपति । तिसृष्वपि किट्टिवेदनाद्धासु संज्वलनक्रोधस्य वध्यमानत्वेऽपि तदलिकं
वध्यमानसंज्वलनमाने गुणसंक्रमेण प्रक्षेपणं पूर्वमहर्षिभिरुक्तमतोऽस्माभिरप्युक्तम् । एवम-
ग्रेऽपीति । तृतीयकिट्टिवेदनाद्धाचरमसमये संज्वलनक्रोधस्य बन्धोदयोदीरणानां समकं
व्यवच्छेदः । सत्कर्मापि च समयोनावलिकाद्विकवद्धं भुक्त्वा शेषं सर्वं क्षीणं संज्वलनमाने
प्रक्षिप्तत्वात् । ततोऽनन्तरसमये संज्वलनमानस्य प्रथमकिट्टिगतं दलिकं समाकृष्य प्रथमां
स्थितिं कुरुते वेदयति च तावद्यावदन्तर्मुहूर्त्तं, संज्वलनक्रोधस्य च बन्धादिव्यवच्छेदान-
न्तरं समयोनावलिकाद्विकवद्धं शेषं गुणसंक्रमेण तावता कालेन संज्वलनमाने संक्रमयन्
चरमसमये सर्वं संक्रमयति । संज्वलनमानस्यापि प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितिकृतं वेद्यमानं
समयाधिकावलिकाशेषं जातम् । ततोऽनन्तरसमये द्वितीयकिट्टिगतं दलिकमाकृष्य प्रथमां
स्थितिं करोति, तावच्च वेदयति यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये
तृतीयकिट्टिगतं दलिकमाकृष्य प्रथमां स्थितिं करोति वेदयति च तावद्यावत्समयाधिकाव-
लिकामात्रं शेषः । तस्मिंश्च समये संज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणान्यवच्छेदः । सत्कर्मापि
च समयोनावलिकाद्विकवद्धमेव, शेषस्य मायायां प्रक्षिप्तत्वात् । ततो मायायाः प्रथमकि-
ट्टिगतं दलिकमाकृष्याधस्तनीं स्थितिं करोति तावच्च वेदयति यावदन्तर्मुहूर्त्तं, मानस्यापि
बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य दलिकं समयोनावलिकाद्विकवद्धं गुणसंक्रमेण समयोनाव-
लिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमायायां प्रक्षिपति । मायाया अपि प्रथमस्थितिकृतमाद्यकिट्टि-
गतं दलिकं वेद्यमानं समयाधिकावलिकामात्रं जातम् । ततोऽनन्तरसमये द्वितीयकिट्टिगतं
दलिकमाकृष्य प्रथमां स्थितिं करोति, वेदयति च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः ।
ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिगतं दलिकमाकृष्य प्रथमां स्थितिं करोति, वेदयति च ताव-
द्यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । तस्मिंश्च समये संज्वलनमायाया बन्धोदयोदीरणानां
गुणपक्षयवच्छेदः । सत्कर्माऽपि च समयोनावलिकाद्विकवद्धमेव, शेषस्य गुणसंक्रमेण लोभे
प्रक्षिप्तत्वात् । ततोऽनन्तरसमये लोभस्य प्रथमकिट्टिगतं दलिकमाकृष्याधस्तनीं स्थितिं
करोति, वेदयति च तावद्यावदन्तर्मुहूर्त्तः । संज्वलनमायाया बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तदलिकं
समयोनावलिकाद्विकेन कालेन गुणसंक्रमेण सर्वं लोभे संक्रमयति । संज्वलनलोभस्य प्रथ-
मकिट्टिगतं प्रथमस्थितिकृतं समयाधिकावलिकामात्रं जातम् । ततोऽनन्तरसमये लोभस्य
द्वितीयकिट्टिगतं दलिकमाकृष्य प्रथमां स्थितिं करोति वेदयते च । तां च वेदयन् तृतीय-
किट्टिगतं दलिकं गृहीत्वा सूक्ष्मकिट्टीः करोति तावद्यावत् द्वितीयकिट्टिदलिकस्य वेद्यमानस्य
समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । तस्मिन्नेव समये संज्वलनलोभस्य बन्धव्यवच्छेदो वादर-
लोभोदयोदीरणान्यवच्छेदश्च । नवमगुणस्थानं च परिसमाप्तम् । ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्म-
किट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमां स्थितिं करोति वेदयते च, तदानीमसौ सूक्ष्म-

सम्पराय उच्यते । प्रागुक्ताश्चावलिकास्तृतीयस्थितिगताः शोपीभूताः सर्वा अपि वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति । प्रथमकिट्टिगताश्चावलिका द्वितीयकिट्टिगतास्तृतीया वेद्यन्ते, द्वितीयकिट्टिगताश्चावलिकास्तृतीयकिट्टिगतास्तृतीया वेद्यन्ते । सूक्ष्मसम्पराय-
गुणस्थाने वर्तमानो लोभस्य सूक्ष्मकिट्टिवेद्यमानः सूक्ष्मकिट्टिदलिकं समयोनावलिकाद्विक-
बद्धं च प्रतिसमयं स्थितिघातादिमिस्तावत्सुपयति यावत्सूक्ष्मसम्परायाद्धायाः संख्येय-
भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते ततस्त्वस्मिंश्च संख्येयभागे संज्वलनलोभं सर्वापवर्तनया-
ऽपवर्त्य सूक्ष्मसम्परायाद्धासमं करोति । सूक्ष्मसम्परायाद्धा चाद्याप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा विद्यते ।
ततः प्रभृति मोहस्य स्थितिघातादयो निवृत्ताः, शेषकर्मणां प्रवर्तन्त एव । लोभस्याप-
वर्तितां स्थितिमुदयोदीरणाभ्यां तावत् वेद्यते यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽ-
नन्तरसमये दीरणा स्थिता, शोपीभूतं चावलिकागतं दलिकं केवलनोदयेनैव वेद्यते ।
सूक्ष्मसम्परायचरमसमये च ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकयशःकीर्त्युच्चै-
र्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणां षोडशप्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदः मोहनीयस्योदयसत्ताप्यवच्छे-
दश्च भवति । ततोऽनन्तरसमये क्षीणकपायो भवति । तत्रापि शेषकर्मणां स्थितिघातादयः
प्राग्वत्तावत्प्रवर्तन्ते यावत् क्षीणकपायाद्धायाः संख्येया भागा गता भवन्ति, एकाः संख्ये-
यभागाऽवशिष्यते । तस्मिंश्च संख्येयभागे वर्तमानो ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणपट्टान्तराय-
पञ्चकरूपाणां षोडशप्रकृतीनां स्थितिसत्कर्म सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य क्षीणकपायाद्धासमं
करोति, केवलं निद्राद्विकस्य स्वरूपापेक्षया समयन्यूनं सामान्यकर्मसत्तापेक्षया तु तुल्यम् ।
ततो द्विचरमसमये निद्राद्विकस्य स्वरूपसत्तापेक्षया क्षयश्चतुर्दशप्रकृतीनां च चरमसमये
क्षयः । ततोऽनन्तरसमये व्यवहारनयापेक्षया केवली भवति, निश्चयनयापेक्षया च
क्षीणकपायचरमसमये केवली भवतीति कर्मप्रकृतिपञ्चसंप्रवृत्त्याद्यनुसारेण लिखितम् ।
आयश्यकचूर्णी तु—‘अह अवद्यावगो वाहे तह पवसो चेव अवसेसाइं खवेति । उत्थ वहेव संज-
लणवजे अहवि कसाप एगडे चेव खवेति । जाहे तेसिं अहण्डं कसायाणं संखेवत्तिभागं खवेमाणो गवो
भवति वाहे नामस कम्मस इमाणो तेरस पयडीओ खवेइ, संजहा—विरयगइनामं तिरियगइनामं
परिंदियजातिनामं वेइंदिय० वेइंदिय० चरिंदियजातिनामं निरयाणुपुपीनामं तिरिक्खजोणियाणुपु-
पीनामं अपसत्थविहायगतिनामं थावरनामं सुहुमनामं साहारणनामं अपज्वत्तं, वहा वरिणणावणी-
यस इमाणो विभि पयडीओ, संजहा—निहानिहा पवलापयला धीणगिद्धी य । वासिं अहण्डं जं सेसं
सं पि । एत्थ ‘गाया—गतिआणुपुपी दो दो जातिनामं च जाव चरिंदी । अपसत्था विहागती थावर-
णामं च सुहुमं च ॥ १ ॥ ४३ ॥ साहारणमपज्वत्तं निहानिइं च पयलपयलं च । धीणं खवेति वाहे
अवसेसं जं च अहण्डं ॥ २ ॥ ४४ ॥’ वाहे णुंसगवेदं, वाहे इत्थिवेदं, वाहे छं हारतिअरति
भयसोगुगंछाओ, वाहे पुंवेदं विभि भागे करेति, दो जुगवं, एणं संजलणकोदे पुभति,
वाहे संजलणकोदे विभि भागे करेति, दो भागे जुगवं खवेति, एणं भागं संजलणे भागे पुभइ,
वाहे वं पि विभि भागे करेति, दो भागे जुगवं खवेति, एणं संजलणमायाए पुइइ, वाहे वं पि

तिन्नि खंडाई करेति, दो भागे जुगवं खवेति, एगं संजलणे लोभे छुहति, ताहे तं पि तिन्नि भागे करेति, दो भागे जुगवं खवेति, एगं भागं संखेज्जाई खंडाई करेति, एत्थ धादरसम्पराओ । ताहे (एगं संखिज्जइमं भागं मोत्तून सबं) खवेति, जं संखेज्जतिमं खंडं तं असंखेजे भागे करेति, ते वि कमेण खवेति, तत्थ खवओ सुहुमसंपराओ । जाहे वं पि खवितं भवति ताहे खवगणियण्ठो लम्भति । एत्थंतरा विसमति अणाभोगणिवत्तिणं करणोवाएणं, जहा कोइ महासमुदं तरिऊण जाहे अणेण धाहो लढो भवति ताहे सुहुत्तं अच्छिऊण सेसं तरति, एवं सो अणेगभवसंचितं कम्मं खविऊण ताहे सुहुत्तमंदरं आसत्थो, एत्थंतरा जाव अच्छति ताव नियंठो लम्भति । जाव दोहिं समएहि सेसेहिं केवलणाणमुप्पज्जति ति, ताहे जो एगो समतो तत्थ निहं पयलं च खवेति, जो चरिमसमतो तत्थ पंचविहं गाणावरणिजं चउविहं दंसणावरणिजं, पंचविहं अंतराइयं, एयाओ चोइस प कम्मपयडीओ जुगवं खवेत्ता अणंतं केवलणाणदंसणं उप्पादेति । अन्ने अणंति, जत्थ निहं पयलं च खवेति, तत्थ नामस्स इमाओ पगडीओ खवेति, तं जहा-देवगति, देवाणुपुब्बी, विउन्विदुगं, पढमवज्जाई पंच संघयणाई, अन्नतरवज्जाई पंच सठाणाई, आहारणं, तिथ्यगरनामं जदि अतिथ्यगरो; एत्थ गाहा-“वीसमिऊण ० ॥ २-४५ ॥” “चरिमे णाण ० ॥ २-४६ ॥” (सुत्रितावश्यके-“वीसमि ० ॥ १२४ ॥” ‘देवगति ० ॥ १२५ ॥’ ‘चरिमे ० ॥ १२६ ॥’) इति, एतास्तिस्सोऽपि गाथा निर्युक्किंकारकृता इति हरिभद्रसूरिपादाः । अत्रार्थे मलयगिरिपादाः-“वीसमिऊण नियंठो दोहि उ समएहिं केवले सेसे । पढमं निहं पयलं नामस्स इमाउ पयडीओ ॥ १ ॥ देवगइआणुपुब्बी वेउन्विदुगं पढमवज्जाई । अन्नतरं सठाणं तिथ्यगराहारनामं च ॥ २ ॥ चरमे नाणावरणं पंचविहं दंसणं चउविगणं । पंचविहमंतरायं खवइत्ता केवली होइ ॥ ३ ॥” एतच्च मतमसमीचीनं चूर्णिकृतो भाष्यकृतः सर्वेषां च कर्मप्रत्यकाराणामसम्मतत्वात्, केवलं वृत्तिकृता केनाप्यभिप्रायेण लिखितमिति । सूत्रेऽप्येता गाथा प्रवाहपतिताः, निर्युक्किंकारकृतास्त्वेता न भवन्ति, चूर्णौ भाष्ये चासंमहादिति । प्रस्तुते पुनः बृहत्कल्पवृत्तावपि-“अथ द्वायुक्कः पुनरनुपरत एव समस्तां श्रेणिं समापयति । स च स्वल्पसम्यग्दर्शनावशेष एवाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकपायाष्टकं क्षपयितुं युगपदारभते । एतेषां च संख्येयतमं भागं क्षपयशेताः षोडशप्रकृतीः क्षपयति, तद्यथा-दैरयिकगतिनाम, तिर्यगगतिनाम, एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, नरकानुपूर्वीनाम, तिर्यगानुपूर्वीनाम, अप्र-क्षयविहायोगतिनाम, स्वावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम, निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्या-नगृद्धिमिति । ततोऽष्टानां कपायाणामवशेषं क्षपयति, ततो नपुंसकवेदं, ततः स्त्रीवेदं, ततो ह्यस्यादिपदं, ततः पुरुषवेदं त्रिधा कृत्वा खण्डद्वयं युगपत् क्षपयति, वृत्तीयं तु खण्डं संज्वलनक्रोचे क्षपयति । पुरुषे प्रतिपत्तयं क्रमः । XXXX छत्रस्थवीतरागलसम्बन्धिनि सम्यग्द्वयेऽवशिष्यमाणे प्रथमे समये निद्रां, प्रचलां, देवगतिं, देवानुपूर्वीं, धैक्रियदारीरनामकर्म, वज्रपर्वभनाराचसंहननं मुक्ता श्रेणिं संहननानि, पण्णां संस्थानानां मध्ये यस्मिन् व्यवस्थितस्तदेकं मुक्ता श्रेणिं संस्थानानि, आहारकशरीरनाम, यय-तीर्थकरः प्रतिपत्ता ततस्तीर्थकरनाम कर्मापीत्येवं ऋषदशप्रकृतीः क्षपयति । ततो द्वितीयसमये पञ्चप्र-कारं ज्ञानावरणं, चतुर्विधं दर्शनावरणं, पञ्चविधमन्तरायं क्षपयित्वा केवलमिमलश्रियमवाप्नोति” इति ।

योगो वीर्यं शक्तिरुत्साहः पराक्रमश्चेष्टा सामर्थ्यमिति पर्यायाः । स च मनोवाक्कायलक्षणकरणभेदात् तिष्ठः संज्ञा लभते, मनोयोगो, वाग्योगः, काययोगश्च, तदुक्तं कर्मप्रकृतौ—“परिणामालंबणगहनसाहणं तेषां लब्धनामतिगं । कञ्जन्मासन्नोन्नप्वेसविसमीक्यपरसं ॥१॥” इति । तत्र भगवतो मनोयोगो मनःपर्यवज्ञानिभिरनुत्तरादिभिर्वा मनसा गृह्यस्य सतो मनसैव देशनात्, ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्यवज्ञानेनावधिज्ञानेन वा पश्यन्ति, दृष्ट्वा च ते विवक्षिताकारमन्यथानुपपत्त्या लोकस्वरूपादिवाह्यार्थमवगच्छन्ति । वाग्योगो धर्मदेशनादौ । काययोगो निमेषोन्मेषचङ्क्रमणादौ । अनेन योगत्रिकेण सह वर्तत इति सयोगी । केवलं-केवलज्ञानं केवलदर्शनं च विद्यते यस्य स केवली, सयोगी चासी केवली च सयोगिकेवली तस्य गुणस्थानं सयोगिकेवलगुणस्थानम् । ते हि भगवन्तो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतश्च देशोनपूर्वकोटीं यावत् विहृत्य सर्वेऽपि समुद्धातादर्वागावर्जिकाकरणमारभन्ते । तत्र आ मर्यादया केवलदृष्ट्या योजनमतिशुभयोगानामित्यायोजिका तस्य करणमायोजिकाकरणम् । केचिदावर्जितकरणमिति वर्णयन्ति, तेषामप्यावर्जितशब्दस्याभिमुखपर्यायवाचित्वात्, आवर्जितोऽभिमुखीकृत इति व्युत्पत्तेः, लोकेऽपि वक्तारो भवन्ति-आवर्जितोऽयं जनो मयेति । तथा च सिद्धतः सिद्धत्वपर्यायपरिणामाभिमुखीकरणं यत्तदावर्जितकरणं, येन करणेन परिणत आत्मा नियमात् सिद्धत्वपर्यायपरिणामाभिमुखो भवतीत्यर्थः, यद्वा तथाभाव्यत्वस्वभावेन सिद्धिगमनं प्रत्यावर्जितस्याभिमुखीकृतस्य करणमुद्धातवावलिकायां कर्मप्रक्षेपणरूपं शुभयोगव्यापारणभावजितकरणम् । आवश्यकचूर्णौ त्ववश्यकरणमित्यभिधीयते, तत्रार्थं शब्दार्थः—“स्वोपात्तमनुष्यायुषोऽन्ते प्रक्षयवशात्—भुक्तस्यान्तर्मुहूर्त्तशेषे सिध्यत्पर्यायाभिमुखा अवश्यकरणं कुर्वन्तीति । कथमिदमवश्यकरणमिति प्रश्ने प्रदर्श्यते, अन्वर्थत्वादवश्यकरणसंज्ञाया भास्करवत्, अवश्यकरणीयत्वादवश्यकरणम् । कथमियमन्वर्थेति दर्श्यते, अर्थमनुगतता या संज्ञा सान्वर्था अर्थमङ्गीकृत्य प्रवर्तत इत्यर्थः । कथम् ? इह यथा भास्करसंज्ञा अन्वर्था । कथमन्वर्था ? भासं करोतीति भास्कर इति यो भासनार्थस्तमङ्गीकृत्य प्रवर्तत इत्यन्वर्था, तथाऽवश्यकरणमिति इयं संज्ञा अन्वर्था । XXX अथवा अवश्यभाव आवश्यकं ‘द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्चेति मनोज्ञादेरधिष्ठितत्वात् घमि सत्तावश्यकसिद्धिः, आवश्यकं करणं आवश्यककरणं । कुतः ? लोके दृष्टत्वात्, महस्य कक्षाघन्धकरणवत् । यथा महो युयुत्सुर्नर्बद्ध्वा साटकं युध्यते, स हि प्रथमेव साटकेन कक्षां धञ्ज्य अतः परं कृतावश्यकक्षायघन्धकरणो योद्धुमारभते, तथाऽन्तर्मुहूर्त्तायुःशेषेण केवलित्वा सिद्धत्वा प्रथमेवेदं करणं अवश्यकर्तव्यमित्यावश्यककरणमिति” । इदं त्वावश्यककरणं सर्वेऽपि भगवन्तः केवलिनस्तीर्यकराश्च सिध्यन्तः नियमात् कुर्वन्ति । समुद्धातं तु केचित् कुर्वन्ति केचिन्नेति, तदुक्तं गुणस्थानक्रमारोहे—“यः पण्मासापिकायुष्को लभते केवलोद्गमम् । करोलसौ समुद्धातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥ १ ॥” गुणस्थानक्रमारोहवृत्तौ त्वेवं दृश्यते—“छन्मासा-ऊसेसे उष्णं जेसि केवलं नाणम् । ते नियमा समुग्धाया सेसा समुग्धायभइयन्वा ॥ १ ॥” इति । आवश्यकचूर्णौ त्वेवम्—“येऽन्तर्मुहूर्त्तामादिकृत्वोत्कर्षेण आ मासेभ्यः पद्भ्यः आयुषोऽवशिष्टेभ्यः

अभ्यन्तर आविर्भूतकेवलज्ञानपर्यायास्ते नियमात् समुद्घातं कुर्वन्ति, ये तु पण्मासेभ्य उपरिष्ठा-
दाविर्भूतकेवलज्ञानाः शेषास्ते समुद्घाताद् बाह्याः, ते समुद्घातं न कुर्वन्तीत्यर्थः, शेषाः समुद्घातं
प्रतिभाज्याः । कस्माद्, यस्मात् पण्मासिकावशिष्टे आयुषि आविर्भूतकेवलज्ञानपर्यायेभ्यः सकाशान्
पङ्क्त्यो मासेभ्यो ये उपरि समयोत्तरवृद्धाऽवशिष्टे आयुषि शेषे आविर्भूतकेवलज्ञानाः केवलिनः
ते (भ्यश्च) शेषाः समुद्घातं प्रति भाज्याः, केचित्समुद्घातं कुर्वन्ति केचिन्नेति । अतः केचित् समुद्घातं
कृत्वा केचिदकृत्यैव समवाप्नुवन्ति सिद्धिं, अथवा येषां बहु संवेद्यमस्ति आयुश्चाल्पमवतिष्ठते ते नियमा-
त्समुद्घातं कुर्वन्ति नेतरे । तथा प्रज्ञापनासूत्रमपि—“सद्ये वि णं भते । केवलीसमुद्घायं गच्छन्ति ?
गोयमा । णो इण्ठे समडे—“जस्साऊण तुह्मात्ति वण्णणेहिं ठित्तिहि य । भवोवग्गहक्कमाई समुण्णायं
से ण गच्छइ ॥ १ ॥ अगंतूणं समुग्घातं अणंता केवली जिणा । जरमरणविप्पनुक्का सिद्धिं वरगई
गया ॥ २ ॥” इति । ननु कुतोऽयं नियमो यद्वेदनीयाद्येवायुषः सकाशादधिकस्थितिकं
भवति, न कदाचिदपि वेदनीयादेरायुरिति चेत् ? उच्यते, तथारूपजीवपरिणामस्वाभा-
व्यात् । इत्थंभूत एव ह्यात्मनः परिणामो येनास्यायुर्वेदनीयादेः समं न्यूनं वा भवति, न
कदाचानाप्यधिकम् । यथायुषोऽधुववन्धित्वं शेषकर्मणां धुववन्धित्वमायुषां स्वभावत्रिभा-
गादिके प्रतिनियतकाले च बन्धः, न चेद्द्वग्वन्धवैचित्र्ये स्वभावमन्तरेण अपरो हेतुः कश्चि-
दस्ति, एवमायुषो वेदनीयादेराधिक्याभावेऽपि स्वभावविशेष एव नियामको द्रष्टव्यः ।

ननु समुद्घातशब्दस्य कोऽर्थः ? इति चेत्, सम्यगपुनर्भावेन उत्प्रावत्येन घातो वेदनी-
यादिकर्मणां नाशो यस्मिन् क्रियाविशेषे स समुद्घात इत्यर्थः । तं च कुर्वन् प्रथमे समये औ-
दारिककाययोगे वर्तमानः केवली, बाह्यतः स्वशरीरप्रमाणमूर्ध्वमधश्च लोकान्तं यावदात्म-
प्रदेशानां दण्डमारचयति, एवं सर्वं समुद्घातस्वरूपमावश्यकचूर्णितो लिख्यते—“तत्र प्रथमे
औदारिकयोगस्था दण्डकं कुर्वन्ति । अथ दण्डक इति कोऽर्थः ? दण्डक इव दण्डकः । क उपमार्थः ?
यथा मूलमध्यामे ऊर्ध्वाधःसमप्रदेशः परिवृत्तपर्यायः स दण्डकः, तथा समुद्घातकरणवशान्निर्गतानामा-
त्मप्रदेशानां दण्डकसंस्थानेनावस्थानादण्डकत्वसिद्धिः । अथ दण्डककरणे को विधिरिति प्रश्ने ब्रूमहे—
द्रष्टव्यायहारिकनयवशात् ये असंख्येया जीवप्रदेशास्ते सर्वेऽपि बुद्ध्या असंख्येया भागा निर्गच्छन्ति,
असंख्येयो भागोऽवतिष्ठते, ततस्तैरेव असंख्येयैर्जीवप्रदेशभागैः स्वशरीरान्निर्गतेहिं दण्डकमभिनिर्वर्त-
यन्तोऽष्टौ जीवमध्यप्रदेशान् सान्त्वतिकपरस्परवियोगिनो रुचकसंस्थितान् चक्री वैदूर्यपटल्योरुभयो
रन्नाद्यवस्थायिषु रुचकसंस्थितलोकमध्यप्रविष्टाष्टाकाशप्रदेशेषु संस्थाप्य चतुर्दशरज्ज्वायतं दण्डकं कुर्वन्तीति ।
ततो द्वितीयसमये कपाटं कुर्वन्ति, तत्समय एव चौदारिकमिश्रकाययोगो भवति । कपाटकमिति
कोऽर्थः ? कपाटकमिव कपाटकं । क उपमार्थः ? यथोभयोः प्राक्प्रत्यग्दिशोस्तिर्यग्निस्तीर्य अपागुद्गि-
दशयोर्द्वैस्मूर्ध्वाधोदिशयोरुच्छ्रितं कपाटमिति शब्दते तथा समुद्घातकरणवशान्निर्गतानामात्मप्रदे-
शानां पूर्वापरद्विगोत्तरासु दिक्षु कपाटस्थानेनावस्थानात् कपाटकत्वसिद्धिः । अथ कपाटकरणे को
विधिरिति प्रश्ने ब्रूमहे—अतः प्रथमसमयनिर्गतात्मप्रदेशसकाशात् योऽसंख्येयो भागोऽवशिष्टोऽवति-
ष्ठत इत्युक्तं स बुद्ध्या पुनरपि असंख्येयान् भागान् गतस्ततो द्वितीयसमये कपाटकारकाणां असं-

ख्येया भागा निष्कामन्ति, असंख्येयभागोऽवतिष्ठतेऽनेकैरसंख्येयैर्भागैरेतैः कपाटकं कुर्वन्ति । तत्र ये निर्गतास्ते प्रथमसमयनिर्गतात्मप्रदेशसकाशात् असंख्येयगुणहीना असंख्येयभागा इत्यर्थः । अथ तृतीयसमये प्रतरं कुर्वन्ति तत्सामयिकञ्च कर्मणकाययोगो भवति । अथ प्रतरमिति कोर्थः ? प्रतरमिव प्रतरं । क उपमानार्थः ? यथा धननिचितनिरन्तरप्रचितावयवसंस्थितापरिवृत्तं स्थालकं फलकं वा लोके प्रतरमित्युच्यते, तथाकारमपरमपि परस्परप्रदेशसंसर्गाविच्छेदपरिवृत्तपर्यायेणावस्थितं प्रतरमिति प्रसिद्धम् । अथ तृतीयसमये प्रतरपूरकाणां को विधिरिति प्रश्ने प्रतिभूतम्—ततो द्वितीयसमये निर्गतात्मप्रदेशसकाशात् योऽसंख्येयो भागोऽवशिष्टोऽवतिष्ठत इत्युक्तमसावपि बुद्ध्या पुनरसंख्येयभागाः कृतस्तत्तृतीयसमये प्रतरकारकाणामसंख्येयभागा निष्कामन्ति, असंख्येयभागोऽवतिष्ठते, तैरसंख्येयैर्भागैर्निर्गतैरेतैः प्रतरं पूरयन्ति, तत्र ये निष्कान्तास्ते द्वितीयसमयनिष्कान्तात्मप्रदेशसकाशावसंख्येयगुणहीनाः । ततश्चतुर्थसमये कर्मणकाययोगस्थान एव आकाशप्रदेशान् निष्कुटसंस्थानसंस्थितान् लोकव्यपदेशभाजोऽपूरितान् पूरयन्तीति लोकपूरकाः । तथा तेषां को विधिरिति प्रश्नेऽभिव्यक्तम्—तत्तत्तृतीयसमयनिर्गतात्मप्रदेशसकाशात् योऽसंख्येयभागोऽवतिष्ठत इत्युक्तमसावपि बुद्ध्या पुनरप्यसंख्येया भागाः क्रियते, ततश्चतुर्थसमये लोकपूरकाणामसंख्येयभागा निष्कामन्ति, असंख्येयभागोऽवतिष्ठते । ततस्तैरसंख्येयभागैर्निष्कान्तैरेतैर्लोकनिष्कुटान् पूरयन्ति, तत्र ये निष्कान्तास्ते तृतीयसमयनिष्कान्तात्मप्रदेशसकाशावसंख्येयगुणहीनाः, यश्चाधुना असंख्येयभागोऽवतिष्ठतेऽसौ स्वशरीरावगाह्यावकाशप्रमाण इति ।

“तस्येदानीं मनुष्यावस्थायां या पत्त्योपमासंख्येयभागमात्रा कर्मत्रयसत्कर्मस्थितिरवतिष्ठते सा बुद्ध्या असंख्येयभागाः क्रियते । ततः प्रथमसमये दण्डककारकसत्कर्मस्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, असंख्येयभागोऽवतिष्ठते । यश्चासुष्यामवस्थायां कर्मत्रयानुभवः स बुद्ध्या अनन्तभागाः क्रियते, ततोऽस्यासद्व्यन्यमोक्षसातिकुञ्जकवामनहुण्डसंस्थानवज्रनाराचार्धनाराचकीलिकासंप्राप्तसृपाटिकासंहननाप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शपघाताप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्रसंज्ञिकानां पञ्च(प्रयो)विंशतेरप्रशस्तानां प्रकीर्तनसमये दण्डककारकानुभवस्यानन्तान् भागान् हन्ति, अनन्तभागोऽवतिष्ठते । तत्सामयिकमेव सद्देयमनुष्यदेवगतिपञ्चेन्द्रियजालौदारिकवैक्रियाहारकतैजसकर्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानौदारिकवैक्रियाहारकशरीराङ्गोपाङ्गवर्षभनाराचसंहननप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शमनुष्यदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यगुरुलघुपराधातातपोयोतोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसदादरपर्याप्तप्रत्येकशरीरस्थिराशुभमुभयसुखरादेययशःकीर्तिनिर्माणीतीर्थकरोच्चैर्गोत्रसंज्ञकानामेकोनचत्वारिंशतः प्रशस्तानामपि प्रकृतीनां योऽनुभवस्तस्याप्रशस्तप्रकृत्यनुभवघातनानुप्रवेशेनैव घातनं ज्ञेयम् । अथ द्वितीयसमये कपाटकारकस्य स्थित्यनुभागघातने को विधिरिति प्रश्नेऽभिद्व्यम्—प्रथमसमयघातितसत्कर्मस्थितेः सकाशात् योऽसंख्येयभागोऽवतिष्ठते इत्युक्तं असावपि बुद्ध्या पुनरसंख्येयभागाः क्रियते तस्य कपाटकारकोऽप्यसंख्येयान् भागान् हन्ति, असंख्येयभागोऽवतिष्ठते । ततोऽनुभवस्यापि प्रथमसमयघातनानुभवसकाशात् योऽवशिष्टोऽनन्तोऽनुभवोऽवतिष्ठत इत्युक्तं असावपि बुद्ध्या पुनरनन्तभागाः क्रियते, तस्य कपाटकारकोऽनन्तान् भागान् हन्ति, अनन्तभागोऽवतिष्ठते, अयमपि चाप्रशस्तप्रकृत्यनुभवघातनानुप्रवेशेनैव प्रशस्तप्रकृत्यनुभवघातनं करोतीति ज्ञेयम् । अथ तृतीयसमये प्रतरपूरकस्य स्थित्यनुभवघातने को विधिरिति

प्रभेऽभिसंवादीयते—ततो द्वितीयसमयधातितत्कर्मस्थितेः सकाशात् योऽसंख्येयभागोऽवशिष्टोऽवतिष्ठत इत्युक्तं असावपि बुद्ध्या पुनरसंख्येयभागाः क्रियते, तस्य प्रतरपूरकोऽसंख्येयान् भागान् हन्ति, असंख्येयभागोऽवतिष्ठते, ततोऽनुभवस्यापि तृतीयसमयधातितानुभवसकाशात् योऽवशिष्टोऽनन्तोऽनुभवोऽवतिष्ठत इत्युक्तं असावपि बुद्ध्या पुनरनन्तभागाः क्रियते, तस्य लोफपूरकोऽनन्तान् भागान् हन्ति, अनन्तभागोऽवतिष्ठते, अयमपि च 'अप्रशस्तप्रकृत्यनुभवधातानुप्रवेशेनेव प्रशस्तप्रकृत्यनुभवधातनं करोतीति ज्ञेयम् । एवं पूर्णलोफस्य कर्मत्रयसत्कर्म आवुपः सकाशात् संख्येयगुणं जातं, अनुभवोऽनन्तः । एवं चत्वारः समया भवन्ति । अतः परं प्रतिनिवृत्तः पञ्चमे समये प्रतरे तिष्ठति कार्मेणनाव-योगस्यः । अथास्वामयस्यां स्थित्यनुभवधातने को विधिरिति प्रभे निगद्यते—अतश्चतुर्थसमयधातितत्स्थिति-सत्कर्मणः सकाशात् या असंख्येयभागप्रमाणावशिष्टा स्थितिरवतिष्ठत इत्युक्तं सा बुद्ध्या संख्येया भागाः क्रियते, पञ्चमसमये प्रतरस्यः संख्येयान् भागान् हन्ति, संख्येयभागोऽवतिष्ठते । यश्चतुर्थसमयधातितानुभवसकाशात् अनन्तोऽवशिष्टोऽनुभवोऽवतिष्ठत इत्युक्तं असावपि बुद्ध्या अनन्त भागाः क्रियते, तस्य पञ्चमसमये प्रतरस्योऽनन्तान् भागान् हन्ति, अनन्तभागोऽवतिष्ठते । एषु दण्डकादिषु पञ्चसु समयेषु सामयिकं कण्डकमुत्कीर्णमिति कृत्वा समये समये स्थित्यनुभवधातो ज्ञेयः । अथ किमिदं कण्डकमिति प्रभे श्रूमहे—कण्डकमिध कण्डकं । क उपमार्थः ? यथा लोके तरोः रण्डभागः अंशः कण्डकमित्यभिधीयते, तथा कर्मनरोरपि रण्डं कण्डकमिति सिद्धं । अतः परं पष्ठसमयादारभ्य स्थितिकण्डकमनुभागकण्डकं वा आन्तर्मोहूर्तिकमुत्किरति, कण्डकं यतः क्षिपति विनाशयतीत्यर्थः । एवं पष्ठे कपाटममये औदारिकमिश्राकाययोगस्यः, सप्तमे औदारिकमिश्राकाययोगस्यः, अष्टमे च स्वशरीरप्रवेशसमये स्थितिकण्डकमनुभागकण्डकं च नाशनायै स्पृष्टं सत् अनन्तरसमये एव नष्टुमारब्धं न तावत्कात्स्न्येन नश्यति, किन्तु पष्ठादिषु समयेषु कर्मतरुकण्डकं स्पृष्टं सकलसमयेष्वेति । एवं तावत्समयेषु दलमुपैति यावदन्तर्मुहूर्तः पूर्ण इति । तदनेन विधिनाऽन्तर्मुहूर्तपूरणचरमसमयानन्तरमेव कृत्स्नकण्डकमुत्कीर्णमित्यवसेयं, उत्कीर्णं नष्टमित्यर्थः । एवं प्रतिसमयमान्तर्मोहूर्तिकः स्थित्यनुभवकण्डकात्को ज्ञेयस्त्वावधाव-त्सयोगिनोऽन्यसमय इति । एवमेवानि सर्वाण्यपि संख्येयानि स्थित्यनुभवकण्डकानि ज्ञेयानि, ततः स्वशरीरं प्रविष्टोन्तर्मुहूर्तमाल्” इति । ‘सर्वाण्यपि चामूनि स्थित्यनुभागकण्डकान्यसंख्येयान्यवगन्तव्यानीति न्यायाचार्याः कर्मप्रकृतिवृत्ताविति । अन्यत्र तु प्रथमसमये वाहल्यतः स्वशरीरप्रमाणमूर्ध्वमधश्च लोकान्तपर्यन्तमात्मप्रदेशानां दण्डमारचयति, द्वितीये समये पूर्वापरं दक्षिणोत्तरं वा कपाटं, तृतीये मन्थानं, चतुर्थेऽवकाशान्तरपूरणं, पञ्चमेऽवकाशान्तराणां, पष्ठे मथः, सप्तमे कपाटस्य संहरणं, अष्टमे स्वशरीरस्यो भवतीति । उत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्येव समुद्घातं कुर्वन्ति, न पण्मासावशेषायुष्ये, पीठफलकादीनां त्रत्यर्पणस्येव ग्रहणस्याप्यभिधानप्रसङ्गात्, तदुक्तं लोकप्रकाशे—“कैश्चिदित्युच्यते यत्तु शेषपण्मासजीवितः । जिनः कुर्यात् समुद्घातं तदसद्यत्तथा सति ॥१॥ प्रातिहारिकपीठादेराज्ञानमपि सम्भवेत् । श्रुते तु केवलं प्रोक्तं तत्पर्यर्पणमेव हि ॥ २ ॥” इति । अधिकं प्रज्ञापनान्तिमपदवृत्तितोऽवसेयम् । ततो लेख्यानिरोधार्थं योगनिमित्तचन्धनिरोधार्थं च योगनिरोधमवश्यं कुरुते, तदुक्तम्—“स ततो योगनिरोधं करोति

लेश्यानिरोधमभिकाङ्क्षन् । समयस्थितिं च बन्धं योगनिमित्तं विनिरुत्सन् ॥ १ ॥ समये समये कर्मादाने सति सन्ततेर्न मोक्षः स्यात् । यद्यपि हि विमुच्यन्ते स्थितिक्षयात् पूर्वकर्माणि ॥ २ ॥ नोक्तमपि हि दीर्यं योगद्रव्येण भवति जीवस्य । तस्यावस्थाने तु सिद्धः समयस्थितिवन्धः ॥ ३ ॥ इति । योगनिरोधं कुर्वन् प्रथमतो वादरकाययोगावष्टम्भादन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण वादरकायोगं निरुणद्धि । तन्निरोधानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा वादरकाययोगावष्टम्भेनैव वादरमनोयोगं निरुणद्धि । वादरमनोयोगनिरोधानन्तरं पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा सूक्ष्मकाययोगावष्टम्भात् वादरकाययोगं निरुणद्धि । ततः पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा सूक्ष्मकाययोगावष्टम्भात् वादरकाययोगं निरुणद्धि, वादरकाययोगे सति सूक्ष्मस्य निरोद्धुमशक्यत्वात्, तदुक्तं—“वादरस्तनुमपि निरुणद्धि ततः सूक्ष्मेण काययोगेन । न निरुद्धवते हि सूक्ष्मो योगः सति वादरे योगे ॥ १ ॥” इति । आवश्यकचूर्णौ तु ‘वादरकाययोगावष्टम्भात् वादरकाययोगं निरुणद्धि, यथा कारपत्रिकः स्तम्भे स्थितस्तमेव स्तम्भं छिनत्ति’, तथा च तद्वन्धः—“ततोऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वापर्यन्ततरसमय एव वादरकाययोगं निरोद्धुमारब्धः, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तस्यान्त्यसमये वादरकाययोगी निरुध्यमानो निरुद्धः, तस्यः तमेव क्षपयतीति । अयुक्तमिति चेत् ? न, दृष्टत्वात्, यद्यथा—कारपत्रिकः क्रकचेन स्तम्भे छिदिक्रियां प्रारभमाणः तत्स्तम्भमेव छिनत्ति तथा काययोगोपष्टम्भात् काये गतिरोधोऽप्यवसेयः” इति, तत्त्वं पुनस्तद्विदो विदन्ति ।

वादरकाययोगं निरुच्छानः पूर्वस्पर्द्धकानामधस्तादपूर्वस्पर्द्धकानि करोति । तत्र यानि तस्मिन् भवे पर्याप्तिपर्यायपरिणतेन सता जीवेन पूर्वं कायादिव्यापारनिष्पादनार्थं कृतानि तानि पूर्वस्पर्द्धकानीत्युच्यन्ते, तानि च स्थूलानि । यानि पुनरधुना कर्तुमारभते तानि सूक्ष्माणि । न चैवंभूतान्यनादौ संसारे कदाचिदपि कृतानीत्यपूर्वाण्युच्यन्ते । तत्र पूर्वस्पर्द्धकानां मध्ये याः प्रथमादिका वर्गणास्तासां ये वीर्याविभागास्तेषामसंख्येयान् भागानाकर्षन्ति, एकमसंख्येयं भागं मुञ्चति, जीवप्रदेशानामप्येकमसंख्येयभागमाकर्षन्ति, शेषं सर्वं स्थापयति । एष वादरकाययोगनिरोधप्रथमव्यापारः, तदुक्तं कर्मप्रकृतिप्राभूते—“पञ्चमसमय उपव्वफड्ढाणि करेइ, पुव्वफड्ढाणं हेट्ठा आइवग्गणाण अविभागपरिच्छेदाणमसंखेजे भागे ओकड्ढइ जीवपएसणं च असंखेज्झइमं भागमोक्कड्ढइ” इति । ततो द्वितीयसमये प्रथमसमयाकृष्टजीवप्रदेशासंख्येयभागादसंख्येयगुणं भागं जीवप्रदेशानामाकर्षन्ति, वीर्याविभागपरिच्छेदानामपि प्रथमसमयाकृष्टादसंख्येयगुणहीनं भागमाकर्षन्ति । एवं प्रतिसमयं समाकृष्य समाकृष्य तावदपूर्वस्पर्द्धकानि करोति यावदन्तर्मुहूर्त्तचरमसमयः । तानि श्रेणिवर्गमूलासंख्येयभागमात्राणि पूर्वस्पर्द्धकानामसंख्येयभागमात्राणि च भवन्ति, तथा चावश्यकचूर्णौ—“अत्र काययोगं निरुच्छन् पूर्वस्पर्द्धकानामधस्तादपूर्वस्पर्द्धकानि करोति । अथ किमिदं स्पर्द्धकमिति प्रश्ने व्याचक्ष्महे—स्पर्द्धकमिव स्पर्द्धकं । क उपमार्थः ? यथा लोके शालिफलकणकाणशानां समुदायात् मुष्टिर्भवति या स्पर्द्धकमिति शन्यते । कयमिति तद्विवृण्महे—“स्पर्द्धं संघर्षं” इति शब्दात् भवति स्पर्द्धकं संघर्षः, समुदायः, पिण्ड इत्यनर्थान्तरम् । अथ केषां संघर्ष इति व्याचक्ष्महे—इह यथा वह्नां समुदायः क्षणे (कण्डकं)

संभवति, यद्गतां च काण्डस्थकणकाणशानां समुदायात् मुष्टिरिति भवति, तथा शालिककणतुल्यानाम-
संख्येयानां लोकानां ये प्रदेशस्तत्प्रमाणप्रमितानामविभागपरिच्छेदानां भावपरमाणुसंज्ञितानां समु-
दायात् काणशतुल्या वर्गणा भवति, एवमसंख्येया वर्गणा श्रेण्या असंख्येयभागप्रमाणा एकजीवे
भवन्ति, तासां च बहुकाण्डस्थकणकाणशसमुदायोत्पन्नमुष्टितुल्यानामसंख्येयानां वर्गणानां श्रेण्या
असंख्येयभागमात्राणां समुदायादेकं स्पष्टकं भवति, एवमसंख्येयानि स्पष्टकानि श्रेण्या असंख्येय-
भागमात्राण्येकजीवे सन्ति । अथ किमिदं पूर्वस्पष्टकानि अपूर्वस्पष्टकानीति च प्रश्ने व्याचक्ष्महे-
यानि पर्याप्तिपर्यायेण परिणतात्मना पूर्वमेव योगनिर्वर्तनार्थमुपात्तानि यानि चानादौ संसारे पुनः पुनः
योगनिर्वृत्त्यर्थं पूर्वमुपात्तान्यात्मना तानि पूर्वस्पष्टकानि इत्यभिधीयन्ते, तानि स्थूलानि, यान्यधुना क्रियन्ते
तानि सूक्ष्माणि, न च तथा लक्षणानि अनादौ संसारे परिभ्रमता आत्मना कदाचिदप्युपात्तानि
इत्यतोऽपूर्वस्पष्टकानि व्याख्यायन्ते । अथ अपूर्वस्पष्टककरणे को विधिरिति प्रश्नेऽभिदध्महे-अधस्ता-
त्पूर्वस्पष्टकानामविगर्गणा यास्तासां अविभागपरिच्छेदा ये सेषामर्थं योगजधर्मानुग्रहादसंख्येयान्
भागानाकर्षति, असंख्येयभागं स्थापयति, जीवप्रदेशानामपि च असंख्येयभागमाकर्षति, असंख्ये-
यान् भागान् स्थापयति, एवं प्रथमसमये । द्वितीयसमये प्रथमसमयाकृष्टाविभागपरिच्छेदानां असंख्ये-
येभ्यो भागेभ्यः सकाशादसंख्येयगुणहीनं भागमाकर्षति, असंख्येयभागमाकर्षतीत्यर्थः, जीवप्रदेशा-
नामपि च प्रथमसमयाकृष्टजीवप्रदेशासंख्येयभागसकाशादसंख्येयगुणभागमाकर्षति, असंख्येयभागाना-
कर्षतीत्यर्थः । एतेन विधिनाऽऽकृष्य योगजधर्मानुग्रहादपूर्वस्पष्टकानि करोति, एवं समये समये भागं
करोति यावत्पूर्णाऽन्तर्मुहूर्त्त इति । कियन्ति पुनः स्पष्टकानि करोतीति प्रश्ने ब्रूमहे-श्रेण्या असंख्येय-
भागमात्राणि, श्रेणिवर्गमूलस्याप्यसंख्येयभागमात्राणि, पूर्वस्पष्टकानामप्यसंख्येयभागमात्राणि” इति ।
अपूर्वस्पष्टककरणपरिसमाप्त्यनन्तरसमय एव किट्टीः कर्तुमारभते । अन्तर्मुहूर्त्तेन च सर्वो
अपि करोति, तदुक्तं-“ताशयति काययोगं स्थूलं सोऽपूर्वफट्कीकृत्य । शेषस्य काययोगस्य तथा
किट्टीश्च न करोति ॥ १ ॥” इति । ननु किट्टिरिति कः पदार्थः ? उच्यते, एकोत्तरवृद्धिं व्याव-
यित्वाऽनन्तगुणहीनैकैकवर्गणास्थापनेन योगस्याल्पीकरणम् । तत्र पूर्वस्पष्टकानामपूर्व-
स्पष्टकानां चाधस्तात् या आदिवर्गणास्तासामविभागपरिच्छेदा ये सेषामर्थं योगजधर्मानु-
ग्रहादसंख्येयान् भागानाकर्षति, असंख्येयभागं चैकं स्थापयति, एकं चासंख्येयभागं जीव-
प्रदेशानामाकर्षति, शेषं च सर्वं स्थापयति, तदुक्तं कर्मप्रकृतित्वृत्तौ-“जीवप्रदेशानामपि
चैकमसंख्येयभागमाकर्षति शेषं सर्वं स्थापयति” इति, एष किट्टीकरणप्रथमसमयव्यापारः । ततो
द्वितीयसमये प्रथमसमयाकृष्टवीर्याविभागपरिच्छेदभागादसंख्येयगुणहीनं वीर्याविभाग-
भागमाकर्षति, जीवप्रदेशानां तु प्रथमसमयाकृष्टजीवप्रदेशासंख्येयभागादसंख्येयगुणं
भागमाकर्षति, असंख्येयान् भागानाकर्षतीत्यर्थः । एवं किट्टीस्तावत् करोति, यावदन्तर्मु-
हूर्त्तचरमसमयः । प्रथमसमयकृताभ्यः किट्टीभ्यो द्वितीयसमयकृताः किट्टयोऽसंख्येयगुण-
हीनाः, गुणकारश्च पल्योपमासंख्येयभागः । एवं शेषेष्वपि समयेषु भावनीयम्, तदुक्तं
कर्मप्रकृतिप्राभृते-“इत्थं अंतोमुहूर्त्तं किट्टीभ्यो कदेऽसंख्येयगुणहीना ए सेटी ए जीवपल्ये य

असंखेज्जगुणाए सेदीए ओकड्डइ, किट्टीगुणकारो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागो” इति । सुद्धितावश्य-
कचूर्णौ तु ‘किट्टिस्थाने कम्मणां कृष्टि’रुक्ता, तथा च तद्वन्थः—“अथ किमिदं कृष्टिरिति प्रश्नेऽ-
भिधीयते—कर्मणः कर्षणं कृष्टिरस्तीकरणमित्यर्थः । अथ कृष्टेः करणे को विधिरिति प्रश्ने व्याचक्ष्महे—
पूर्वस्पर्द्धकानामपूर्वस्पर्द्धकानां चाधस्तात् या आदिवर्णणास्तासामविभागपरिच्छेदा ये तेषामयं योगजधर्मा-
नुग्रहात् असंख्येयान् भागान् कर्षति, असंख्येयं भागं स्थापयति, जीवप्रदेशानामप्यसंख्येयान् (यं) भागान्
(गं) कर्षति, असंख्येयं (यान्) भागं (ग्रान्) स्थापयति, एवमादिकृष्ट्या प्रथमसमये कृष्टिः करोति । अथ
द्वितीयसमये प्रथमसमयाकृष्टानामविभागपरिच्छेदानामसंख्येयेभ्यो भागेभ्यः सकाशादसंख्येयगुणहीनं
भागमाकर्षति, असंख्येयभागमाकर्षतीत्यर्थः, जीवप्रदेशानामपि प्रथमसमयाकृष्टजीवप्रदेशासंख्ये-
यभागसकाशावसंख्येयगुणं भागमाकर्षति, असंख्येयान् भागानाकर्षतीत्यर्थः । एवमनेन विधिनाऽऽ-
कृष्ट्याकृष्ट्य कृष्टिः करोति, एवं समये समये कृष्टयः क्रियमाणाः क्रियन्ते तावद्यावच्चरमसमयकृष्टिरिति ।
तत्र प्रथमसमये याः कृष्टयः कृता असंख्येयगुणास्ततो द्वितीयसमये असंख्येयगुणहीनाः, एवं समये
समये असंख्येयगुणहीनाः श्रेण्या कृतास्तावद्यावदन्तर्मुहूर्तमिति, तत्र याः कृष्टयः प्रथमसमयकृतास्ता
असंख्येयगुणाः कृता द्वितीयसमयकृताभ्यः सकाशात् । अथ या द्वितीयसमयकृतास्ताः प्रथमसमयकृत-
कृष्टिप्रमाणाः कथं भवन्तीति प्रश्नेऽभिधीयते—पत्थोपमस्य (स्या) संख्येयभागेन गुणिताः । प्रथमसमयकृताः
कृष्टयः श्रेण्या असंख्येयभागप्रमाणाः, एवं द्वितीयादिवृत्तिरपि समयेषु श्रेण्यां असंख्येयभागप्रमाणाः तावद्या-
वत्कृष्टिकरणस्यान्तश्चाशेषो युगपन्नष्टः । अधुनायुगः समानि जातानि कर्माणि” इति । प्रथमसमय-
कृताश्च किट्टयः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणाः, एवं द्वितीयादिसमयेष्वपि प्रत्येकमवगन्तव्यम् ।
सर्वा अपि च किट्टयः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणाः पूर्वस्पर्द्धकानामपूर्वस्पर्द्धकानां चासंख्येयभा-
गमात्राः । किट्टीकरणायसानानन्तरं पूर्वस्पर्द्धकान्यपूर्वस्पर्द्धकानि च नाशयति । तत्समया-
दारभ्य चान्तर्मुहूर्तं यावत् किट्टिगतयोगो भवति, तदुक्तं—“किट्टिरुणे णिट्ठिए तओ से काले
पुव्वफड्डगाणि (अपुव्वफड्डगाणि) च नासेइ अंतोमुहुत्तं किट्टिगयजोगो भवति त्ति” । न चात्र
किञ्चिदपि करोति । ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकाययोगावष्टम्भादन्तर्मुहूर्तमात्रेण सूक्ष्मवाग्योगं
निरुणद्धि । ततो निरुद्धवाग्योगोऽन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकाययोगवशेनैव
सूक्ष्ममनोयोगं निरुणद्धि । तं च निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यानतृतीयपादमा-
रोहति, तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन संकुचितदेहत्रिभागवर्त्तिप्रदेशो भवति,
तदुक्तम्—“सूक्ष्मेण काययोगेन ततो निरुणद्धि सूक्ष्मवाङ्मनसे । भवति ततोऽसौ सूक्ष्मक्रियस्तदा कि-
ट्टिगतयोगः ॥ १ ॥ तमपि स योगं सूक्ष्मं निरुत्तन् सर्वपर्यायानुगतम् । सूक्ष्मक्रियमप्रतिपात्युप-
याति ध्यानमनस्कम् ॥ २ ॥” इति । सूक्ष्मकाययोगं निरुन्धन् प्रथमसमये किट्टीनामेकमसं-
ख्येयभागं मुक्त्वा शेषान् भागान् विनाशयति । द्वितीयसमये तस्यैव मुक्तस्यासंख्येयभाग-
स्यासंख्येयान् भागान् कृत्वा मुक्त्वा चैकमसंख्येयभागं शेषान् भागान् विनाशयति । एवं
समये समये तावत् किट्टीः विनाशयति यावत्सयोगिचरमसमय इति कर्मप्रकृतिवृत्त्यनुसारेण
लिखितम् । आवश्यकचूर्णौ तु योगनिरोध एवमुक्तः, तथा च तद्वन्थः—“तवो भगवं अवि-

न्येन ऐश्वर्येण योगनिरोधं करोति, से पुर्व्वि संयिस्स पढमसमयपञ्चत्तगस्स हेट्ठा जाणि मणपावो-
ग्गाणि दब्बाणि, यं वा मण्णेति [तेसिं] तासंखेज्जाणि ठाणाणि पुर्व्वि अविसुद्धाणि थूलाणि य पच्छा
विसुद्धमाणस्स सण्हतरगाणि विसुद्धतरगाणि य ततो सेटी आवलिगाओ ओसरंति, जहा विस-
परिगयस्स पदेसपदेसेणं विसं ओसरइ । एवं सो निरुंभमाणणि २ ताव ओसरति जाव एगाए आव-
लियाए ठितो, जथा तलाए पढमं विंदु ठितं वट्टमाणे भरियं । एवं सो ओसरणाओ ताव आणेति जाव
जो से पढमसमए पञ्चत्तगस्स मणो आसी ततो पि ओसरइ पच्छा अमणो भवइ । एवं विंदियस्स वि
पञ्चत्तगस्स वइजोगट्ठाणेसु, (वइजोगठाणं) निरुंभित्ता जा वइअजोगी भवति । पच्छा सुहुमस्स
पणगजीवस्स पढमसमवोववण्णस्स जावतिया सरीरोगाहणा तावतियाए अप्पगं हासंते २ निरुंभति ।
अण्णे पुण भजंति—तस्स पढमसमये चेव पणगस्स हेट्ठा असंसेज्जगुणं कायजोगं निरुंभंतो निरुंभए ।
तस्स फिल वीरियावरणोदण्णं मंदो जोगपरिर्व्वदो तेण अप्पो काययोगो भवति, केवलस्स पुण
अंतराइयपरिक्खणं अणुत्तरं निरावरणं जोगवीरियं । तेण अचित्तेण जोगसामत्थेणं जा सा केवलस्स
वीरियसद्ववयाए अणुवरत्तं पयसपरिक्खणा तं एगंदियजोगपक्कं ओसत्तिरुण निरंतरं निरुंभति । जाइं
य से सरीरे कम्मणिवत्तियाइं सुहसवणसिरोदरादिछिदाइं ताणि वियोयमाणो २ विभागूणं पयसोगाहणं
करोति । ताहे आणपाशुणिरोहं काउं अजोगी भवति । एवं सो योगत्रयनिरोहा सुक्खज्ञाणस्स तविय-
भेयं सुहुमकिरियं अणिवाट्ठिं अणुपविट्ठो करेति” इति । तथा श्रीजिनभद्रगणिकुमाश्रमणपादाः—
“पञ्चत्तगमित्तसभित्त जत्तियाइं जहन्नजोगिरस्स । होंति मणोदब्बाइं तव्वावारो य जं मत्तो ॥ १ ॥
तदसंलगुणविहीणं समए समए निरुंभमाणो सो । मणसो सव्वनिरोहं करेइ असंलिज्जसमएहिं ॥ २ ॥
पञ्चत्तमित्तविंदियजहन्नवइजोगपञ्जत्ता जे तु । तदसंलगुणविहीणे समए समए निरुंभंतो ॥ ३ ॥ सव्व
वइजोगरोहं संत्ताइएहिं कुणइ समएहिं । तत्तो य सुहुमपणयस्स पढमसमओववण्णस्स ॥ ४ ॥ जो
किर जहन्न जोगो तदसंलिज्जगुणहीणमिक्किं । समए निरुंभमाणो देहविभागं च सुंचन्तो ॥ ५ ॥
रुंभइ स कायजोगं संत्ताइएहिं चेव समएहिं । तो कयजोगनिरोहो सेलेसीभावणामेइ ॥ ६ ॥” इति
भणन्ति । तस्मिंश्च सयोगिकेयलिचरमसमये सप्तपदार्था युगपद् व्यवच्छिद्यन्ते, तद्यथा—सू-
क्ष्मकिट्टयः, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं, सातवेदनीयस्य वन्धो, नामगोत्रयोरुदीरणा, योगो,
छेदया, स्थित्यनुभागघातश्चेत्युक्तं सयोगिगुणस्थानम् ।

ततोऽनन्तरसमयेऽयोगिकेवली भवति । स च कर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमनिवृत्तिध्यानं
ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्विरणमात्रं कालं शैलेशीकरणं प्रविशति । तत्र
शैलेशो मेरुस्तद्वत् निष्प्रकम्पत्वात् स्थिरता साम्यावस्था शैलेशी, यद्वाशीलं सर्वसंवरः
तस्येशः शैलेशः तस्येयं योगनिरोधावस्था शैलेशी, यद्वा ‘शील समाधौ’ ईश ऐश्वर्यं
शीले ईशस्तन्नायः शैलेशः, तस्य करणं नाम पूर्व्विरचितशैलेशीसमयसमानगुणश्रेणिकस्य
वेदनीयनामगोत्राख्याघातिकर्मणोऽसंख्येयगुणया श्रेण्या आयुःशेषस्य च यथास्वरूप-
स्थितया श्रेण्या निर्जरणं शैलेशीकरणम् तत्र चांसी प्रविष्टोऽयोगी । स चांसी केवली
चायोगिकेवली । स्थितिरसघातादिरहितः सो यान्युदयवर्त्तानि कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणा-

नुभवन् क्षपयति, यानि तु तदानीमनुदयवन्ति तानि वेद्यमानासु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया चानुभवंस्तावद्याति यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमयः । तस्मिंश्च द्विचरमसमये देवद्विकशरीरपञ्चकाङ्क्षोपाङ्गत्रिकवैन्धनपञ्चकसंघातनपञ्चकसंस्थान-पट्टसंहननपट्टवर्णादिविंशतिविहायोगतिद्विकागुरुलघूपधातपराधातोच्छ्वासनिर्माणापर्याप्ता-स्थिरपट्टप्रत्येकस्थिरशुभसुखरनीचसातासातान्यतरानुदितवेदनीयरूपाणि द्विसप्ततिः कर्माणि स्वरूपसत्तामधिकृत्य क्षयमुपगच्छन्ति, चरमसमये स्तिबुकसंक्रमेणोदयवतीषु संक्रम्यमाण-त्वात् । चरमसमये चान्यतरवेदनीयोच्चैर्गोत्रमनुजत्रिकपञ्चेन्द्रियजातित्रसत्रिकसुभगादेयय-शःकीर्त्तितीर्थकररूपास्त्रयोदश प्रकृतयः क्षयमुपगच्छन्ति । अन्ये तु 'मनुजानुपूर्वी द्विच-रमसमय एव क्षीयते, उदयवत्त्वाभावेन वेद्यमानासु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रम्यमाणत्वात् । उद-यवतीनां तु दलिकं चरमसमये स्वरूपेण प्राप्यत एव, आनुपूर्वीणां च क्षेत्रविपाकित्वेनापा-न्तरालगतावेवोदयः' इति । अत एतन्मते द्विचरमसमये त्रिसप्ततेश्चरमसमये च द्वादशानां सत्ताव्यवच्छेदः । शैलेशीकरणचरमसमयानन्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मबन्धनत्वादेरण्डफलवत् तथाविधालाबुवद्वोर्ध्वलोकान्ते गच्छति, न परतोऽपि धर्मास्तिकायाभावात् । स चोर्ध्व गच्छन्नृजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावत् एव प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयात् समयान्तरमस्पृशन् गच्छति, तदुक्तमावश्यकचूर्णौ—“जसि ए जीवो अबगाहे तावतिया ए अबगाहणा ए उट्टं उज्जगं गच्छति ण वंके, अफुसमाणगती वितियं समयं ण कुसति” इत्युक्तमयोगिगुणस्थानम् । तदेवमुक्तानि गुणस्थानानि ॥

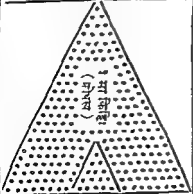
॥ पुंवेदिनः सं० क्रोधेन क्षपकश्रेणिक्रमः ॥

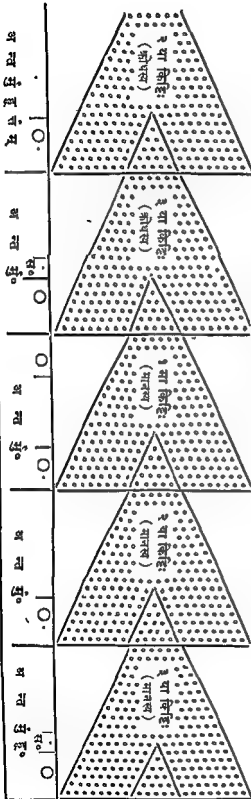
प्रस्थापकः—अनन्दायुः क्षीणसत्कोऽप्रमत्तः ।

क्रियाक्रमः

| |
|-------------------|
| वि शु क्षिः |
| यथा प्रवृत्तक० |
| अपूर्वकरणम् |

अतो मध्यकषायाष्टक्षपगा (स्थि० चातादेना)

| | | |
|---------------------------------------|---|---|
| <p>अतः ९ मं गुणस्या न कम्...</p> | अतः भागाः | अथ मध्य ८ कपायाणां स्थितिः ५० अक्षं भा० । |
| | अतः भागाः | अत्र स्थानं ३-नरक २-तिथे २-कुजाति ४- स्या०-भात०- उद्यो०-सु०-साया० इति १६ नाम् स्थि० ५० अक्षं भा० (उद्दलनया) तथा पृष्ठासामेन गु० संक्रमः प्रादुर्भवति । |
| | अतः भागाः | अत्र क्षीणाः १६ प्रकृतयः (पूर्वोक्तः) |
| | अतः भागाः | अत्र क्षीणं मध्यकपायाष्टकं । १३ प्रकृतीनामन्तरकरणकरणं च । |
| | अतः भागाः | अत्रोद्दलनया नपुं०स्व द्वितीयास्थितिः ५० अक्षं भा० जाता, तस्या एव गुणसंक्रमश्च प्रादुर्भूतः । |
| | अतः भागाः | अत्र नपुं० वेदः क्षीणः । क्षीवेदद्वितीयास्थित्युद्दलना च । |
| | अतः भागाः | अत्र क्षीवेदद्वि०स्थि० ५० अक्षं भा० जाता, तस्या एव गुणसंक्रमश्च । |
| | अतः भागाः | क्षीणः क्षीवेदः । नोक्तपादफल च द्वि० स्थि० क्षपणा- प्रारम्भः । ततस्तेषां वृत्तिकप्रसेपः सं० कोषे । |
| <p>अथ कर्माणां कारणाः</p> | | अत्र क्षीणं नोक्त० ६० । पुं० स्व वन्धोद्घोषीरणाविषयेदः, सम- योनावलिकादिकवद च सुखाद्योपेय सर्वे क्षीणं, सं- ४ कस्योपरि स्थितौ अक्ष०स्पष्टंकरणप्रारम्भः । अस्मान्दायां वर्तमानः समयोनावलिकादिकेन कालेन पुनैव क्षपयति । |
| | | अत्र सं० ४ कस्योपरिस्थितौ अक्ष०स्पष्टंकरणं समाप्तं, अनन्त- रतस्त्रैव कट्टीकरणप्रारम्भः । (ताश्च कल्पनया १२) |
| <p>क्रिहीकरणाद्या (अन्तर्मु०)</p> | | |
| | | अत्र जाता १२ क्रिहयः । अतः श्लेषस्य प्रथमक्रिहिवेदनं, माने गुणसंक्रमणं च । |
| <p>अतः भागाः</p> |  | अतः द्वितीयाक्रिहैरपि वेदनं, माने गु० सं० च । |



अत्र प्रथमकिटेश्वरमावलिका द्वि० किट्यन्तर्गतत्वेन वेदिता ।

अतः ३यकिटेरपि वेदनं, माने गु० सं० च ।

अत्र २ यकिटेश्वरमावलिका नृ० किट्यन्तर्गतत्वेन वेदिता ।

अत्र क्रोधबन्धोदयोदीरणाविच्छेदः । सत्ता च शेषमात्रा एव तस्याश्च गु० सं० । अनन्तरतः मानस्य प्रथमकिटिवेदनं, मायायां गु० सं० च ।

अत्र क्रोधवृत्तीयकिटेश्वरमावलिका स्त्रियुकेन गता ।

अत्र क्रोधशेषस्य गु० संक्रमः समाप्तः । अनन्तरं सर्वसंक्रमः क्षीणः सं० क्रोधः ।

अतः मानस्य ३यकि० वे०, गु० सं० च ।

अत्र मानस्य प्रथमकिटेश्वरमावलिका द्वि० किट्यन्तर्गतत्वेन वेदिता ।

अतः मानस्य ३यकि० वे०, गु० सं० च ।

अत्र द्वि० किटेश्वरमावलिः नृ० किट्यन्तर्गतत्वेन वेदिता ।

अत्र मानबन्धोदयोदीरणाविच्छेदः । सत्ता च शेषमात्रा । तस्याश्च गु० सं० ।

अनन्तरतो मायायाः प्र० कि० वेदनं, लोभे गु० सं० च ।

अत्र मानवृत्तीयकिटेश्वरमावलिका स्त्रियुकेन गता ।

| | | |
|-----------|----|---------------------------|
| अ ना गुं० | ०। | १ मा सिद्धिः (मायायाः) |
| अ ना गुं० | ०। | २ पा किद्धिः (मायायाः) |
| अ ना गुं० | ०। | ३ पा किद्धिः (मायायाः) |
| अ ना गुं० | ०। | ३ मा सिद्धिः (लोभस्य) |
| अ ना गुं० | ०। | २ पा किद्धिः (लोभस्य) |

अत्र मानशेषस्य गु० सं० समाप्तिः । अनन्तरं सर्वसंक्रमेण क्षीयो मानः ।

अतः मायादि० कि० वे० । गु० सं० च ।

अत्र प्र० किद्धिपरमाव० द्वि० किद्ध्यन्तर्ग० पेटिता ।

अतः मायातृ० कि० वे०, गु० सं० च ।

अत्र २ पकिद्धेधरमाव० तृ० किद्ध्यन्तर्ग० पेटिता ।

अत्र मायापयोदयोदीरणाविच्छेदः । सत्ता च शेषमात्रा तस्याश्च गु० सं० ।

अनन्तरतः क्षीयप्रथमकिद्धिपेटितम् ।

अत्र मायातृ० किद्धेधरमाव० छिद्युक्तेन गता ।

अत्र मायाशेषस्य गु० सं० समाप्तिः । अनन्तरं सर्वसंक्रमेण क्षीया माया ।

अतः क्षीय २ पकि० वे० । तृतीयकिद्धिपेटितकर्म च ।

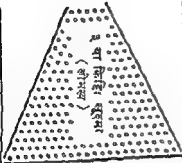
अत्र प्र० किद्धेधरमाव० द्वि० किद्ध्यन्तर्ग० पेटिता ।

अत्र तृतीयकिद्धिः सूक्ष्मा जाता । सं० क्षीयबन्धना० कपायोदयो-दीरणाविच्छेदः ।

अनन्तरतः सू० किद्धेः शेषस्य च वेदवं क्षरणं च ।

अत्र २ पकिद्धेधरमाव० तृ० किद्ध्यन्तर्गतत्वेन पेटिता ।

संभाराः । १ सकृदं भा० ।
१० वा सु० स्था नं म्



अतः सं० लो० स्य सर्वापवर्तनया सु० सम्प० अद्यासमानकरणम् ।
अत्र मोहस्थितिघातादयः समाप्ताः । अपवर्तितस्थितेरदयो-
दीरणा च भवतः ।

अथ लोभोदीरणाविच्छेदः ।

अत्र ज्ञा० ५-दृ० ३-अ० ५-पश०-उच्छागो० इति (१३) प्रकृतीनां
व्यविच्छेदः । मोहोदयसत्ताविच्छेदः । सर्वथाक्षीणं मोहनीयम् ।

अत्र ज्ञा० ५-दृ० ३-अ० ५ विद्वा ३ कामो सर्वापवर्तनपा-
क्षी० क० अद्यासमानकरणम् ।

अत्र विद्वा एकक्षयः ।

अत्र ज्ञा० ५-दृ० ३-अ० ५ एकक्षयः ।

३२ नं क्षी ण क पा स-
नु ष स्था न क म्
(अप्यसु०)

सर्वपा भागाः

१ सं० । सं०
१ सं० । सं०

३२ नं क्षी ण क पा स-
नु ष स्था न क म्
(अप्यसु०)

अथ आयोजिकाकरणम् ।

अत्र केचित्समुद्भावं कुर्वन्ति । (स्थित्यनुभाषणपट्टासतनं)

अत्र या० कायेन वा० धाम्मोसह्यनम् ।

अत्र रुद्धो या० वागयोगः ।

(अत्र विभागे न किञ्चित् करणं)

अतः सू० कायेन वा० कायरोधत्वं । योगापूर्वस्पर्धककरणं च ।

अत्र रुद्धः या० काययोगः । योगकिट्टीकरणं चातः ।

अथ पूर्वं कस्मिन् गुणस्थानके कियन्त्यः प्रकृतयः संक्रामन्तीति निरूप्यते-तत्र सामान्यतः संक्रमे आयुश्चतुष्टयवर्जं चतुष्पञ्चाशच्छतं प्राप्यते । मिथ्यादृष्टौ आयुश्चतुष्टयमिथ्यात्ववर्जं त्रिपञ्चाशदधिकं शतं नानाजीवापेक्षया प्राप्यते, आयुषः सङ्क्रामाभावात् मिथ्यात्वस्य सम्यग्दृष्टेरेव संक्रमात् तद्वर्जनं कृतम् । एकजीवापेक्षया तूत्कृष्टतः प्रकृतीनां सार्धशतं सङ्क्रमे प्राप्यते, सातासातयोरन्यतरस्य, अन्यतरगोत्रस्य, आहारकजिननामोभयस्य मिथ्यादृष्टौ सत्ताभावेन जिनस्य मिथ्यात्वायुषां च वर्जनात्; एयमग्रेऽप्येकजीवापेक्षया स्वयं भावनीयम् । सास्वादनगुणस्थाने च सार्धशतं भवति, आयुश्चतुष्कमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वजिननाम्नां सङ्क्रामाभावात्, तत्रायुषः सर्वत्र प्रागुक्तहेतोर्वर्जनम्, “दुइयतइयवजा न दंसणविगमपि” इति वचनात् दर्शनत्रिकवर्जनम्, जिननान्नश्च सत्ताभावेन वर्जनं कृतमिति । मिश्रे एकोनपञ्चाशच्छतं सङ्क्रमे भवति, नीचैर्गोत्रस्य बन्धाभावेनोच्चैर्गोत्रस्य संक्रमो न भवति, शेषं पूर्ववत् । अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतानामायुश्चतुष्टयसम्यक्त्वमोहनीयोच्चैर्गोत्रवर्जद्विपञ्चाशदधिकं शतं संक्रमे भवति, सम्यक्त्वस्य मिथ्यादृष्टेरेव स्वामित्वेन तद्वर्जनं, आयुश्चतुष्टयस्योच्चैर्गोत्रस्य च प्रागुक्तहेतोः । अप्रमत्ते सातवेदनीयवर्जकपञ्चाशदधिकं शतं संक्रामति, असातस्य बन्धाभावेन प्रतिग्रहाभावात् सातस्य संक्रामाभावः । अपूर्वकरणेऽनन्तानुबन्धिवर्जं सप्तचत्वारिंशदधिकं शतं भवति, उद्वलितत्वेन चोपशान्तत्वेन च तद्वर्जनम् । अनिवृत्तिकरणे यशःकीर्तिवर्जं पट्चत्वारिंशदधिकं शतं भवति, केवलाया यशःकीर्तेः प्रतिग्रहत्वेन तदन्यप्रतिग्रहाभावात् तद्वर्जनमिति । सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने सपादशतं संक्रामति, चारित्रमोहनीयस्योपशान्तत्वाद् बन्धाभावेन तस्य संक्रमो न भवति, शोषाणामपि प्रागुक्तमेव कारणं संक्रमाऽभावे द्रष्टव्यम्, तथा च—“उवसन्तं जं कम्मं न त थोकहुइ न देइ उदप वि । न य गमयइ परपगई न चेव उक्कहुए तं तु ॥ १ ॥” अस्या अक्षरगमनिका-सर्वोपशमेनोपशान्तं यत्कर्म न तदपकर्षति, स्थितिरस्याभ्यां अपवर्तनाकरणेन न हीनं करोतीत्यर्थः, “सक्खोवसमो-मोहस्सेव” इति वचनेन तन्मोहनीयमेव भवति नान्यत्, अन्यस्य सर्वोपशमाभावात्, अपिशब्दस्य भिन्नः क्रमत्वात्, नापि उदये ददाति, न वेदयतीत्यर्थः, उपलक्षणात् उदयाविनाभाविन्यामुदीरणायामपि न ददातीत्यपि वाच्यम्, न च गमयति, परप्रकृतिं वध्यमानसजातीयरूपां न नयति, संक्रमकरणेन न संक्रमयतीत्यर्थः, न चोपशान्तं स्थितिरसं उत्कर्षति, उद्वर्तनाकरणेन वृद्धिं न नयतीत्यर्थः” इति । निधत्तिकिकाचनाकरणयोस्तु अपूर्वकरणान्तसमये निवृत्तत्वेन न निषेधः कृतः, एतत्सर्वं च दर्शनत्रिकं मुक्त्वाऽवसेयं, तेनोपशान्तमोहे मिथ्यात्वमिश्ररूपे द्वे प्रकृती संक्रमतः, शोषाणां साम्परायिकबन्धाभावेन संक्रमो न भवति । क्षीणमोहादौ तु तयोरपि न संक्रमः, सत्त्वाभावात् । या याः प्रकृतयो यस्मिन् यस्मिन् गुणस्थाने संक्रामन्ति तासां तासां तत्तद्गुणस्थानवर्तिनो जीवाः प्रकृतिसंक्रमस्वामिनो ज्ञातव्या इति । उक्तो गुणस्थानेषु प्रकृतिसंक्रमः ॥

॥ गुणस्थानेषु प्रकृतिसंक्रमयन्त्रकम् ॥

| गुणस्थानानि | सर्वसं० | ज्ञानाव० | दर्शना० | वेदनीय० | मोहनीय० | आयुः | नाम | गोत्र | अन्तराद्य |
|--------------------|---------|----------|---------|---------|---------|------|-----|-------|-----------|
| शोधे | १५४ | ५ | ९ | २ | २८ | ० | १०३ | ६ | ५ |
| १ मिथ्यात्वे | १५३ | ५ | ९ | २ | २७ | ० | १०३ | २ | ५ |
| २ सास्त्रादने | १५० | ५ | ९ | २ | २५ | ० | १०२ | ३ | ५ |
| ३ मिथे | १४९ | ५ | ९ | २ | २५ | ० | १०२ | १ | ५ |
| ४ भविरते | १५२ | ५ | ९ | २ | २७ | ० | १०३ | १ | ५ |
| ५ देशविरते | १५२ | ५ | ९ | २ | २७ | ० | १०३ | १ | ५ |
| ६ प्रमथे | १५२ | ५ | ९ | २ | २७ | ० | १०३ | १ | ५ |
| ७ अग्रमथे | १५१ | ५ | ९ | १ | २७ | ० | १०३ | १ | ५ |
| ८ धर्षवर्जणे | १४७ | ५ | ९ | १ | २३ | ० | १०३ | १ | ५ |
| ९ अनिवृत्तिकरणे | १४६ | ५ | ९ | १ | २३ | ० | १०२ | १ | ५ |
| १० सूक्ष्मसम्पराये | ११५ | ५ | ९ | १ | २ | ० | १०२ | १ | ५ |
| ११ उपशान्तमोहे | २ | ० | ० | ० | २ | ० | ० | ० | ० |

अथ कस्मिन् गुणस्थाने कियन्त्यः प्रकृतयः प्रतिग्रहत्वेन प्राप्यन्त इति निरूप्यते-तत्र या
याः प्रकृतयो वन्धे भवन्ति तास्ताः प्रतिग्रहत्वेनापि भवन्ति, केवलं सम्यक्त्वमिश्रयोर्वन्धा-
भावेऽपि प्रतिग्रहता भवति, आयुषो वन्धसद्भावेऽपि संक्रमाभावेन प्रतिग्रहता न भवति,
वर्णादिविंशतेर्वन्धसद्भावेऽपि सामान्येन चतस्रो ग्राह्याः, सद्भावनवन्धनयोः शरीरेऽन्त-
र्भावेन पृथक्त्वेन न गणनीया इति सामान्येनाष्टादशाधिकशतं प्रतिग्रहे भवति । मिथ्यात्वे
ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणनवकं, वेदनीयद्वयं, मोहनीयस्य सम्यक्त्वमिश्रवर्जपञ्चविंशतिः,
सम्यक्त्वमिश्रयोः सम्यग्दृष्ट्यादावेव प्रतिग्रहत्वेन प्राप्यमाणत्वात्, नाम्नः जिनाहारकद्विक-
वर्जनतश्चतुःषष्टिः, जिनस्य सम्यक्त्वप्रत्ययत्वेन, आहारकद्विकस्य च विशुद्धचारित्र्यप्रत्यय-
त्वेन वन्धाभावात् तद्वर्जनम्, गोत्रद्वयमन्तरायपञ्चकमिति त्रयोदशाधिकशतं प्रतिग्रहत्वेन
प्राप्यते । सास्त्रादने ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणनवकं, वेदनीयद्विकं, नपुंसकवेदमिथ्यात्व-
सम्यक्त्वमिश्रवर्जमोहचतुर्विंशतिः, नपुंसकवेदमिथ्यात्वयोः मिथ्यात्वप्रत्ययत्वेन वन्धाभावा-
द्वर्जनं, मिश्रसम्यक्त्वयोः प्रागुक्तहेतोर्वर्जनं, जिनाहारकद्विकनरकद्विकजातिचतुष्टयस्यावर-
चतुष्कातपहुण्डसेवार्चवर्जकपञ्चाशत् नाम्नः, गोत्रद्वयमन्तरायपञ्चकमित्यष्टानवतिः प्रतिग्रहे
लभ्यते, आहारकजिनवर्जनकारणं प्रागुक्तं, शेषाणां नरकैकेन्द्रियादिप्रायोग्यत्वेन, मिथ्यात्व-
प्रत्ययत्वेन च वन्धाभावात् वर्जनम् । मिश्रगुणस्थाने ज्ञानावरणपञ्चकं, स्त्यानाद्धिन्निकवर्ज-
दर्शनावरणपट्टं, वेदनीयद्वयं, मोहस्य प्रागुक्तचतुर्विंशतेर्मध्यादनन्तानुबन्धिष्वीवेदवर्जमो-
हनीयकोनविंशतिः, नाम्नः प्रागुक्तैकपञ्चाशन्मध्यात् मध्यमसंस्थानसंज्ञननाष्टकोद्योतदर्भा-

ग्यदुःस्वरानादेयतिर्यग्द्विकाशुभविहायोगतिवर्जपद्मत्रिंशत् नामप्रकृतयः, उच्चैर्गोत्रमन्तराय-
पञ्चकमिति चतुःसप्ततिः प्रतिग्रहे लभ्यते, शेषाणां वन्धाभावेन प्रतिग्रहाभावात् वर्जनं कृतं
द्रष्टव्यमिति । अविरतसम्यग्दृष्टौ जिननाम्नः वन्धहेतुसद्भावेन प्रतिग्रहस्यापि सद्भावात्,
औपशमिकसम्यग्दृष्टेरावलिकाया ऊर्ध्वं वेदकसम्यग्दृष्टेर्वा मिश्रसम्यक्त्वयोरपि प्रतिग्रहता-
सम्भवेन सप्तसप्ततिः प्रकृतयः प्रतिग्रहे संभवन्ति । देशविरते प्रागुक्तात् सप्तसप्ततेर्मध्यात्
अप्रत्याख्यानचतुष्टयवज्रर्पभनाराचसंहननौदारिकद्विकमनुष्यद्विकवर्जाष्टपष्टिः प्रकृतयः
प्रतिग्रहे भवन्ति । प्रमत्तसंयते सा एवाष्टपष्टिः प्रत्याख्यानचतुष्टयविहीना चतुःपष्टिः
प्राप्यते । सा एव चतुःपष्टिः अप्रमत्तसंयतेऽरतिशोकास्त्रिराशुभायशःकीर्त्यसातवेदनीय-
विहीना, आहारकद्विकयुता च पष्टिर्भवति । अपूर्वकरणप्रथमभागेऽपि सैव पष्टिः, द्विती-
यादिभागपञ्चके सैव निद्राद्विकविहीना अष्टपञ्चाशद् भवति, अपूर्वकरणचरमभागे च
ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणचतुष्टयं, सातवेदनीयं, हास्यरतिभयजुगुप्सापुंवेदसंज्वलन-
चतुष्टयमिश्रसम्यक्स्वरूपा एकादशमोहनीयप्रकृतयो, यशःकीर्तिरूपा एका नाम्नः, उच्चै-
र्गोत्रं, अन्तरायपञ्चकमित्यष्टाविंशतिः प्रकृतयः प्रतिग्रहे भवन्ति । अनिवृत्तिप्रथमभागे
अष्टाविंशतिरेव हास्यरतिभयजुगुप्साविहीना चतुर्विंशतिः प्रकृतयः प्रतिग्रहे भवन्ति, ततः
पुंवेदस्याप्रतिग्रहत्वे तद्विहीना त्रयोविंशतिः, संज्वलनक्रोधस्याप्रतिग्रहत्वे तद्विहीना द्वाविं-
शतिः, संज्वलनमानस्याप्रतिग्रहत्वे तद्विहीना एकविंशतिः, संज्वलनमायाया अप्रतिग्रहत्वे
तद्विहीना विंशतिरनुक्रमेण द्वितीये, तृतीये, चतुर्थे, पञ्चमे भागे च भवन्ति । संज्वलनलोभ-
विहीना सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने एकोनविंशतिः प्रकृतयः प्रतिग्रहे भवन्ति । उपशान्तमोहे
मिश्रसम्यक्स्वरूपे द्वे प्रकृती प्रतिग्रहे भवतः । क्षीणमोहादौ तयोरसत्त्वात्, अन्येषामपि
वन्धाभावात्, सातवेदनीयस्य च वन्धसत्त्वेऽपि साम्परायिकवन्धाभावात् प्रतिग्रहे एकापि
प्रकृतिः न प्राप्यते । या याः प्रकृतयो यस्मिन् यस्मिन् गुणस्थाने प्राप्यन्ते तासां तासां
प्रकृतीनां तत्तद्गुणस्थानवर्तिनो जीवाः प्रकृतिप्रतिग्रहस्वामिनो वेदितव्या इति । उक्ता
गुणस्थानेषु प्रकृतिपतद्राहकता ॥

॥ गुणस्थानेषु प्रतिग्रहयन्त्रम् ॥

| गुणस्था० | सर्पसंख्या | ज्ञाना० | दर्शना० | वेदनीय | मोहनीय | आयुः | नाम | गोत्र | अन्तराय |
|------------|------------|---------|---------|--------|--------|------|-----|-------|---------|
| ओषे | ११८ | ५ | ९ | २ | २८ | ० | ६० | २ | ५ |
| मिथ्यात्वे | ११३ | ५ | ९ | २ | २६ | ० | ६३ | २ | ५ |
| सास्वादने | ९८ | ५ | ९ | २ | २७ | ० | ५१ | २ | ५ |
| मिथे | ७४ | ५ | ६ | २ | १९ | ० | ३६ | १ | ५ |
| अविरते | ७७ | ५ | ६ | २ | २१ | ० | ३० | १ | ५ |
| देशविरते | ६८ | ५ | ६ | २ | १७ | ० | ३२ | १ | ५ |
| प्रमथे | ६३ | ५ | ६ | २ | १३ | ० | ३२ | १ | ५ |

नृष्टयमिति चतुर्दशप्रकृतिषु क्षीणासु अयोग्युपान्तसमयं यावत् पञ्चाशीतिः प्रकृतयः सत्तायां भवन्ति, चरमसमये द्वासप्तत्यां, त्रिसप्तत्यां वा क्षीणायां त्रसवादरपर्याप्तसुभगादेययशः-कीर्त्तिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिमनुष्यायुःसातासातान्यतरवेदनीयोच्चैर्गौत्रजिननामरूपा द्वादश प्रकृतयः, केपाञ्चिन्मते मनुजानुपूर्वीयुताः त्रयोदश सत्तायां प्राप्यन्ते । येषां मते पञ्चैव वन्धनानि तन्मतेनात्र सत्ताप्रकृतय उक्ताः, येषां च मते पञ्चदश वन्धनानि अभिम-त्तानि तत्र दश प्रकृतयः प्रागुक्तेषु सर्वत्र योजयितव्याः सुप्ताः सत्ताप्रकृतयः ।

॥ गुणस्थानेषु सत्तायन्त्रकम् ॥

| गुणस्था० | ज्ञा० अं० | दर्शना० | वे० गो० | मोहनीय | आयुः | नाम | सर्वाः |
|-------------------------|-----------|---------|---------|----------|-------|-----|-----------------|
| भोये | ५-५ | ९-९ | २-२ | २८ | ४ | ९३ | १४८ |
| मिध्यात्वे | " | " | " | २८ | ४-१ | ९३ | १४८-१४५ |
| सास्वादने | " | " | " | २८ | ४-१ | ९२ | १४७-१४४ |
| मिध्रे | " | " | " | २८ | ४-१ | ९२ | १४७-१४४ |
| भविस्ते ड० क्षा० | " | " | " | २८-२१ | ४-१ | ९३ | १४८-१४१-१४५-१३८ |
| वेद्यविस्ते " | " | " | " | २८-२१ | ४-१ | ९३ | १४८-१४१-१४५-१३८ |
| प्रमत्ते " | " | " | " | २८-२१ | ४-१ | ९३ | १४८-१४१-१४५-१३८ |
| अप्रमत्ते " | " | " | " | २८-२१ | ४-१ | ९३ | १४८-१४१-१४५-१३८ |
| अपूर्णकरणे " | " | " | " | २८-२४-२१ | ४-२-१ | ९३ | १४८-१४२-१३९-१३८ |
| अनिष्टुत्तापु० क्ष० धे० | " | " | " | २८-२४-२१ | ४-२-१ | ९३ | १४८-१४२-१३९-१३८ |
| अनि० प्र० ना० क्ष० धे० | " | " | " | २१ | १ | ९३ | १३८ |
| अनि० द्वि० " | " | " | " | २१ | १ | ८० | १२२ |
| अनि० तृ० " | " | " | " | १३ | १ | ८० | ११४ |
| अनि० चतु० " | " | " | " | १२ | १ | ८० | ११३ |
| अनि० पं० क्ष० धे० | " | " | " | ११ | १ | ८० | ११२ |
| अनि० ष० " | " | " | " | ५ | १ | ८० | ११३ |

| | | | | | | | |
|--------------------------------------|-----|---|-----|----------|-------|------|------------------------------------|
| अनि० स० ॥ | ५-५ | ६ | २-२ | ४ | १ | ८० | १०५ |
| अनि० अष्ट० ॥ | ॥ | ॥ | ॥ | ३ | १ | ८० | १०३ |
| अनि० नवम० ॥ | ॥ | ॥ | ॥ | २ | १ | ८० | १०२ |
| सूक्ष्मसम्भराय उ० क्ष० श्रेण्या च | ॥ | ९ | ॥ | २८-२४-२१ | ४-२-१ | ९३ | उप० { १४८-१४२ ११९-११८ अ० १०१ |
| उपसांख्यमोहे | ॥ | ९ | ॥ | २८-२४-२१ | ४-२-१ | ९३ | १४८-१४९ ११९-११८ |
| क्षी० मोहोपास्य- समये यावत् | ॥ | ६ | ॥ | ० | १ | ८० | १०१ |
| सीममोहचरमसमये | ॥ | ४ | ॥ | ० | १ | ८० | ९९ |
| सद्योमिति | ० | ० | ॥ | ० | १ | ८० | ८५ |
| अधोयोगान्य- मये यावत् | ० | ० | ॥ | ० | १ | ८० | ८५ |
| अधोगिचरमसमये | ० | ० | १-१ | ० | १ | १०-९ | १३-१२ |

अथ प्रतिग्रहसम्बन्धित्वेन सामान्यतो बन्धप्रकृतयोऽपि गुणस्थानेषूपच्यन्ते-तत्राद्येन बन्धे विंशत्युत्तरशतं लभ्यते, तद्यथा-ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणनवकं, वेदनीयद्विकं, मोहनीयपञ्चविंशतिः, आयुश्चत्वारि, नाम्नः सप्तपष्टिः, गोत्रद्वयम्, अन्तरायपञ्चकमिति । मिथ्यात्वे ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणनवकं, वेदनीयद्वयं, मोहनीयपञ्चविंशतिः, आयुपञ्चतमो, नाम्न आहारकद्विकजिननामवर्जचतुःपष्टिः, गोत्रद्वयम्, अन्तरायपञ्चकमिति सप्तदशोत्तरशतं बन्धे प्राप्नोति । सास्वादने ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणनवकं, वेदनीयद्विकं, मिथ्यात्वनपुंसकवेद-यर्जमोहनीयस्य चतुर्विंशतिः, नरकायुर्वर्जं आयुद्विकं, नाम्नो नरकद्विकजातिचतुष्टयस्याय-चतुष्कहुण्डसेवार्तसंहननात्तपनामवर्जैरुपञ्चाशत्, गोत्रद्वयम्, अन्तरायपञ्चकमिति एकोत्तर-शतं बन्धेष्वप्यते । मिश्रे ज्ञानावरणपञ्चकं, स्त्यानद्वित्रिकवर्जदर्शनावरणपष्टकं, वेदनीयद्विकं, मोहनीयस्याद्यकपायचतुष्टयमिथ्यात्वनपुंसकवेदस्त्रीवेदवर्जैकोनविंशतिः, नाम्नस्त्रियद्विकर्दा-र्भाग्यत्रिकमध्यमसंस्थानसंहननाष्टकोद्योताशुभविहायोगतिरूपपञ्चदशनरकत्रिकादित्रयोदशा-हारकद्विकजिननामवर्जाः पष्ट्रिंशत्प्रकृतयः, उच्चैर्गोत्रम्, अन्तरायपञ्चकमिति चतुःसप्ततिः प्र-कृतयो बन्धेष्वप्यन्ते । अविरतसम्यग्दृष्टेस्ताश्चतुस्सप्ततिर्मानुजदेवायुःजिननामयुताःसप्तसप्ततिः प्रकृतयो बन्धेष्वप्यन्ते । देशविरते ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणपष्टकं, वेदनीयद्विकं, मिथ्यात्व-नपुंसकवेदस्त्रीवेदानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकपायाष्टकवर्जमोहनीयस्य पञ्चदश प्रकृतयः, देवा-

युः, नाम्न आहारकद्विकनरकादित्रयोदशतिर्यगादिपञ्चदशमनुजद्विकौदारिकद्विकप्रथमसंहननवर्जा द्वात्रिंशत्प्रकृतयः, उच्चैर्गोत्रम्, अन्तरायपञ्चकमिति सप्तपष्टिः प्रकृतयो बन्धे भवन्ति । प्रमत्तसंयते ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणपट्टं, वेदनीयद्विकं, मिथ्यात्वनपुंसकस्त्रीवेदानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानकपायद्वादशवर्जा मोहनीयस्यैकादशप्रकृतयः, देवायुः, देशविरतोक्ता नाम्नो द्वात्रिंशत्प्रकृतयः, उच्चैर्गोत्रम्, अन्तरायपञ्चकमिति त्रिपष्टिः प्रकृतयो बन्धे लभ्यन्ते । अप्रमत्ते ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणपट्टं, सातवेदनीयं, हास्यरतिभयजुगुप्तापुंवेदसंज्वलनचतुष्टयरूपा नव प्रकृतयो मोहनीयस्य, देवायुः प्रमत्तेन प्रारब्धं चेदत्र निष्ठां नयति, नाम्न तनबन्धमारभते, नाम्नो देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियाहारकद्विकतैजसकर्मणसमचतुरस्रसंस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शशुभविहायोगतित्रसदशकागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासनिर्माणतीर्थकररूपा एकत्रिंशत्प्रकृतयः, उच्चैर्गोत्रम्, अन्तरायपञ्चकमिति एकोनपष्टिः अष्टपञ्चाशद्वा प्रकृतयो बन्धे भवन्ति । अपूर्वकरणप्रथमभागे अष्टपञ्चाशदेव, ततः पञ्चसु भागेषु निद्राद्विकविहीना पट्टपञ्चाशत्प्रकृतयो भवन्ति, सप्तमभागे च ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणचतुष्कं, सातवेदनीयं, हास्यरतिभयजुगुप्तापुंवेदसंज्वलनचतुष्टयरूपा नव प्रकृतयो मोहनीयस्य, नाम्नो यशःकीर्तिरूपैका प्रकृतिः, उच्चैर्गोत्रम्, अन्तरायपञ्चकमिति पट्टविंशतिः प्रकृतयो बन्धे भवन्ति । अनिवृत्तिकरणप्रथमभागे हास्यरतिभयजुगुप्तावर्जा द्वाविंशतिः प्रकृतयो, द्वितीयभागे पुंवेदवर्जा एकविंशतिः प्रकृतयः, तृतीयभागे संज्वलनकोधवर्जा विंशतिः प्रकृतयः, चतुर्थभागे संज्वलनमानवर्जा एकोनविंशतिः प्रकृतयः, पञ्चमभागे संज्वलनमायावर्जा अष्टादश प्रकृतयो बन्धे भवन्ति । सूक्ष्मसम्पराये संज्वलनलोभवर्जाः सप्तदशप्रकृतयो बन्धे भवन्ति । उपशान्तमोहादिषु त्रिषु सातवेदनीयरूपा एका प्रकृतिर्वन्धे भवति । अयोगिनि बन्धाभाव इत्युक्तः प्रकृतिबन्धः ॥

॥ गुणस्थानेषु बन्धयन्त्रकम् ॥

| गुणस्था० | ज्ञाना० | दर्शना० | वेदनीय | मोहनीय | आयुः | नाम | गोत्र | अन्त० | सर्वाग्रम् |
|------------------|---------|---------|--------|--------|------|-----|-------|-------|------------|
| ओधे | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६७ | २ | ५ | १२० |
| मिथ्यावे | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६४ | २ | ५ | ११७ |
| सास्त्रादने | ५ | ९ | २ | २४ | ३ | ५१ | २ | ५ | १०१ |
| मिधे | ५ | ६ | २ | १९ | ० | ३६ | १ | ५ | ७४ |
| अविरते | ५ | ६ | २ | १९ | २ | ३७ | १ | ५ | ७७ |
| देशविरते | ५ | ६ | २ | १५ | १ | ३२ | १ | ५ | ६७ |
| प्रमत्ते | ५ | ६ | २ | ११ | १ | ३२ | १ | ५ | ६३ |
| अप्रमत्ते | ५ | ६ | १ | ९ | १-० | ३१ | १ | ५ | ५९-५८ |
| अपूर्व-प्रथम भा० | ५ | ६ | १ | ९ | ० | ३१ | १ | ५ | ५८ |

| अप० २ पाद ६ उभा० | ५ | ४ | ३ | २ | ० | ३१ | ३ | ५ | ५६ |
|------------------|---|---|---|---|---|----|---|---|----|
| अप० सप्तमभा० | ५ | ४ | ३ | २ | ० | १ | १ | ५ | २६ |
| अनि० प्रथमे | ५ | ४ | ३ | ५ | ० | १ | १ | ५ | २२ |
| अनि० द्वितीये | ५ | ४ | ३ | ४ | ० | १ | १ | ५ | २३ |
| अनि० तृतीये | ५ | ४ | ३ | ३ | ० | १ | १ | ५ | २० |
| अनि० चतुर्थे | ५ | ४ | ३ | २ | ० | १ | १ | ५ | १९ |
| अनि० पञ्चमे | ५ | ४ | ३ | ३ | ० | १ | १ | ५ | १८ |
| सूत्रम् | ५ | ४ | ३ | ० | ० | १ | १ | ५ | १७ |
| उप० क्षी० सयो० च | ० | ० | ३ | ० | ० | ० | ० | ० | १ |

अथ गुणस्थानद्वारेण प्रकृतिस्थानसंक्रमस्वामिन उच्यन्ते । अत्र यस्मिन् गुणस्थाने यानि संक्रमस्थानानि प्रतिग्रहस्थानानि चोक्तानि तेषां तत्तद्गुणस्थानवर्तिनः स्वामिनो ज्ञातव्याः । तत्र सत्त्वस्थानानि एव संक्रामन्ति, अतः पूर्वं गुणस्थानेषु सत्त्वस्थानानि प्रतिपाद्यन्ते—तत्र मिथ्यादृष्टेरारभ्य क्षीणमोहं यावत् ज्ञानावरणान्तराययोः पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानं भवति, परतो न भवति, क्षीणत्वात् । तथा वेदनीयगोत्रयोस्तु यद्यपि स्थानसंक्रमो न भवत्येव, यतोऽत्र ब्रह्मादिप्रकृतिसंक्रमसमुदायः प्रकृतिस्थानसंक्रमो विवक्षितः, तदुक्तं न्यायाचार्यैः श्रीमद्यशो-
विजययाचकपुङ्गवैः कर्मप्रकृतिवृत्तौ प्रकृतिसंक्रमाधिकारे—“द्विभ्यादीनां प्रकृतीनां समु-
दायः प्रकृतिस्थानम्” इति, एवं वक्ष्यमाणप्रतिग्रहत्वेऽपि वाच्यम्, तथापि वेदनीयगोत्रयोः
पूर्वपुरुषैः संक्रमस्थानं प्रतिग्रहस्थानं च विवक्षितं, तथा चोक्तं—“वेदनीये गोत्रे सान्यवरस्यां
प्रकृती वक्ष्यमानायामन्यतराऽवक्ष्यमाना प्रकृतिः संक्रामति तेन या यत्र संक्रामति सा तस्याः पतद्ग्रह-
स्थानमिवरा च संक्रमस्थानम्” इत्यस्मानिरपि संक्रमस्थानं प्रतिग्रहस्थानं च प्रतिपाद्यमानत्वेन
तयोः सत्त्वादिस्थानानि प्रतिपाद्यन्त इति । तत्र वेदनीयस्यायोगिगुणस्थानोपान्त्यसमयं यावत्
द्विप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानमन्यतरस्यां प्रकृती क्षीणायमयोगिचरमसमये एकप्रकृत्यात्मकम् ।
गोत्रकर्मणि सात्त्वादनादारभ्यायोगिगुणस्थानोपान्त्यसमयं यावत् द्विप्रकृत्यात्मकं सत्स्थान-
मन्यसमये उच्चैर्गोत्ररूपमेकप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानम्, मिथ्यादृष्टौ तु अनुदृष्टिते उच्चैर्गोत्रे
द्विप्रकृत्यात्मकं, उच्चैर्गोत्रे उदृष्टिते तु तेजोवायूनां तेजोवायुभवादागतानां चैकेन्द्रियादिपू-
त्पज्ञानां यावदुच्चैर्गोत्रं न वध्यते तावदेकप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति । आयुःकर्मणि
त्वागामिभयसत्कं यावदायुष्कं न वध्यते तावदेकप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानम्, पारभविकायु-
र्वन्धे तूपशान्तमोहं यावत् द्विप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानम्, चरमशरीरिणां तु मनुष्यायुष्करू-
पमेकमेव सत्स्थानमिति । दर्शनावरणारूपे द्वितीयकर्मणि त्रीणि सत्स्थानानि, तद्यथा—
नवप्रकृत्यात्मकं, पद्मप्रकृत्यात्मकं, चतुष्प्रकृत्यात्मकं चेति । तत्र मिथ्यादृष्टेरारभ्य यावदुपशा-
न्तमोहं नवप्रकृत्यात्मकमेकमेव सत्स्थानम्, अनिवृत्तिद्वितीयभागात्परतः क्षपकश्रेणिमाश्रित्य
क्षीणमोहोपान्त्यसमयं यावत् पद्मप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानम्, उपशामकस्य नवप्रकृत्यात्मकं

सत्त्वस्थानं दशमगुणस्थानान्त्यसमयं यावद् भवतीति नवमगुणे दशमगुणे चोभयश्रेणीमाश्रित्य सत्त्वस्थानद्वयं भवति, क्षीणमोहान्तसमये च चतुष्प्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानमेकमेव भवति, सयोगिकेवल्लिनि अयोगिकेवल्लिनि च दर्शनावरणीयस्य सत्त्वस्थानं न भवति, क्षीणत्वादिति । मोहनीयकर्मणो मिथ्यादृष्टौ त्रीणि सत्त्वस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः, सप्तविंशतिः, पट्विंशतिः, तत्राष्टाविंशतिर्विमितसम्यक्त्वस्य मिथ्यादृष्टेर्भवति, उद्धलिते सम्यक्त्वमोहनीये तु सप्तविंशतिः, ततोऽपि मिश्रमोहनीये उद्धलिते पट्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा पट्विंशतिः । सास्वादनगुणस्थाने चैकमेवाष्टाविंशतिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति, यतः सास्वादनत्वमौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रपतन्नेव प्राप्नोति, औपशमिकसम्यक्त्वे तु मिथ्यात्वं त्रिधा कृतमेवेति । मिश्रदृष्टौ त्रीणि सत्त्वस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—अष्टाविंशतिः, सप्तविंशतिः, चतुर्विंशतिः, तत्र योऽष्टाविंशतिसत्कर्मा सन् मिश्रत्वं प्राप्तः तस्याष्टाविंशतिसत्त्वस्थानं भवति, येन पुनः मिथ्यादृष्टिना सता सम्यक्त्वमोहनीयमुद्धलितं, सम्यग्मिथ्यात्वं चाद्यापि नोद्धलितुमारब्धमत्रान्तरे परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वतो निर्गत्य मिश्रत्वं प्राप्तस्तस्य सप्तविंशतिसत्त्वस्थानं भवति, यः पुनः पूर्वं सम्यग्दृष्टिः सन्ननन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य पश्चात्परिणामवशातः मिश्रत्वं प्राप्तस्तस्य चतुर्विंशतिप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति, एतत्सत्त्वस्थानं च चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते, यतः चतुर्गतिर्का अपि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयित्वा मिश्रभावं गच्छन्ति । अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्त्वस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्चयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्चेति । तत्र प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वोत्पादकालेऽष्टाविंशतिरेव, यद्वोपशान्तानन्तानुबन्धिनां श्रेणितः प्रतिपाते सति, वेदकसम्यग्दृष्टीनां चाष्टाविंशतिः । उद्धलितानन्तानुबन्धिनामुपशमसम्यग्दृष्टीनां श्रेणितः प्रतिपाते सति, उद्धलितानन्तानुबन्धिनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां च चतुर्विंशतिसत्त्वस्थानं भवति । त्रयोविंशतिसत्त्वस्थानं द्वाविंशतिसत्त्वस्थानं च वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव भवति, तथाहि—कश्चिन्मनुष्यः प्रथमजिनकालादारभ्य जम्बूस्वामिपर्यन्तवर्ती वर्षाष्टकस्योपरिवर्तमानः प्रथमसंहननी वेदकसम्यग्दृष्टिः क्षुपणायाभ्युद्यतोऽनन्तानुबन्धिषु मिथ्यात्वे च क्षपितेषु सत्सु त्रयोविंशतिसत्त्वस्थानं, मिश्रे च क्षपिते द्वाविंशतिसत्त्वस्थानं भवति, द्वाविंशतिसत्कर्मा कश्चित् पूर्वमवद्वायुष्कः सम्यक्त्वमोहनीयं क्षपयन् तच्चरमग्रासे वर्तमानः कालमपि करोति, कालं च कृत्वा चतसृषु गतिष्वन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते, तदुक्तं—“पट्टवगो उ मणुस्तो निट्टवगो चउसु वि गईसु” इति, ततो द्वाविंशतिसत्त्वस्थानं चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते, एकविंशतिसत्त्वस्थानं तु क्षीणसप्तकस्यैव भवतीति । अपूर्वकरणे त्रीणि सत्त्वस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । तत्राद्ये द्वे उपशमश्रेण्यामुपशमसम्यग्दृष्टेरेकविंशतिप्रकृत्यात्मकं क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा भवति । अनिवृत्तिवादे एकादश सत्त्वस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्चयोदश द्वादशैकादश पञ्च चतस्रस्त्रिंशो द्वे एकं च, तत्राद्ये द्वे सत्त्वस्थाने उपशमश्रेण्यामुपशमसम्य-

गृहेर्भवतः, एकविंशतिसत्त्वस्थानं क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां च कपायाष्टकं यावन्न क्षीयते तावद्भवति, क्षपिते तु कपायाष्टके त्रयोदश, नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश, स्त्रीवेदे क्षपिते एकादश, पद्मसु नोकपायेषु क्षीणेषु पञ्च, पुंवेदे क्षपिते चतस्रः, संज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रः, संज्वलनमाने क्षपिते द्वे, ततः संज्वलनमायायां क्षीणायामेकप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं भवति । सूक्ष्मसम्पराये चत्वारि सत्त्वस्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेकं च, तत्राद्ये द्वे उपशमश्रेण्यामौपशमिकसम्यग्दृष्टेः, तृतीयमुपशमश्रेण्यां क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, चतुर्थं क्षपकश्रेण्यामिति । उपशान्तमोहे त्रीणि सत्त्वस्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च, तत्राद्ये द्वे औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां, तृतीयं क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यामिति ।

नामकर्मणो मिथ्यादृष्टौ पद्मसत्त्वस्थानानि भवन्ति, तद्यथा-द्व्युत्तरशतं, पञ्चनवतिः, पञ्चनवतिः, त्रिनवतिः, चतुरशीतिः, व्यशीतिश्च । तत्र चतुर्गतिकानां मिथ्यादृष्टीनां जिनवर्जं द्व्युत्तरशतं सत्त्वस्थानं भवति, वज्रनरकायुष्कस्य वेदकसम्यग्दृष्टेर्जिननामकर्म वज्रा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतस्य नरकेषु च समुत्पन्नमानस्य पण्णवतिसत्त्वस्थानमन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् प्राप्यते, उत्पत्तेरुर्ध्वमन्तर्मुहूर्तानन्तरं तु सोऽपि सम्यक्तत्वं प्रतिपद्यते, पञ्चनवतिसत्त्वस्थानं चतुर्गतिकानां भवति, त्रिनवतिसत्त्वस्थानं चतुरशीतिसत्त्वस्थानं च यथायोगं देवद्विके, नरकद्विके, वैक्रियसप्तके चोद्बलिते सति प्राप्यते, ततश्चैकेन्द्रियभवादुद्धृत्य विकलेन्द्रियेषु, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु, मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पन्नानां सर्वपर्याप्तिभवनार्द्ध्वमप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् लभ्यते, परतोऽवश्यं पञ्चेन्द्रियेषु वैक्रियशरीरादिवन्धसम्भवात् न लभ्यते, व्यशीतिसत्त्वस्थानं तेजोवायूनां मनुजद्विकस्योद्बलिते सति भवति, तेजोवायुभवादुद्धृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु वा समुत्पन्नानामप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावदेतत् प्राप्यते, परतस्तु मनुष्यद्विकस्यावश्यं बन्धसम्भवादिति । सास्वादनगुणस्थाने द्व्युत्तरशतं, पञ्चनवतिश्चेति सत्त्वस्थानद्वयं भवति, तत्र द्व्युत्तरशतमाहारकं वज्रा उपशमश्रेणितः प्रपतन् सास्वादनभावं यः प्राप्तस्तस्य लभ्यते, पञ्चनवतिसत्त्वस्थानं चतुर्गतिकानामपि लभ्यत इति । मिश्रेऽपि सास्वादनवत् द्व्युत्तरशतं, पञ्चनवतिश्चेति सत्त्वस्थानद्वयं प्राप्यते । अपिरतसम्यग्दृष्टौ चत्वारि सत्त्वस्थानानि, तद्यथा-द्व्युत्तरशतं, द्व्युत्तरशतं, पण्णवतिः, पञ्चनवतिश्चेति । तत्र द्व्युत्तरशतमप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा जिननामाहारकयुतमेकविंशद्वन्धस्थानं वज्रा परिणामपरावर्तनेन योऽविरतिं गतस्तस्य, यद्वा यः पश्चादेवो जातस्तमधिकृत्य देवगतां, ततश्चयुतस्य वा मनुजगतां प्राप्यते । तथा य आहारकं वज्रा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वमधिगम्यान्यतमस्यां गतां समुत्पन्नः स तत्र तत्र गतां भूयोऽपि सम्यक्तत्वं प्राप्तः सन् द्व्युत्तरशतप्रकृत्यात्मकसत्त्वस्थानवान् भवति, यद्वाऽवमितसम्यक्तत्वापि चतुर्षु गतिषु द्व्युत्तरशतं भवति । पण्णवतिस्तिर्यग्ब्रह्मास्तु तिसृषु गतिषु प्राप्यते, तेषु जिननामबन्धधरागदः तिर्यग्धु जिननामसत्कर्मानोत्पद्यन्तेऽतस्तद्वर्जनं कृतं । पञ्चनवतिसत्त्वस्थानं चतुर्गतिसत्त्वस्थानं

सम्यग्दृष्टीनां सम्भवतीति । देशविरतिगुणस्थानेऽपि चत्वारि सत्त्वस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—त्र्युत्तरशतं, द्युत्तरशतं, पण्णवतिः, पञ्चनवतिश्च, तत्र त्र्युत्तरशतमप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा जिनाहारकं बद्धा परिणामपरावर्तनेन देशविरतिं प्राप्तस्तस्य भवति, शेषसत्त्वस्थानानां भावनाऽविरतसम्यग्दृष्टेरिव कर्तव्येति । एतान्येव चत्वारि सत्तास्थानानि प्रमत्तसंयताऽप्रमत्तसंयतापूर्वकरणेषु चोपशमश्रेण्यामनिवृत्तिकरणे, सूक्ष्मसम्पराये, उपशान्तमोहे च, क्षप-
कस्य पुनस्त्रयोदशकं यावत् न क्षीयते तावदनिवृत्तिकरणस्यापि भवन्ति । क्षीणे च त्रयोदशके नवतिरेकोननवतिस्त्रयशीतिर्द्व्यशीतिश्चेति चत्वारि सत्त्वस्थानान्यधिकानि भवन्ति, ततोऽनिवृत्तिकरणे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने च सर्वमिलने अष्टावष्टौ भवन्ति । क्षीणमोहे सयोगिकेवलनि च चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा—नवतिरेकोननवति-
स्त्रयशीतिर्द्व्यशीतिरिति । अयोगिकेवलनि च पदं सत्त्वस्थानानि भवन्ति—नवतिरेकोननव-
तिस्त्रयशीतिर्द्व्यशीतिर्नवाष्टौ च, अन्तिमे द्वे स्थाने चरमसमये द्रष्टव्ये इत्युक्तानि सत्तास्थानानि ।

॥ गुणस्थानेषु सत्त्वस्थानस्य यन्त्रकम् ॥

| गुणस्था० | ज्ञाना० | दर्शना० | वेदनीयस्य | मोहस्य | आयुषः | नाभः | गोत्रस्य | अन्तरायस्य |
|-----------------|---------|---------|-----------|--------|-------|------|----------|------------|
| मिथ्वादष्टौ | १ | १ | १ | ३ | २ | १ | २ | १ |
| सास्त्रादने | १ | १ | १ | १ | २ | २ | १ | १ |
| मिश्रे | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ |
| अविरते | १ | १ | १ | ५ | २ | ४ | १ | १ |
| देशविरते | १ | १ | १ | ५ | २ | ४ | १ | १ |
| प्रमत्ते | १ | १ | १ | ५ | २ | ४ | १ | १ |
| अप्रमत्ते | १ | १ | १ | ५ | २ | ४ | १ | १ |
| अपूर्वकरणे | १ | १ | १ | ३ | २ | ४ | १ | १ |
| अनिवृत्तिकरणे | १ | २ | १ | ११ | २ | ८ | १ | १ |
| सूक्ष्मसम्पराये | १ | २ | १ | ४ | २ | ८ | १ | १ |
| उपशान्तमोहे | १ | १ | १ | ३ | २ | ४ | १ | १ |
| क्षीणमोहे | १ | २ | १ | ० | १ | ४ | १ | १ |
| सयोगिनि | ० | ० | १ | ० | १ | ४ | १ | ० |
| अयोगिनि | ० | ० | २ | ० | १ | १ | २ | ० |

अथ गुणस्थानद्वारेण संक्रमस्थानस्वामित्वं प्रतिपाद्यते—तत्र ज्ञानावरणान्तराययोः पञ्च-
प्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानं सूक्ष्मसम्परायं यावत् संक्रामति, न परतः, प्रतिग्रहाभावात् । वेद-
नीयस्य प्रमत्तं यावद् द्वे संक्रमस्थाने भवतः, तद्यथा—सावरूपमसातरूपं च, तत्र यदा

सातवेदनीयं वध्नाति तदाऽसातरूपं संक्रमस्थानं, यदाऽसातवेदनीयं वध्नाति तदा सात-
वेदनीयं संक्रमस्थानं भवति । अग्रमत्तसंयतेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावदसातवेदनीयरूपमे-
कमेव संक्रमस्थानं भवति, न सातवेदनीयं, तस्य प्रतिग्राहकत्वात् । उपशान्तादावेकमपि
संक्रमस्थानं न भवति, सातवेदनीयस्य बन्धसद्भावेऽपि साम्पराधिकबन्धाभावेनाप्रति-
ग्रहत्वात्, असातवेदनीयं न संक्रामतीत्यर्थः । गोत्रकर्मणो मिथ्यादृष्टौ, सास्वादने च
द्वे संक्रमस्थाने भवतः, उच्चैर्गोत्ररूपं, नीचैर्गोत्ररूपं च । तत्र यदा नीचैर्गोत्रं वध्नाति
तदा उच्चैर्गोत्रं संक्रमस्थानं, यदोच्चैर्गोत्रं वध्नाति तदा नीचैर्गोत्रं संक्रमस्थानं भवति ।
मिश्रादारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावत् नीचैर्गोत्ररूपमेकमेव संक्रमस्थानं भवति, उच्चैर्गो-
त्रस्य बध्यमानत्वेन प्रतिग्राहकत्वात्तस्य संक्रमो नास्ति । उपशान्तादौ संक्रमस्थानमेव
न भवति, घन्धाभावेन कस्यापि प्रतिग्रहाभावादिति । दर्शनाचरणीयस्य द्वे संक्रम-
स्थाने भवतः, तद्यथा-नवकं, पङ्कं च, तत्र नवकं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानं यावत् संक्रा-
मति । पङ्कं क्षपकस्य सत्यानङ्घ्रिके क्षपिते अनिवृत्तिकरणे, सूक्ष्मसम्पराये च संक्रामति,
उपशान्तादौ तु न किमपि संक्रामति, प्रतिग्रहाभावात् । मोहनीयस्य पञ्चदशषोडशसप्तद-
शचतुर्विंशत्यष्टाविंशतिवर्जानि एकादीनि सप्तविंशतिपर्यन्तानि प्रागुक्तानि त्रयोविंशतिः
संक्रमस्थानानि । तत्र मिथ्यादृष्टौ चत्वारि संक्रमस्थानानि, तद्यथा-सप्तविंशतिः, पङ्कि-
शतिः, पञ्चविंशतिः, त्रयोविंशतिरिति । तत्राष्टाविंशतिसत्ताकस्य मिथ्यात्वं प्रतिग्रहत्वे
कृतमपनीय शेषाः सप्तविंशतिः संक्रामन्ति, ताश्च पत्योपमासंख्येयभागं यावत्, सम्य-
क्त्वं उद्बलिते सति सप्तविंशतिसत्ताकस्य मिथ्यात्वस्य प्रतिग्रहत्वेन तद्व्यतिरिक्ताः
पङ्किशतिः संक्रामन्ति, ता अपि पत्योपमासंख्येयभागं यावत्, मिथे चोद्बलिते सति
पङ्किशतिसत्ताकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतोऽपार्धपुद्गलपरावर्तं यावत् पञ्चविंशतिः प्र-
कृतयः संक्रामन्ति । यद्वा अनाद्यनन्तकालमभ्यमाश्रित्य भव्यमाश्रित्य चानादिसान्तं
पञ्चविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । उद्बलितानन्तानुबन्धिनो वेदकसम्यग्दृष्टेः परिणा-
मपरावर्त्तनेन प्राप्तमिथ्यात्वस्याष्टाविंशतिसत्ताकस्यावलिकामात्रं यावत् त्रयोविंशतिः प्रकृ-
तयः संक्रामन्ति । सास्वादनेऽष्टाविंशतिसत्ताकस्य पञ्चविंशतिरेव प्रकृतयो जघन्यतः
समयमुत्कृष्टत आवलिकापङ्कं यावत् संक्रामन्ति । केषाञ्चिन्मतेन विसंयोजितानन्तानुब-
न्धिनोऽप्यत्रागच्छन्ति, तन्मते एकविंशतिः प्रकृतयोऽप्युक्तकालं यावत् संक्रामन्ति ।
मिश्रगुणस्थाने द्वे संक्रमस्थाने भवतः, तद्यथा-पञ्चविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्राष्टाविंशति-
सत्ताकस्योद्बलितसम्यक्त्वस्य वा परिणामवशेन मिथ्यात्वं परित्यज्य प्राप्तमिथ्यस्य सप्तविंश-
तिसत्ताकस्थान्तर्मुहूर्त्तं यावत् पञ्चविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति, चतुर्विंशतिसत्ताकस्थान्तर्मुहूर्त्तं
यावदेकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । अविरतसम्यग्दृष्टौ, देशविरते, प्रमत्तसंयते, अग्रम-
त्तसंयते च पञ्च पञ्च संक्रमस्थानानि भवन्ति, तद्यथा-सप्तविंशतिः, पङ्किशतिः, त्रयोविंशतिः,

विंशतिः, एकविंशतिश्चेति । तत्र औपशमिकसम्यग्दृष्टेरावलिकाया ऊर्ध्वं वर्तमानस्याष्टाविंशतिसत्ताकस्य स्वकालं यावत्, वेदकसम्यग्दृष्टेश्च साधिकपट्टपट्टिसागरोपमं यावत् सम्यक्त्वं प्रतिग्रहत्वे कृतमपनीय शेषाः सप्तविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्याष्टाविंशतिसत्ताकस्य सम्यक्त्वं प्रतिग्रहत्वे कृतमपनीय, मिश्रं च संक्रमावलिकान्तर्गतमिति कृत्वा तदप्यपनीय, शेषाः पड्विंशतिः प्रकृतय आवलिकामात्रं यावत् संक्रामन्ति । विसंयोजितानन्तानुबन्धिनो वेदकसम्यग्दृष्टेश्चतुर्विंशतिसत्ताकस्य साधिकपट्टपट्टिसागरोपमं यावत्प्रतिग्रहत्वे कृतं सम्यक्त्वं परित्यज्य शेषास्त्रयोविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । तस्यैव वेदकसम्यग्दृष्टेर्मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिसत्ताकस्यान्तर्मुहूर्तं यावत् द्वाविंशतेः सङ्क्रमो भवति । मिश्रे क्षपिते द्वाविंशतिसत्ताकस्यान्तर्मुहूर्तं यावच्चारित्रमोहनीयस्यैकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति, यद्वा धायिकसम्यग्दृष्टेरैकविंशतिसत्ताकस्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमं यावदेकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । अपूर्वकरणगुणस्थाने द्वे संक्रमस्थाने भवतः, तद्यथा—त्रयोविंशतिः, एकविंशतिश्च । तत्रोद्धतितानन्तानुबन्धिनश्चतुर्विंशतिसत्ताकस्योपशमितानन्तानुबन्धिनो वा अष्टाविंशतिसत्ताकस्य त्रयोविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति, तादृशान्तर्मुहूर्तं यावत् । धायिकसम्यग्दृष्टेरुभयश्रेण्यामन्तर्मुहूर्तं यावदेकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । नयमगुणस्थाने विंशतिः संक्रमस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—त्रयोविंशतिः, द्वाविंशतिः, एकविंशतिः, विंशतिः, एकोनविंशतिः, अष्टादश, चतुर्दश, त्रयोदश, द्वादश, एकादश, दश, नव, अष्ट, सप्त, षट्, पञ्च, चतस्रः, तिस्रः, द्वे, एकश्चेति । तत्र त्रयोविंशतिरुपशमश्रेण्यामौपशमिकसम्यग्दृष्टेश्चतुर्विंशतिसत्ताकस्याष्टाविंशतिसत्ताकस्य वान्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामति । उपशमश्रेण्यामौपशमिकसम्यग्दृष्टेरन्तरकरणे कृते संज्वलनलोभस्य संक्रमाभावेनान्तर्मुहूर्तं यावत् द्वाविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य नपुंसकधेदे चोपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावदेकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति, यद्वा उपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य धायिकसम्यग्दृष्टेरन्तरकरणादर्थात्, यद्वा क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य यावत् कपायाष्टकं न धीयते तावदेकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य स्त्रीवेदे चोपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् विंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति, यद्वा धायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्यान्तरकरणे च कृते संज्वलनलोभस्य संक्रमो न भवतीति तदपनीते शेषा विंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत्संक्रामन्ति । धायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य नपुंसकधेदे उपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावदेकोनविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । धायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य स्त्रीवेदे चोपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावदष्टादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य षट्सु नोरूपायेषूपशान्तेषु समयोनावलिकाद्विकं यावत् चतुर्दश प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य

पुंवेद उपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् त्रयोदश प्रकृतयः संक्रामन्ति, यद्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य कषायाष्टके क्षीणेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् त्रयोदश प्रकृतयः संक्रामन्ति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य हास्यादिपट्टके चोपशान्ते समयोनावलिकाद्विकं यावत् द्वादश प्रकृतयः संक्रामन्ति, यद्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य त्रयोदशप्रकृतीनामन्तरकरणे कृते सति संज्वलनलोभस्य संक्रमाभावेनान्तर्मुहूर्तं यावत् द्वादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-
 वरणक्रोधद्विके उपशान्ते समयोनावलिकाद्विकं यावदेकादश प्रकृतयः संक्रामन्ति, यद्वा उप-
 शमश्रेण्यां वर्तमानस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेः पुंवेदे उपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावदेकादश प्रकृतयः संक्रामन्ति, यद्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टेश्च क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य नपुंसकवेदे क्षीणेऽन्तर्मुहूर्तं यावदेकादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य संज्वलनक्रोध उपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् दश प्रकृतयः संक्रामन्ति, क्षायिकसम्यग्दृष्टेश्च क्षप-
 कश्रेण्यां वर्तमानस्य स्त्रीवेदे क्षपितेऽन्तर्मुहूर्तं यावद्दश प्रकृतयः संक्रामन्ति । क्षायिकसम्य-
 ग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणक्रोधद्विके उपशान्ते समयोना-
 वलिकाद्विकं यावन्नव प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्या-
 प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणमानद्विके उपशान्ते समयोनावलिकाद्विकं यावदष्टौ प्रकृतयः संक्रामन्ति, क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य वा संज्वलनक्रोधे उपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावदष्टौ प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य संज्वलनमाने उपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् सप्त प्रकृतयः संक्रामन्ति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्त-
 मानस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणमानद्विके उपशान्ते समयोनावलिकाद्विकं यावत् षट् प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्या-
 नावरणमायाद्विके उपशान्ते समयोनावलिकाद्विकं यावत् पञ्च प्रकृतयः संक्रामन्ति, क्षायि-
 कसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वा वर्तमानस्य संज्वलनमाने उपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् पञ्च प्रकृ-
 तयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य संज्वलनमायायामुपशा-
 न्तायामन्तर्मुहूर्तं यावच्चतस्रः प्रकृतयः संक्रामन्ति, अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपक-
 श्रेण्यां वर्तमानस्य हास्यादिपट्टके क्षीणे सति समयोनावलिकाद्विकं यावच्चतस्रः प्रकृतयः संक्रामन्ति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणमाया-
 द्विके उपशान्ते समयोनावलिकाद्विकं यावत् तिस्रः प्रकृतयः संक्रामन्ति । क्षायिकसम्यग्दृष्टे-
 रुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य संज्वलनमायायामुपशान्तायामन्तर्मुहूर्तं यावत् प्रकृतिद्विकं संक्रा-
 मति, यद्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य संज्वलनक्रोधे क्षीणे प्रकृतिद्वयम-
 न्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामति, यद्वा उपशमश्रेण्यामौपशमिकसम्यग्दृष्टेः संज्वलनलोभेऽप्रतिग्रहे
 सति प्रकृतिद्वयं संक्रामति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य संज्वलनमाने क्षीणे

एका प्रकृतिरन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामति । सूक्ष्मसम्पराये, उपशान्तमोहे च मिथ्यात्व-
मिश्ररूपं प्रकृतिद्वयं संक्रामति ।

नामकर्मणि मिथ्यादृष्टौ पदं संक्रमस्थानानि, तद्यथा—व्युत्तरशतं, पण्णवतिः, पञ्चनवतिः,
त्रिनवतिः, चतुरशीतिः, द्व्यशीतिरिति । तत्र पण्णवतिस्थानं वद्धजिननामा वेदकसम्यग्दृष्टिः
पूर्ववद्धनरकायुष्कश्चरमान्तर्मुहूर्तं परिणामपरावर्त्तनेन मिथ्यात्वं गतस्तस्य मनुजगतौ,
नरके प्राप्तेऽपर्याप्तावस्थायामन्तर्मुहूर्तं यावन्नरकगतौ च पण्णवतिसत्त्वस्थानं संक्रामति ।
व्युत्तरशतं, पञ्चनवतिश्चेति स्थानद्वयं चतुर्गुंतिकाऽपि संक्रामन्ति । त्रिनवतिश्चतुरशीतिश्चेति
सत्त्वस्थानद्वयं तिर्यङ्मनुष्याणां संक्रामति । द्व्यशीतिसत्त्वस्थानं तिरश्चामेव संक्रामति ।
सास्वादनगुणस्थाने व्युत्तरशतं, पञ्चनवतिरिति द्वयं संक्रामति । तत्र व्युत्तरशतमाहारकं
वद्धा उपशमश्रेणीतः प्रतिपत्तन् यः सास्वादनभावमुपगच्छति तस्य नरस्य संक्रामति । पञ्च-
नवतिसत्त्वस्थानं चतुर्गुंतिकानामपि संक्रमे प्राप्यते । मिश्रगुणस्थाने व्युत्तरशतं, पञ्चनवति-
रिति सत्त्वस्थानद्वयं चतुर्गुंतिकानामपि संक्रामति । अविरतसम्यग्दृष्टौ चत्वारि संक्रम-
स्थानानि संक्रामन्ति, तद्यथा—व्युत्तरशतं, व्युत्तरशतं, पण्णवतिः, पञ्चनवतिरिति । तत्र
व्युत्तरशतमप्रमत्तसंयतोऽपूर्वकरणो वाऽऽहारकं, जिननामकर्म च वद्धा परिणामपरावर्त्तने-
नाविरतो जातः तस्य मनुजगतौ, तस्यैव च देवत्वं प्राप्तस्य देवगतौ संक्रामति, न नरक-
तिर्यग्गत्योः, तत्र तस्याभावात् । व्युत्तरशतस्य पञ्चनवतेश्च संक्रमश्चतुर्गुंतिकानामपि भवति ।
पण्णवतिसत्त्वस्थानं मनुजदेवनारकाणां संक्रामति । देशविरतगुणस्थानेऽपि अविरतसम्य-
ग्दृष्टाविव तान्येव चत्वारि सत्त्वस्थानानि संक्रामन्ति, नवरमप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा तीर्थ-
कराहारकं वद्धा परिणामह्रासेन देशविरतो जात इत्यधिकं वक्तव्यमिति । प्रमत्तसंयतेऽप्र-
मत्तसंयते च व्युत्तरशतं, व्युत्तरशतं, पण्णवतिः, पञ्चनवतिरिति चत्वारि सत्त्वस्थानानि
मनुजस्यैव संक्रामन्ति, शेषगुंतिकानां सर्वविरतिसत्त्वगुणस्थानासम्भवात् । अपूर्वकरणे पदं
संक्रमस्थानानि, तद्यथा—व्युत्तरशतं, पण्णवतिः, व्युत्तरशतं, पञ्चनवतिः, एकोत्तरशतं,
चतुर्णवतिरिति । आद्यानि चत्वार्यपि देवप्रायोग्यवन्धव्यवच्छेदात्पूर्वं संक्रामन्ति, प्रति-
ग्रहत्वेन यशःकीर्तिवर्जानि तान्येव चत्वारि त्रिंशद्बन्धव्यवच्छेदे सति संक्रामन्ति ।
अनिवृत्तिकरणेऽष्टौ संक्रमस्थानानि, तद्यथा—व्युत्तरशतं, एकोत्तरशतं, पञ्चनवतिः, चतु-
र्णवतिः, एकोननवतिः, अष्टाशीतिः, द्व्यशीतिः, एकाशीतिश्चेति । तत्राद्यानि चत्वारि
नामत्रयोदशक्षपणादर्वाक् क्षपकश्रेण्यामुपशमश्रेण्यां च प्रतिग्रहीकृतयशःकीर्तिवर्जं तत्त-
त्सत्ताकस्य संक्रामन्ति । एकोननवत्यादीनि चत्वारि क्षपकाणामेव त्रयोदशक्षपणानन्तरं
संक्रामन्ति । एतान्येवाष्टौ सूक्ष्मसम्परायेऽपि वेदितव्यानि । केवलमाद्यानि चत्वारि उपशम-
श्रेण्यामेव संक्रामन्ति, उपरितनानि तु क्षपकश्रेण्यामेव संक्रामन्ति । उपशान्तादौ तु प्रति-
ग्रहाभावेन न किमपि संक्रामतीत्युक्तानि गुणस्थानेषु संक्रमस्थानानि ।

॥ गुणस्थानेषु संक्रमस्थानयन्त्रकम् ॥

| गुणस्था० | घाता० | दर्शना० | वेदनीय | मोदनीय | आयुः | नाम | गोत्र | जन्तराय |
|--------------|-------|---------|--------|----------------------------|------|-----|-------|---------|
| मिथ्या० | १ | १ | २ | ४ | ० | १ | २-० | १ |
| सास्वा० | १ | १ | २ | १ | ० | २ | २ | १ |
| मिथ० | १ | १ | २ | २ | ० | २ | १ | १ |
| भवि० | १ | १ | २ | ५ | ० | ४ | १ | १ |
| वेदा० | १ | १ | २ | ५ | ० | ४ | १ | १ |
| प्रम० | १ | १ | २ | ५ | ० | ४ | १ | १ |
| भ्रमम० | १ | १ | १ | ५ | ० | ४ | १ | १ |
| भर्प्यक० | १ | १ | १ | १ | ० | १ | १ | १ |
| भनि० | १ | २ | १ | १० | ० | ८ | १ | १ |
| सूक्ष्मसम्प० | १ | २ | १ | मिथ्यात्वमि- थरूपे द्वे | ० | ८ | १ | १ |
| उपशान्तमो० | ० | ० | ० | ॥ | ० | ० | ० | ० |

अथ प्रतिग्रहस्थानस्वामित्वप्रतिपादनावसरः, तत्र प्रायेण यानि बन्धस्थानानि तान्येव प्रतिग्रहस्थानानि भवन्ति, अत एवादी गुणस्थानेषु बन्धस्थानानि प्रतिपाद्यन्ते-तत्र ज्ञाना-
वरणीयस्थान्तरायस्य च मिथ्यादृष्टेरारम्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानं यावत् पञ्च पञ्चमकृत्या-
त्मकं एकैकं बन्धस्थानं भवति, न परतः, बन्धाभावात् । दर्शनावरणीयस्य त्रीणि बन्ध-
स्थानानि, तद्यथा-नवप्रकृत्यात्मकं, पट्प्रकृत्यात्मकं, चतुष्प्रकृत्यात्मकं चेति । तत्र मिथ्या-
दृष्टौ, सास्वादने च नवप्रकृत्यात्मकं वध्नाति, स्थानद्वित्रिकस्य च बन्धव्ययच्छेदे सति
मिश्रदृष्टेरारम्यापूर्वकरणप्रथमभागं यावत् पट् वध्नाति, ततोऽपि निद्राद्विकबन्धव्ययच्छेदे
सति अपूर्वकरणद्वितीयभागादारम्य सूक्ष्मसम्परायं यावत् चतुष्कं वध्नाति । वेदनीयस्य,
गोत्रस्य च द्वे द्वे बन्धस्थाने भवतः । तत्र मिथ्यादृष्टेरारम्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानं यावत्
सातवेदनीयरूपमुच्चैर्गोत्ररूपं च बन्धस्थानं भवति, असातवेदनीयरूपं मिथ्यादृष्टेरारम्य
प्रमत्तगुणस्थानं यावद्वध्नाति, नीचैर्गोत्ररूपं बन्धस्थानं च मिथ्यादृष्टौ, सास्वादने च
वध्नाति । मिथ्यादृष्टौ आयुश्चतुष्कं वध्नाति, सास्वादने गरकपर्जं त्रिकं वध्नाति, मिश्रगु-

स्थाने आयुर्वन्धप्रायोग्याध्यवसायाभावेन नैकमपि वध्नाति, अविरतसम्यग्दृष्टौ देवनारका मनुष्यायुष्कं वध्नन्ति, तिर्यङ्मनुष्याश्च देवायुष्कं वध्नन्ति, देशविरतौ प्रमत्तेऽप्रमत्ते चैकमेव देवायुष्कं वध्यते, उपरितनेषु गुणस्थानकेषु च तद्वन्धप्रायोग्याध्यवसायाभावेन न किमपि आयुष्कं वध्यते । मोहनीयस्य दश बन्धस्थानानि, तद्यथा—द्वाविंशतिः, एकविंशतिः, सप्तदश, त्रयोदश, नव, पञ्च, चतस्रः, तिस्रः, द्वे, एका चेति । तत्र मिथ्यादृष्टौ द्वाविंशतिः, सास्वादने एकविंशतिः, मिश्रेऽविरतसम्यग्दृष्टौ च प्रत्येकं सप्तदश २, देशविरतौ त्रयोदश, प्रमत्तेऽप्रमत्तेऽपूर्वकरणे च प्रत्येकं नव ३, अनिवृत्तिकरणप्रथमभागे पञ्च, द्वितीयभागे चतस्रः, तृतीयभागे तिस्रः, चतुर्थभागे द्वे, पञ्चमभागे चैका वध्यन्ते । अत्र मिथ्यादृष्टौ भङ्गाः त्रिभिर्वेदैर्हास्यादियुगलाभ्यां पद, एवं सास्वादने द्वाभ्यां वेदाभ्यां हास्यादियुगलाभ्यां च चत्वारो भङ्गाः, मिश्रादौ तु पुंवेदस्यैव बन्धात् युगलाभ्यां द्वावेव भङ्गौ, अप्रमत्ते अपूर्वकरणे च हास्यरतिभ्यामेक एव भङ्गः, शोकारत्योर्वन्धव्यवच्छेदादिति विज्ञेयम् । सूक्ष्मादौ वादरकपायोदयाभावात् न किमपि मोहनीयं वध्यते ।

नामकर्मण्यष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः, पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशद्, एकत्रिंशद्, एका चेति । तत्र मिथ्यादृष्टौ षड्वन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः, पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशदिति । अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं वध्नतस्त्रयोविंशतिः, तस्यां च वध्यमानायां वादरसूक्ष्मप्रत्येकसाधारणैर्भङ्गाश्चत्वारः । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यमपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुजप्रायोग्यं च वध्नतः पञ्चविंशतिः, तस्यां च वध्यमानायां पञ्चविंशतिर्भङ्गा भवन्ति, तत्र पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यायां पञ्चविंशतौ वध्यमानायां विंशतिर्भङ्गा भवन्ति, अपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुजप्रायोग्यायां पञ्चविंशतौ वध्यमानायां प्रत्येकमेकैको भङ्ग इति सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिः । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं वध्नतः षड्विंशतिवन्धस्थानं भवति, तत्र भङ्गा आतपोद्योताभ्यां षोडश भवन्ति । देवप्रायोग्यं नरकप्रायोग्यं चाष्टाविंशतिवन्धस्थानं भवति तत्र देवप्रायोग्ये वध्यमानेऽष्टौ भङ्गाः, नरकप्रायोग्ये च वध्यमाने एक एव भङ्गः, एवं सर्वसङ्ख्ययाष्टाविंशतिवन्धे नव भङ्गा भवन्ति । एकोनत्रिंशद्वन्धस्थानमपि द्विविधं भवति, तिर्यग्गतिप्रायोग्यं, मनुजगतिप्रायोग्यं च, तत्र पर्याप्तविकलेन्द्रियप्रायोग्यायामेकोनत्रिंशति वध्यमानायां प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गा भवन्ति, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायामेकोनत्रिंशति वध्यमानायामष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतानि, मनुजगतिप्रायोग्यायामेकोनत्रिंशति वध्यमानायामप्येतावन्त एव भङ्गा भवन्ति, सर्वसङ्ख्यया च चत्वारिंशदधिकद्विनवतिशतानि । जिननामयुता देवगतिप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् मिथ्यादृष्टौ न वध्यते, तीर्थकरणान्नः सम्यक्त्वप्रत्ययत्वात्, मिथ्यादृष्टेश्च तदभावात्, तदुक्तं “सम्भसगुणनिमित्तं तित्थपरं” इति । त्रिंशद्वन्धस्थानं तु मिथ्यादृष्टौ तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव भवति, यत्तु मनुजप्रायोग्यं जिनयुतं त्रिंशद्वन्धस्थानमाहारकद्विकयुतं देवगतिप्रायोग्यं वा त्रिंशद्वन्धस्थानं

तत्र भवति, तयोः सम्यक्त्वसंयमप्रत्ययत्वात्, तदुक्तं—“सम्मतगुणनिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहारं” इति, तत्र पर्याप्तविकलेन्द्रियप्रायोग्यायां त्रिंशति वध्यमानायां प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गा भवन्ति, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां त्रिंशति वध्यमानायां त्वष्टाधिकानि पट्चत्वारिंशच्छतानि । सर्वसङ्ख्यया त्रिंशद्वन्धस्थाने द्वात्रिंशदधिकानि पट्चत्वारिंशच्छतानि भवन्ति, तदुक्तं “चउ पणवीसा सोलस नव चत्ताला सवा य वाणउया । वत्तीसुत्तरच्छायालसया मिच्छस्स वन्धविहा ॥ १ ॥” इति । सास्वादने त्रीणि बन्धस्थानानि, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशदिति । अत्र नरकगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिर्वन्धमेव नायाति, देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिस्तु वध्यते, तस्यां वध्यमानायामष्टौ भङ्गा भवन्ति, तद्वन्धकास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुजाश्च भवन्ति । एकोनत्रिंशद्वन्धस्थानं च मनुजप्रायोग्यं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं वा भवति, न शेषगतिप्रायोग्यं, तच्च चतुर्गतिकाः सास्वादना वध्नन्ति, अत्र भङ्गाश्चतुःपष्टिशतानि, तथाहि—सास्वादनास्तिर्यक्प्रायोग्यं मनुजप्रायोग्यं वा एकोनत्रिंशद्वन्धं वध्नन्तोऽपि हुण्डं सेयात्संहननं च तथास्वाभाव्यात् न वध्नन्ति, ततः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं वध्नन्तः पञ्चभिः संस्थानैः, पञ्चभिः संहननैः, द्वाभ्यां खगतिभ्यां, स्थिरास्थिराभ्यां, शुभाशुभाभ्यां, सुभगदुर्भगाभ्यां, सुस्वरदुस्वराभ्यां, आदेयानादेयाभ्यां, यशःकीर्त्यशःकीर्तिभ्यामिति द्वात्रिंशच्छतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याणि भवन्ति, एतावन्त्येव मनुजगतिप्रायोग्याण्यपि, सर्वसंख्यया चतुःपष्टिशतानि । उद्योतयुतं त्रिंशद्वन्धं तु चतुर्गतिका अपि सास्वादनाः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेव वध्नन्ति । अत्रापि भङ्गानां द्वात्रिंशच्छतानि । सर्वसंख्ययाऽष्टाधिकानि पण्णवतिशतानि, तदुक्तं—“अहं सया वोसड्ढि वत्तीससया य सासणे भणिया । अट्ठावीसाईसुं सघाणट्ठहियछण्णउई ॥ १ ॥” इति । मिश्रगुणस्थाने द्वे भवतः—अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशदिति । तत्र अष्टाविंशतिवन्धस्थानं देवगतिप्रायोग्यं तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुजाश्च वध्नन्ति । देवनैरयिका मनुजगतिप्रायोग्यमेकोनत्रिंशद्वन्धस्थानं वध्नन्ति, तत्र स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-यशःकीर्त्यशःकीर्तिपदैः प्रति बन्धस्थानमष्टावष्टौ भङ्गा भवन्ति । अविरत-सम्यग्दृष्टौ त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशच्च । तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुजा वा देवगतिप्रायोग्यमष्टाविंशतिवन्धं वध्नन्ति, अत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्यशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गा भवन्ति । एवमेव मनुजा देवप्रायोग्यं जिनयुतमेकोनत्रिंशद्वन्धस्थानं वध्नन्ति, देवनारकाश्च मनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशद्वन्धस्थानं वध्नन्ति । एतदेव जिनयुतं मनुष्यगतिप्रायोग्यं त्रिंशद्वन्धस्थानं देवनारका वध्नन्ति । त्रिष्वपि स्थानेषु प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गा भवन्ति । सर्वसङ्ख्यया च द्वात्रिंशत् । देशविरतौ द्वे बन्धस्थाने—अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशदिति । तत्राष्टाविंशतिर्मनुजस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वा देवगतिप्रायोग्यां वध्नतो भवति, तत्राष्टौ भङ्गाः, मनुजस्य जिननामयुतमेकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं देवप्रायोग्यं वध्नतो भवति । अत्राप्यष्टौ भङ्गा भवन्ति । सर्वसङ्ख्यया षोडश । एवमेव प्रमत्तसंयते बन्धस्थानद्वयं वाच्यं, केवलं मनुजस्यैवेति । अप्रमत्तसंयतस्य चत्वारि

वन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशद्, एकत्रिंशच्चेति । तत्राष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशच्च देवप्रायोग्ये ये प्रमत्ते उक्ते तेऽत्रापि तथैव द्रष्टव्ये । अष्टाविंशतिरेव चाहारकद्वययुता त्रिंशत् भवति, सैव जिनयुतैकत्रिंशद्भवति । अत्र चतुर्षु वन्धस्थानेषु एकैक एव भङ्गः प्रतिपक्षाणामप्रशस्तप्रकृतीनां वन्धव्यवच्छेदात् । अपूर्वकरणे पञ्च वन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशद्, एकत्रिंशद्, एका चेति । तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तस्येव, एका च यशःकीर्तिरूपा देवगतिप्रायोग्यवन्धव्यवच्छेदे सति भवति । अनि-
वृत्तिवादरसम्पराये सूक्ष्मसम्पराये च यशःकीर्तिरूपमेकमेव वन्धस्थानं भवतीति उक्तानि
गुणस्थानेषु वन्धस्थानानि ।

॥ गुणस्थानेषु वन्धस्थानयन्त्रम् ॥

| गुणस्था० | ज्ञाना० | दर्शना० | वेदनीय | मोहनीय | आयुः | नाम | गोत्र | अन्तराय |
|----------------|---------|---------|--------|--------|------|-----|-------|---------|
| मिथ्या० | १ | १ | २ | १ | ४ | ६ | २ | १ |
| सास्वा० | १ | १ | २ | १ | ३ | ३ | २ | १ |
| मिश्र० | १ | १ | २ | १ | ० | २ | १ | १ |
| अविर० | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ |
| देशवि० | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | १ |
| प्रमत्त० | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | १ |
| अप्रम० | १ | १ | १ | १ | १-० | ४ | १ | १ |
| अपू० क० | १ | २ | १ | १ | ० | ५ | १ | १ |
| अनि० ,, | १ | १ | १ | ५ | ॥ | १ | १ | १ |
| सूक्ष्मसम्प० | १ | १ | १ | ० | ० | १ | १ | १ |
| उप०क्षी०सयो० च | ० | ० | १ | ० | ॥ | ० | ० | ० |

अथ गुणस्थानद्वारेण प्रतिग्रहस्थानस्वामिनः प्रोच्यन्ते । तत्र ज्ञानावरणान्तराययोः पञ्च प्रकृत्यात्मकमेव प्रतिग्रहस्थानं सूक्ष्मसम्परायं यावत् भवति, परतो वन्धाभावेन प्रतिग्रहाभावात् । दर्शनावरणीयस्य त्रीणि प्रतिग्रहस्थानानि—नवकं, पद्, चतुष्कमिति । तत्र नवकं मिथ्यादृष्टी, सास्वादने च भवति, मिश्रदृष्टेराभ्यापूर्वकरणप्रथमभागं यावत् पद्प्रकृत्या-

त्मकं प्रतिग्रहस्थानं भवति, अपूर्वकरणद्वितीयभागात् सूक्ष्मसम्परायं यावत् चतुष्प्रकृत्या-
 त्मकं प्रतिग्रहस्थानं भवति । वेदनीयस्य प्रमत्तं यावत् सातरूपमसातरूपं वेति प्रतिग्रहस्थान-
 द्वयं भवति, अप्रमत्तात्सूक्ष्मसम्परायं यावत् सातरूपमेकमेव भवति, उपशान्तादौ साम्प-
 रायिकवन्धाभावेन न भवति । गोत्रस्य द्वे प्रतिग्रहस्थाने-उच्चैर्गोत्ररूपं नीचैर्गोत्ररूपं चेति,
 तत्र मिथ्यादृष्टौ द्वे अपि भवतः, उच्चैर्गोत्रे चोद्धलिते तेजोवायूनामेकमपि न भवति, सास्वा-
 दनेऽपि प्रतिग्रहस्थानद्वयं भवति, मिश्रादारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावदुच्चैर्गोत्ररूपमेकमेवेति ।
 मोहनीयस्याष्टादश प्रतिग्रहस्थानानि, तद्यथा-द्वाविंशतिप्रकृत्यात्मकम्, एकविंशतिप्रकृत्या-
 त्मकम्, एकोनविंशतिप्रकृत्यात्मकम्, अष्टादशप्रकृत्यात्मकम्, सप्तदशप्रकृत्यात्मकम्,
 पञ्चदशप्रकृत्यात्मकम्, चतुर्दशप्रकृत्यात्मकम्, त्रयोदशप्रकृत्यात्मकम्, एकादशप्रकृत्यात्म-
 कम्, दशप्रकृत्यात्मकम्, नवप्रकृत्यात्मकम्, सप्तप्रकृत्यात्मकम्, पञ्चप्रकृत्यात्मकम्, पञ्च-
 प्रकृत्यात्मकम्, चतुष्प्रकृत्यात्मकम्, त्रिप्रकृत्यात्मकम्, द्विप्रकृत्यात्मकम्, एकप्रकृत्यात्मक-
 ज्ञेति । तत्राद्यमष्टाविंशतिसत्ताकस्य, सम्यक्त्वे उद्धलिते सप्तविंशतिसत्ताकस्य वा मिथ्यादृष्टौ
 भवति । द्वितीयं सास्वादने मिथ्यादृष्टौ च, तत्र मिथ्यादृष्टौ मिश्रमोहनीये उद्धलितेऽनादि-
 मिथ्यादृष्टौ वा षड्विंशतिसत्ताकस्यैकविंशतिप्रकृत्यात्मकं प्रतिग्रहस्थानं भवति, मिथ्यात्वस्य
 प्रतिग्राह्याभावेन प्रतिग्रहत्वाभावात्, औपशमिकसम्यक्त्वात् प्रतिपत्तः सास्वादनभावं
 प्राप्तस्याप्येतदेव प्रतिग्रहस्थानं भवति । मिश्रदृष्टौ सप्तदशप्रकृत्यात्मकमेकमेव पतद्ग्रहस्थानं
 भवति । अविरतसम्यग्दृष्टौ त्रीणि प्रतिग्रहस्थानानि, तद्यथा-एकोनविंशतिः, अष्टादश,
 सप्तदशेति, तत्र वेदकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेश्च सम्यक्त्वमिश्रयुतं सप्तदशप्रकृत्या-
 त्मकं बन्धस्थानमेव एकोनविंशतिप्रकृत्यात्मकं प्रतिग्रहस्थानं भवति । वेदकसम्यग्दृष्टेर्मिथ्यात्वे
 क्षपिते मिश्रस्य प्रतिग्रहाभावेनाष्टादशप्रकृत्यात्मकं त्रयोविंशतिसत्ताकस्य प्रतिग्रहस्थानं
 भवति, मिश्रे क्षपिते द्वाविंशतिसत्ताकस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्चा सप्तदशप्रकृत्यात्मकं प्रतिग्रह-
 स्थानं भवति । देशविरती एकोनविंशत्यष्टादशसप्तदशप्रकृत्यात्मकान्यप्रत्याख्यानावरणचतु-
 ष्यविहीनानि पञ्चदशचतुर्दशत्रयोदशप्रकृत्यात्मकानि त्रीणि भवन्ति । प्रमत्तसंयते पञ्चदश-
 चतुर्दशत्रयोदशप्रकृत्यात्मकान्येव प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयविहीनान्येकादशदशनवप्रकृत्या-
 त्मकानि त्रीणि भवन्ति । अप्रमत्तसंयतेऽप्येतान्येव, नवरं हास्यरतिरूपं युगलं बोध्यमिति ।
 अपूर्वकरणे औपशमिकसम्यग्दृष्टेरेकादशप्रकृत्यात्मकं, क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्नवप्रकृत्यात्मकञ्च
 प्रतिग्रहस्थानं भवति । अनिवृत्तिकरणे सप्त प्रतिग्रहस्थानानि; तद्यथा-सप्त, पञ्च, पञ्च,
 चतस्रः, तिष्ठः, द्वे, एका चेति । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य सप्तपञ्च-
 चतुःत्रिद्विप्रकृत्यात्मकानि पञ्च प्रतिग्रहस्थानानि भवन्ति, क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्त-
 मानस्य पञ्चचतुःत्रिद्वेकप्रकृत्यात्मकानि पञ्च प्रतिग्रहस्थानानि भवन्ति । सूक्ष्मसम्पराये उप-
 शान्तमोहे च द्विप्रकृत्यात्मकमेकमेव प्रतिग्रहस्थानं भवति । क्षीणमोहादौ तु न भवति,

क्षीणत्वादेवेति । नामकर्मणि तु यथा गुणस्थानेषु ब्रन्धस्थानानि चिन्तितानि तथैव गुणस्थानेषु प्रतिग्रहस्थानान्यपि वाच्यानि ।

॥ गुणस्थानेषु प्रतिग्रहस्थानयन्त्रकम् ॥

| गुणस्था० | ज्ञाना० | दर्शना० | वेदनीय | मोहनीय | आयुः | नाम | गोत्र | अन्तराय |
|------------|---------|---------|--------|--------|------|-----|-------|---------|
| मिथ्या० | १ | १ | २ | २ | ० | ६ | २-० | १ |
| सास्त्रा० | १ | १ | २ | १ | ० | ३ | २ | १ |
| मिश्रे | १ | १ | २ | १ | ० | २ | १ | १ |
| अविरत० | १ | १ | २ | ३ | ० | ३ | १ | १ |
| वैश्वविरती | १ | १ | २ | ३ | ० | २ | १ | १ |
| प्रमत्ते | १ | १ | २ | ३ | ० | २ | १ | १ |
| अप्रमत्ते | १ | १ | १ | ३ | ० | ४ | १ | १ |
| अशुर्वक० | १ | २ | १ | २ | ० | ५ | १ | १ |
| अनिष्ट० | १ | १ | १ | ७ | ० | १ | १ | १ |
| सूक्ष्मसं० | १ | १ | १ | १ | ० | १ | १ | १ |
| उपशान्त० | ० | ० | ० | १ | ० | ० | ० | ० |

अथ संवेधद्वारेण गुणस्थानेषु स्वामित्वं चिन्त्यते—तत्र ज्ञानावरणीयस्य सामान्येन पञ्च-प्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानं पञ्चप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे सूक्ष्मसम्परायं यावत् संक्रामति । मत्यादिज्ञानावरणानां पृथक्प्रकृतिसंकमविवक्षायां तु मतिज्ञानावरणीयं स्वभिन्नचतुष्प्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहस्थाने संक्रामति, एवं श्रुतज्ञानावरणीयं स्वभिन्नचतुष्के प्रतिग्रहस्थाने, एवमवधिमनःपर्यवकेवलज्ञानावरणान्यपि बोध्यानि, एवं ज्ञानावरणस्य पृथक् प्रकृत्यापेक्षया चतुष्प्रकृत्यात्मकानि पञ्च प्रतिग्रहस्थानानि । एवं मतिज्ञानावरणादिपृथक्प्रकृतिप्रतिग्रहविवक्षायां मतिज्ञानावरणे स्वभिन्नचतुष्प्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानं संक्रामति, एवमेव श्रुतावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानावरणेप्यपि ज्ञेयमिति ज्ञानावरणीयस्यचतुष्प्रकृत्यात्मकानि पञ्च संक्रमस्थानानि । एवमेवान्तरायपञ्चकस्यापि बोध्यमिति ।

॥ गुणस्थानेषु प्रथमान्तिमयोः प्रतिग्रहे संक्रमस्थानयन्त्रकम् ॥

| गुणस्थानानि | ज्ञानावरणप्रतिग्रहः | ज्ञानावरणसंक्रमः | अन्तरायप्रतिग्रहः | अन्तरायसंक्रमस्याः |
|-----------------------------|---------------------|------------------|-------------------|--------------------|
| मिथ्या० सूक्ष्मसं- यावत् | ५ | ५ | ५ | ५ |

ज्ञानावरणस्य पृथक्प्रकृतिविवक्षया

| संक्रमप्रकृतिः- | मतिज्ञानावरणम् | ध्रुवज्ञानावरणम् | अवधिज्ञानावरणम् | मन.पर्ववज्ञा- नावरणम् | केवलज्ञानावरणम् |
|--------------------|------------------|--------------------|-------------------|----------------------------|-------------------|
| प्रतिग्रहस्थानम्- | मतिभिन्नचतुष्के | ध्रुवभिन्नचतुष्के | अवधिभिन्नचतुष्के | मन.पर्ववभि- न्नचतुष्के | केवलभिन्नचतुष्के |
| संक्रमस्थानम्- | मतिभिन्नचतुष्कम् | ध्रुवभिन्नचतुष्कम् | अवधिभिन्नचतुष्कम् | मन.पर्ववभिन्न- चतुष्कम् | केवलभिन्नचतुष्कम् |
| प्रतिग्रहप्रकृतिः- | मत्यावरणे | ध्रुवावरणे | अवध्यावरणे | मन.पर्ववज्ञाना- वरणे | केवलज्ञानावरणे |

अन्तरायस्य पृथक्प्रकृतिविवक्षया

| संक्रमप्रकृतिः- | दाना० | लाभा० | भोगा० | उपभोगा० | वीर्या० |
|--------------------|------------------|------------------|------------------|------------------|------------------|
| प्रतिग्रहस्थानम्- | स्वभिन्नचतुष्के | स्वभिन्नचतुष्के | स्वभिन्नचतुष्के | स्वभिन्नचतुष्के | स्वभिन्नचतुष्के |
| संक्रमस्थानम्- | स्वभिन्नचतुष्कम् | स्वभिन्नचतुष्कम् | स्वभिन्नचतुष्कम् | स्वभिन्नचतुष्कम् | स्वभिन्नचतुष्कम् |
| प्रतिग्रहप्रकृतिः- | दानान्तराये | लाभान्तराये | भोगान्तराये | उपभोगान्तराये | वीर्यान्तराये |

तृतीयकर्मणि मिथ्यादृष्टेरारभ्य प्रमत्तं यावत् वध्यमाने सातवेदनीयेऽवध्यमानमसात-
वेदनीयं संक्रामति, अवध्यमानं सातवेदनीयं वध्यमानेऽसातवेदनीये संक्रामति । अप्रमत्ता-
दुपरि सूक्ष्मसम्परायं यावत् सातस्यैव वध्यमानत्वेन सातरूपप्रतिग्रहेऽसातवेदनीयं संक्रा-
मति । उपशान्तादौ साम्परायिकवन्धाभावेन न किमपि संक्रामति । मोक्षकर्मणि वेदनीय-
वद् भावनीयम् । केवलं नीचैर्गोत्रस्य प्रतिग्रहभावो द्वितीयगुणस्थानपर्यन्तो वाच्यः । तेजो-
वायूनां नीचैर्गोत्रस्य वन्धसत्त्वेऽपि उच्चैर्गोत्रोद्भूतित्वे सति प्रतिग्रहत्वा न भवति, प्रतिग्राह्या-
भावादिति ।

॥ गुणस्थानेषु वेदनीयस्य प्रतिग्रहे संक्रमस्थानम् ॥

| गुणस्थानानि | सातस्य प्रतिग्रहे | असातस्य संक्रमस्थानम् | असातस्य प्रतिग्रहे | सातस्यसंक्रमस्थानम् |
|------------------------|-------------------|-----------------------|--------------------|---------------------|
| मिथ्या० प्रम० यावत् | " | " | " | " |
| अप्र० सूक्ष्मसं० यावत् | " | " | ० | ० |

॥ गुणस्थानेषु गोत्रकर्मणः प्रतिग्रहसंक्रमस्थानम् ॥

| गुणस्थानानि | उच्चैर्गोत्रस्य प्रतिग्रहे | नीचैर्गोत्रस्य संक्रमस्थानम् | नीचैर्गोत्रप्रतिग्रहे | उच्चैर्गोत्रस्य संक्रमस्थानम् |
|-----------------------|----------------------------|------------------------------|-----------------------|-------------------------------|
| मिथ्या० सास्त्रा० च | " | " | " | " |
| मिश्र० सूक्ष्म० यावत् | " | " | ० | ० |

दर्शनावरणे त्रीणि प्रतिग्रहस्थानानि, द्वे संक्रमस्थाने च । मिथ्यादृष्टौ, सास्त्रादने च नवप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहस्थाने नवप्रकृत्यात्मकमेकमेव संक्रमस्थानं संक्रामति । अत्रापि पृथक् प्रकृतिसंक्रमप्रतिग्रहविवक्षया स्वभिन्नाष्टप्रकृत्यात्मकानि नव संक्रमस्थानानि, नव प्रतिग्रहस्थानानि च भवन्ति । मिश्रगुणस्थानकादारभ्यापूर्वकरणप्रथमभागं यावत् स्थानद्वित्रिकवर्जपद्मप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहस्थाने नवप्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानं संक्रामति । पृथक् प्रकृतिविवक्षया स्थानद्वित्रिकं तद्भिन्नपद्मप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे संक्रामतीति पद्मप्रकृत्यात्मकानि त्रीणि प्रतिग्रहस्थानानि भवन्ति । शेषदर्शनपदकं स्वभिन्नवध्यमानपञ्चप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे संक्रामतीति पञ्चप्रकृत्यात्मकानि पद्म प्रतिग्रहस्थानानि । संक्रमस्थानानि च वध्यमानप्रतिग्रहप्रकृतिभिन्नाष्टप्रकृत्यात्मकानि पद्म भवन्ति । अपूर्वकरणद्वितीयभागादारभ्योपशमश्रेण्यां सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तं, क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिकरणद्वितीयभागे स्थानद्वित्रिकं यावत् क्षयं न याति तावत् चतुष्कप्रतिग्रहस्थाने नवप्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानं संक्रामति । अत्र वध्यमानप्रतिग्रहप्रकृतिभिन्नाष्टप्रकृत्यात्मकानि चत्वारि संक्रमस्थानानि, चतुष्प्रकृत्यात्मकानि पञ्च प्रतिग्रहस्थानानि, त्रिप्रकृत्यात्मकानि च चत्वारि प्रतिग्रहस्थानानि भवन्ति । स्थानद्वित्रिकक्षयादारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावत् चतुष्प्रकृत्यात्मके पदकं संक्रामति । अत्रापि पृथक्प्रकृतिविवक्षया पञ्चप्रकृत्यात्मकानि चत्वारि संक्रमस्थानानि, चतुष्प्रकृत्यात्मके द्वे प्रतिग्रहस्थाने, त्रिप्रकृत्यात्मकानि च चत्वारि प्रतिग्रहस्थानानि भवन्तीति । ननु प्रथमान्तिमयोः कर्मणोः पञ्चप्रकृत्यात्मकप्रतिग्रहे पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं यथा संक्रामति तद्वत् द्वितीयस्यापि चतुष्प्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे चतुष्प्रकृत्यात्मकं सत्त्वस्थानं कथं न संक्रामतीति चेत् ? उच्यते, प्रथमान्तिमयोरन्यसत्त्वस्थानाभावेन पञ्चप्रकृत्यात्मकमेव संक्रामति, द्वितीयस्य तुपशमश्रेण्यां नवप्रकृत्यात्मकस्य, क्षपकश्रेण्यां पद्मप्रकृत्यात्मकसत्त्वस्थानस्य च सम्भवेन न चतुष्प्रकृत्यात्मकमेव संक्रामति । बन्धाभावे तु संक्रमप्रतिग्रहाभाव एवेति ।

दर्शनावरणस्य पृथक्प्रकृतिविवक्षया

स्वभिन्नाष्टप्रकृत्यात्मकानि नव प्रतिग्रहस्थानानि द्वितीयगुणस्थानं यावत् ।

स्वभिन्नाष्टप्रकृत्यात्मकानि नव संक्रमस्थानानि

”

स्त्यानद्धिन्निकवर्जपट्टप्रकृत्यात्मकानि त्रीणि प्रतिग्रहस्थानानि मिश्रादपूर्वकरणप्रथम भागं यावत् ।

स्त्यानद्धिन्निकवन्धवच्छेदानन्तरं पट्टकवन्धस्थानमध्यात् स्वभिन्नपञ्चप्रकृत्यात्मकानि पट्ट प्रतिग्रहस्थानानि मिश्रादपूर्वकरणप्रथमभागं यावत् ।

स्वभिन्नाष्टप्रकृत्यात्मकानि पट्ट संक्रमस्थानानि मिश्रादपूर्वकरणप्रथमभागं यावत् ।

अपूर्वकरणद्वितीयभागादारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावदुपशमश्रेण्यां चतुष्प्रकृत्यात्मकानि पञ्च प्रतिग्रहस्थानानि, वध्यमानमध्यात् स्वभिन्नत्रिप्रकृत्यात्मकानि चत्वारि प्रतिग्रहस्थानानि, तथा वध्यमानमध्यात् स्वभिन्नाष्टप्रकृत्यात्मकानि चत्वारि संक्रमस्थानानि भवन्ति । क्षपकश्रेण्यां पुनः स्त्यानद्धिन्निकक्षयानन्तरं पञ्चप्रकृत्यात्मकानि चत्वारि संक्रमस्थानानि, प्रतिग्रहस्थानानि च पट्ट-त्रिप्रकृत्यात्मकानि चत्वारि, चतुष्प्रकृत्यात्मके च द्वे ।

॥ गुणस्थानेषु दर्शनावरणस्य प्रतिग्रहसंक्रमस्थानयन्त्रम् ॥

| गुणस्थानानि | १ प्रति- ग्रहे | १ संक्रम स्थानम् | ६ प्रति० | १ संक्र० | ४ प्रति० | १ सं० | ६ सं० |
|--------------------------|-------------------|---------------------|----------|----------|---------------|------------|------------|
| मिथ्या० सास्त्र० च | ” | ” | ० | ० | ० | ० | ० |
| मिश्र० दावदप्रमत्ते | ० | ० | ६ प्रति० | १ सं० | ० | ० | ० |
| भपूर्वकरणप्र० । ” २-६ | ० ० | ० ० | ” ० | ” ० | ० ४ प्रति० | ० १ सं० | ० ६ सं० |
| मनिट्ट० सूक्ष्मसं० च | ० | ० | ० | ० | ” | ” | ” |

मोहनीयस्य प्रागुक्तस्वरूपाणि त्रयोविंशतिः संक्रमस्थानानि, अष्टादश प्रतिग्रहस्थानानि च । तत्र मिथ्यादृष्टौ चत्वारि संक्रमस्थानानि, तद्यथा-सप्तविंशतिः, पर्द्विंशतिः, पञ्चविंशतिः, त्रयोविंशतिरिति, द्वे प्रतिग्रहस्थाने च-द्वाविंशतिरेकविंशतिरिति । अष्टाविंशतिसत्ताकस्य प्रतिग्रहत्वं कृतं मिथ्यात्वमपनीय शेषाः सप्तविंशतिः प्रकृतयः षोडशकपायभयजुगुप्साहास्यरतियुगलपुंवेदमिथ्यात्वरूपे प्रतिग्रहे, यद्वा षोडशकपायभयजुगुप्साहास्यरतियुगलनपुंसकवेदमिथ्यात्वरूपे प्रतिग्रहे, यद्वा षोडशकपायभयजुगुप्साऽरतिशोकयुगलपुंवेदमिथ्यात्वरूपे प्रतिग्रहे, अथवा षोडशकपायभयजुगुप्साऽरतिशोकयुगलनपुंसकवेदमिथ्यात्वरूपे प्रतिग्रहे, यद्वा षोडशकपायभयजुगुप्साऽरतिशोकयुगलनपुंसकवेदमिथ्यात्वरूपे प्रतिग्रहे, एवं पट्टप्रकारे द्वाविंशतिप्रतिग्रहे

पल्योपमासङ्ख्येयभागं यावत् संक्रामन्ति । पृथक् प्रकृतिसंक्रमप्रकृतिप्रतिग्रहविवक्षया तु प्रायेण यावन्त्यः संक्रमप्रकृतयस्तावत्सङ्ख्याकानि प्रतिग्रहस्थानानि, यावन्त्यः प्रतिग्रहप्रकृतयः तावत्सङ्ख्याकानि संक्रमस्थानानि भवन्ति । तत्र पञ्चविंशतिप्रकृतयश्चारित्रमोहात्मके एकविंशतिप्रतिग्रहे, दर्शनद्विकं च मिथ्यात्वे संक्रामति । एतदेव भावयामः—अनन्तानुबन्धिक्रोधप्रतिग्रहेऽनन्तानुबन्धिक्रोधवर्जशेषचतुर्विंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति, अनन्तानुबन्धिमानेऽनन्तानुबन्धिमानवर्जशेषाश्चतुर्विंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति, अनन्तानुबन्धिमायायां अनन्तानुबन्धिमायावर्जशेषाश्चतुर्विंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति, अनन्तानुबन्धिलोभेऽनन्तानुबन्धिलोभवर्जशेषाश्चतुर्विंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति, एवमप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनक्रोधमानमायालोभभयजुगुप्साहास्यरतिपुंवेदादिरूपेषु प्रतिग्रहेष्वपि चतुर्विंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्तीति चारित्रमोहनीयसत्त्वानि चतुर्विंशतिप्रकृत्यात्मकानि एकविंशतिसंक्रमस्थानानि, दर्शनद्विकरूपमेकं च मिथ्यात्वरूपे प्रतिग्रहे संक्रामतीति द्वाविंशतिसंक्रमस्थानानि ज्ञेयानि । उद्धलितसम्यक्त्वस्य मिथ्यादृष्टेस्तु यदा मिश्रं मिथ्यात्वे संक्रामति तदा न संक्रमस्थानमेकस्याः प्रकृतेः संक्रम्यमाणत्वात्, वेदनीयवद्विवक्षायां त्वेकप्रकृत्यात्मकमपि संक्रमस्थानं भवतीति द्वाविंशतौ एकस्याः प्रक्षेपे त्रयोविंशतिः संक्रमस्थानानि भवन्ति । वध्यमानानन्तानुबन्धिक्रोधस्य स्वभिन्नवध्यमानविंशतिप्रकृतिषु संक्रमो भवति, एवं शेषाणामपि वध्यमानानां प्रकृतीनां स्वभिन्नवध्यमानासु विंशतिप्रकृतिषु संक्रमो भवतीति चारित्रमोहनीयसत्त्वानि विंशतिप्रकृत्यात्मकानि एकविंशतिप्रतिग्रहस्थानानि । अरतिशोकस्त्रीवेदनपुंसकवेदानामवध्यमानानां वध्यमानासु एकविंशतिप्रकृतिषु संक्रमो भवतीति चतसृणामेकविंशतिप्रकृत्यात्मकानि चत्वारि प्रतिग्रहस्थानानीति चारित्रमोहनीयस्य पञ्चविंशतिप्रतिग्रहस्थानानि । दर्शनद्विकस्य मिथ्यात्वरूपे प्रतिग्रहे संक्रमो भवति; अत्र यद्यपि प्रतिग्रहस्थानं नास्ति, तथापि एकस्या अपि प्रकृतेः सातवेदनीयादिवत्स्थानं विवक्षणीयमाधेयभेदाच्चाधारस्यापि भेदत्वादिति सप्तविंशतिः प्रतिग्रहस्थानानि । एवं शेषविकल्पपञ्चकेऽपि या वध्यमानाः प्रकृतयस्ता विंशतिप्रकृत्यात्मकप्रतिग्रहस्थानेषु संक्रामन्ति । पदसु विकल्पेषु परिभाव्यमानानां संक्रमस्थानामष्टात्रिंशदधिकं शतं भवति, अवध्यमानास्तु एकविंशतिप्रकृत्यात्मकप्रतिग्रहस्थानेषु संक्रामन्ति, प्रतिग्रहस्थानानां तु द्विपञ्चमिकं शतमिति । सम्यक्त्वमोहनीये उद्धलिते तु सप्तविंशतिसत्ताकस्य पड्विंशतिप्रकृतयस्तस्मिन्नेव द्वाविंशतिप्रतिग्रहे पल्योपमासङ्ख्येयभागं यावत् संक्रामन्ति । मिश्रे चोद्धलिते पड्विंशतिसत्ताकस्याऽपार्थपुद्गलपरावर्तं यावत्, अनादिमिथ्यादृष्टायनन्तं कालं यावदेकविंशतिप्रतिग्रहे पञ्चविंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । विसंयोजितानन्तानुबन्धिनः पुनः परिणामपरावर्त्तनेन मिथ्यात्वं गतस्याष्टाविंशतिसत्ताकस्यावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य तस्मिन्नेव द्वाविंशतिप्रतिग्रहे त्रयोविंशतिप्रकृतय आवलिकां यावत् संक्रामन्ति । पृथक् प्रकृतिसंक्रमप्रकृतिप्रतिग्रहविवक्षायां तु पड्विंशतिपञ्चविंशतित्रयोविंशतिसंक्रमस्थानानि सप्तविंशतिसंक्रमस्थानवद्वाच्यानि, योऽत्र विशेषः स उच्यते—पड्विंशतिसंक्रमस्थाने

संक्रम्यमाणे सम्यक्त्वमोहनीयसत्त्वं प्रतिग्रहस्थानं न भवति, पञ्चविंशतिसंक्रमे दर्शनमोह-
सत्त्वानि संक्रमप्रतिग्रहस्थानानि न वाच्यानि, त्रयोविंशतिसंक्रमस्थानेऽनन्तानुबन्धवर्जचा-
रित्रमोहसत्त्वैकविंशतिः प्रकृतयो वध्यमानानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनक्रो-
धमानमायालोभभयजुगुप्सान्यतमवेदान्यतरयुगलरूपे संक्रामन्ति, मिथ्यात्वे च दर्शनद्विकं
संक्रामतीति । तत्रापि वध्यमानानन्तानुबन्धिचतुष्के एकविंशतिरेकविंशतिः प्रकृतयः संक्रा-
मन्तीति चत्वारि एकविंशतिप्रकृत्यात्मकानि संक्रमस्थानानि, वध्यमानासु शेषासु स्वभिन्नविं-
शतिप्रकृत्यात्मकं २ संक्रमस्थानं संक्रामतीति विंशतिप्रकृत्यात्मकानि सप्तदश संक्रमस्थानानि,
मिथ्यात्वे दर्शनमोहद्विकं संक्रामतीति सर्वसंख्यया द्वाविंशतिः संक्रमस्थानानि भवन्ति । बन्धा-
वलिकान्तर्गतमिति कृत्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयसत्त्वानि प्रतिग्रहस्थानानि परित्यज्य शेषव-
ध्यमानानां स्वभिन्नविंशतिप्रकृत्यात्मकानि सप्तदश, अवध्यमानानामेकविंशतिप्रकृत्यात्मकानि
चत्वारितीति सर्वसंख्यया चारित्रमोहनीयसत्त्वानि एकविंशतिप्रतिग्रहस्थानानि, दर्शनमोहसत्त्वं
चाधेयभेदात् द्वयमिति कृत्वा त्रयोविंशतिप्रतिग्रहस्थानानि भवन्ति । एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र
पृथक्प्रकृतिसंक्रमप्रतिग्रहविवक्षायां स्वयं संक्रमस्थानानि प्रतिग्रहस्थानानि च परिभाष-
नीयानि । सर्वत्राधेयभेदात् प्रतिग्रहस्थानानि, आधारभेदाच्च संक्रमस्थानानि वाच्यानि ।

॥ गुणस्थानेषु मोहनीयस्य संक्रमपदग्रहसंवेधः ॥

॥ १ मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने ॥

| संक्रमस्थानं | पदग्रहस्थाने संक्रामति | संक्रमणकाल उत्कृष्टः | सप्तमये संस्थानम् | धन्यस्थानं |
|--------------|---------------------------|------------------------------------|----------------------|------------|
| २७ | २२ | पत्योपभासंख्येयभागः | २८ | २२ |
| २६ | " | " | २७ | " |
| २५ | २१ | मिश्रे उद्बलितेऽप्यर्बुदगलपरावर्तः | २६ | " |
| " | " | भ्रमासुसम्यक्त्वस्थानन्तकालः | " | " |
| २३ | २२ | १ आवलिका | २८ | " |

सास्वादनेऽष्टाविंशतिसत्त्वाकस्य पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकमेकमेव चारित्रमोहसत्त्वं संक्रम-
स्थानं जघन्येन समयमेकमुत्कृष्टत आवलिकापट्टं यावत् चतुष्प्रकारे एकविंशतिप्रतिग्रहे
संक्रामति । मतान्तरेणैकविंशतिप्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानमेकविंशतिप्रतिग्रहे संक्रामति ।

॥ २ सास्वादनगुणस्थाने ॥

| | | | | |
|----|----|-----------------------|----|----|
| २५ | २१ | ६ आवलिका | २८ | २१ |
| २१ | २१ | " मतान्तरेणासौ संवेधः | २४ | " |

मिश्रगुणस्थाने द्वे द्वे संक्रमस्थाने प्रतिग्रहस्थाने च । तत्राष्टाविंशतिसत्ताकस्याद्यवर्ज-
कपायद्वादशभयजुगुप्साहास्यरतियुगलारतिशोकयुगलान्यतरयुगलपुंवेदरूपसप्तदशप्रतिग्रहे
दर्शनत्रिकवर्जपञ्चविंशतिप्रकृतिस्थानमन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामति, यद्वोद्वलितसम्यक्त्वस्य
सप्तविंशतिसत्ताकस्य पुनः प्राप्तमिश्रस्यान्तर्मुहूर्तं यावत्पञ्चविंशतिः संक्रामति । विसंयोजि-
तानन्तानुबन्धिनश्चतुर्विंशतिसत्ताकस्य तस्मिन्नेव प्रतिग्रहे एकविंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं
यावत् संक्रामन्ति, तदेवमुक्तः संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां त्रिषु गुणस्थानेषु संवेधः ।

॥ ३ मिश्रगुणस्थाने ॥

| | | | | |
|----|----|----------------|-------|----|
| २५ | १७ | अन्तर्मुहूर्तः | २८-२७ | १७ |
| २१ | " | " | २४ | " |

अविरतसम्यग्दृष्टौ पञ्च संक्रमस्थानानि, तद्यथा—सप्तविंशतिः, षड्विंशतिः, त्रयोविंशतिः,
द्वाविंशतिः, एकविंशतिरिति, त्रीणि प्रतिग्रहस्थानानि च, तद्यथा—एकोनविंशतिः, अष्टादश,
सप्तदश चेति । तत्राविरतसम्यग्दृष्टेराष्टाविंशतिसत्ताकस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभप्रथमसमया-
दारभ्यावलिकाया ऊर्ध्वं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमं यावत् सम्यक्त्वमोहनीयस्य प्रतिग्रहत्वेन
तद्व्यतिरिक्ताः शेषाः सप्तविंशतिराद्यकपायवर्जशेषद्वादशकपायपुरुषवेदभयजुगुप्साहास्यरति-
युगलारतिशोकयुगलान्यतरयुगलसम्यक्त्वमिश्रलक्षणैकोनविंशतिप्रकृतिसमुदायरूपे प्रतिग्रहे
संक्रामति । अष्टाविंशतिसत्ताकस्यौपशमिकसम्यग्दृष्टेरावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्याव-
लिकामात्रं यावत् मिश्रमोहनीयस्य सम्यक्त्वमोहनीयस्य च प्रतिग्रहमात्रत्वेन तच्छेषाः षड्विं-
शतिः प्रकृतयः तस्मिन्नेवैकोनविंशतिप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । तथा विसंयोजितानन्तानुबन्धिनां
क्षायौपशमिकदृष्टीनां चतुर्विंशतिसत्कर्मणां सम्यक्त्वमोहनीयस्य पतद्ग्रहमात्रत्वेन तद्वर्जाः
शेषास्त्रयोविंशतिः प्रकृतयः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमं यावत् तस्मिन्नेवैकोनविंशतिपत-
द्ग्रहे संक्रामन्ति । क्षपितानन्तानुबन्धिनो मिथ्यात्वमोहनीयक्षीणे त्रयोविंशतिसत्ताकस्य
वेदकसम्यग्दृष्टेर्मिश्रमोहनीयस्य पतद्ग्रहाभावात् तद्वर्जशेषाष्टादशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे
द्वाविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति, ताश्चान्तर्मुहूर्तं यावत् । ततो मिश्रमोहनीये क्षपिते द्वाविं-
शतिसत्ताकस्य वेदकसम्यग्दृष्टेरन्तर्मुहूर्तं यावत् सम्यक्त्वमोहनीयस्यापि पतद्ग्रहाभावेन
तच्छेषसप्तदशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे एकविंशतिः प्रकृतयश्चारित्रमोहनीयसत्काः संक्रामन्ति ।
यद्वैकविंशतिसत्ताकस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमं यावत् प्रागुक्ते एव
सप्तदशप्रकृत्यात्मके पतद्ग्रहे एकविंशतिः प्रकृतयश्चारित्रमोहनीयसत्काः संक्रामन्ति, तदेवं
तुर्यगुणस्थाने संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेध उक्तः ।

॥ ४ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने ॥

| सं० | पत० | कालः | स्वामिनः | सत् | वन्धः |
|-----|-----|-----------------------------|---|-----|-------|
| २७ | १९ | अन्तर्मु० साधिक ३३ सागराश्च | उपशमक्षयोपशमस० दृष्टी | २८ | १७ |
| २८ | " | १ आवलिका | उपशमदृष्टिः | " | " |
| २९ | " | साधिक ३३ सागराः | विसंयोजितानन्तानुबन्धिकक्षयोप- शमदृष्टिः | २४ | " |
| ३० | १८ | अन्तर्मुहूर्तः | क्षीणमिध्यात्वसंयोजनः | २३ | " |
| ३१ | १७ | " | क्षीणमिध्यात्वमिश्रसंयोजनः | २२ | " |
| ३२ | १६ | साधिक ३३ सागराः | क्षायिकदृष्टिः | २१ | " |

अथ देशविरतस्य संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेध उच्यते-तत्राष्टाविंशतिसत्ताकस्य देश-
विरतस्यापशमिकसम्यक्त्वलाभप्रथमसमयादारभ्यावलिकायाः परतो देशोनपूर्वकोटीं यावत्
मिध्यात्वमिश्रयोः सम्यक्त्वमोहनीयं प्रतिग्रहत्वे कृतमपनीय शेषाः सप्तविंशतिप्रकृतयः प्रत्या-
ख्यानसंज्वलनकपायाष्टकपुंवेदभयजुगुप्साहास्वरतियुगलारतिशोकयुगलान्यतरयुगलसम्य-
क्त्वमिश्ररूपे पञ्चदशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे संक्रामन्ति । अष्टाविंशतिसत्ताकस्य देशविरतस्य
प्रासापशमिकसम्यग्दृष्टेरावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्यावलिकामात्रं यावत् मिश्रमोहनी-
यस्य, सम्यक्त्वमोहनीयस्य च पतद्ग्रहत्वेन तद्वर्जाः शेषाः पञ्चविंशतिप्रकृतयस्तस्मिन्नेव पञ्च-
दशप्रकृतिरूपे संक्रामन्ति । तथा विसंयोजितानन्तानुबन्धनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां चतुर्विंश-
तिसत्ताकानां देशविरतानां सम्यक्त्वमोहनीयं प्रतिग्रहत्वे कृतं तद्विहाय शेषाः त्रयोविंशतिः
प्रकृतयः देशोनपूर्वकोटिं यावत् पञ्चदशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे संक्रामन्ति । तथा क्षपितान-
न्तानुबन्धनो मिध्यात्वमोहनीये क्षपिते त्रयोविंशतिसत्ताकस्य वेदकसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य
संक्रममाणदलाभावेन मिश्रमोहनीयस्य प्रतिग्रहाभावात् तद्विहाय शेषचतुर्दशप्रकृत्यात्मके
प्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् द्वाविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततो मिश्रमोहनीये क्षपिते द्वाविं-
शतिसत्ताकस्य वेदकसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य सम्यक्त्वमोहस्यापि प्रतिग्रहाभावेन तच्छेषत्रयो-
दशप्रकृत्यात्मकप्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावदेकविंशतिः प्रकृतयश्चारित्रमोहसत्ताः संक्रामन्ति ।
यद्वेकविंशतिसत्ताकस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य देशोनपूर्वकोटिं यावत् प्रागुक्ते एव
त्रयोदशप्रकृत्यात्मके एकविंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । तदेवमुक्तं देशविरतस्य संक्रमप्रति-
ग्रहस्थानानां संवेधः ।

॥ ५ देशविरतगुणस्थाने ॥

| सं० | पत० | कालः | स्वामिनः | सत् | वन्धः |
|-----|-----|----------------------------------|-------------------------------|-----|-------|
| २७ | १५ | अन्तर्मु० देशोनपूर्वकोटिं यावच्च | उपशमक्षयोपशमदृष्टी | २८ | १३ |
| २८ | " | १ आवलिका | उपशमदृष्टिः | " | " |
| २९ | " | देशोनपूर्वको० | विसंयो० संयोजनक्षयोप० दृष्टिः | २४ | " |

| | | | | | |
|----|----|----------------|----------------------------------|----|---|
| २२ | १४ | अन्तर्मुहूर्तः | क्षीणमिध्यात्वसंयोजनवेदकदृष्टिः | २३ | ॥ |
| २१ | १३ | ॥ | क्षीणमिध्यात्वमिधसं० वेदकदृष्टिः | २२ | ॥ |
| ॥ | ॥ | देशोनपूर्वको० | क्षायिकदृष्टिः | २१ | ॥ |

अथ प्रमत्तस्य संवेध उच्यते—तत्राष्टाविंशतिसत्ताकस्य प्रमत्तसंयतस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभप्रथमसमयादारभ्यावलिकायाः परतोऽन्तर्मुहूर्तं यावत्, मतान्तरेण देशोनपूर्वकोटीं यावत्, सम्यक्त्वमोहनीयस्य प्रतिग्रहत्वेन तद्वर्जाः शेषाः सप्तविंशतिः प्रकृतयः संज्वलनचतुष्टयपुंवेदभयजुगुप्ताहास्यरतियुगलारतिशोकयुगलान्यतरयुगलसम्यक्त्वमोहनीयमिश्रमोहनीयरूपैकादशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे संक्रामन्ति । अष्टाविंशतिसत्ताकस्यौपशमिकसम्यग्दृष्टेः प्रमत्तसंयतस्यावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्यावलिकामात्रं यावत् मिश्रमोहनीयस्य, सम्यक्त्वमोहनीयस्य च प्रतिग्रहत्वेन तद्वर्जाः शेषाः षड्विंशतिः प्रकृतयः तस्मिन्नेवैकादशप्रकृत्यात्मके पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । तथा विसंयोजितानन्तानुबन्धिनः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टेश्चतुर्विंशतिसत्ताकस्य प्रमत्तयतेः सम्यक्त्वमोहस्य प्रतिग्रहत्वेन तद्वर्जाः शेषाः त्रयोविंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत्, मतान्तरेण देशोनपूर्वकोटीं यावत्, तस्मिन्नेवैकादशप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । क्षपितानन्तानुबन्धिनो मिध्यात्वमोहनीये क्षपिते त्रयोविंशतिसत्ताकस्य वेदकसम्यग्दृष्टेः प्रमत्तयतेर्मिश्रमोहस्य प्रतिग्रहाभावात् तद्वर्जशेषदशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् द्वाविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततो मिश्रमोहनीये क्षपिते द्वाविंशतिसत्ताकस्य वेदकसम्यग्दृष्टेः प्रमत्तसंयतस्य सम्यक्त्वमोहनीयस्यापि पतद्ग्रहाभावेन तच्छेषे नवप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावदेकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । यद्वैकविंशतिसत्ताकस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेः प्रमत्तसंयतस्यान्तर्मुहूर्तं, मतान्तरेण देशोनपूर्वकोटीं यावत्, प्रागुक्ते एव नवप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे एकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । तदेवमुक्तं प्रमत्तयतेः संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधः । अप्रमत्तयतेरप्येवमेवान्यूनानतिरिक्तः संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधो वाच्यः । नवरं प्रतिग्रहे हास्यरतिरूपमेव युगलं बोध्यम्, शोकारत्योः बन्धव्यवच्छेदात्, मतान्तरोऽप्यत्र न वाच्यः । अप्रमत्तगुणस्थाने तु देशोनपूर्वकोटिकालवर्जं सर्वं प्रमत्तयज्ञेयम् ।

॥ ६ प्रमत्तगुणस्थाने ॥

| सं० | पत० | कालः | स्वामिनः | सत् | बन्धः |
|-----|-----|------------------------------------|-----------------------------------|-----|-------|
| २७ | ११ | अन्तर्मुहूर्तं, देशोनपूर्वकोटिर्वा | उपशमदृष्टिवेदकरटिर्वा. | २८ | ९ |
| २६ | ॥ | आवलिका | उपशमदृष्टिः | २८ | ॥ |
| २३ | ॥ | अन्तर्मुहूर्तं देशोनपूर्वकोटिर्वा | विसंयोजितसंयोजनो वेदकदृष्टिः | २४ | ॥ |
| २२ | १० | अन्तर्मुहूर्तम् | क्षीणमिध्यात्वसंयोजनो वेदकदृष्टिः | २३ | ॥ |
| २१ | ९ | ॥ | क्षीणमिध्यात्वमिधसं० वेदकदृष्टिः | २२ | ॥ |
| ॥ | ॥ | अन्तर्मुहूर्तं देशोनपूर्वकोटिर्वा | क्षीणमिधवेदकक्षायिकदृष्टि | २१ | ॥ |

अपूर्वकरणे चतुर्विंशतिसत्कर्मणां मतान्तरेणाष्टाविंशतिसत्कर्मणामुपशमसम्यग्दृष्टीनां सम्यक्त्वमोहनीयस्य प्रतिग्रहमात्रत्वेनानन्तानुबन्धिनां चोपशान्तत्वेन विसंयोजितत्वेन वा तद्वर्जाः शेषास्त्रयोविंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संज्वलनचतुष्टयपुंवेदभयजुगुप्साहास्य-रतियुगलसम्यक्त्वमिश्ररूपे एकादशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे संक्रामन्ति । एकविंशतिसत्ताकस्य क्षापिकसम्यग्दृष्टेर्दृष्टिद्विकयर्जनवप्रकृतिरूपे प्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् एकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । उक्तोऽपूर्वकरणे संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधः ।

॥ ८ अपूर्वकरणगुणस्थाने ॥

| सं० | पत० | कालः | स्वामिनः | सत् | बन्धः |
|-----|-----|-----------------|----------------|-------|-------|
| १३ | ११ | अन्तर्मुहूर्तम् | उपशमदृष्टिः | २४-२६ | ९ |
| २१ | ९ | " | क्षापिकदृष्टिः | २१ | " |

नवमगुणस्थाने सप्तकप्रतिग्रहे त्रयोविंशतिर्द्वाविंशत्येकविंशतिर्विंशतिरूपाश्चत्वारः संक्रमाः संक्रामन्ति । पट्कप्रतिग्रहे विंशतिचतुर्दशत्रयोदशरूपास्त्रयः संक्रमाः संक्रामन्ति । पञ्चकप्रतिग्रहे एकविंशतिर्विंशत्येकोनविंशत्यष्टादशत्रयोदशद्वादशैकादशदशरूपा अष्टौ संक्रमाः संक्रामन्ति । चतुष्कप्रतिग्रहेऽष्टादशद्वादशैकादशदशाष्टसप्तचतुष्प्रकृतिरूपाः सप्त संक्रमाः संक्रामन्ति । त्रिकप्रतिग्रहे एकादशनवाष्टसप्तपञ्चचतुस्त्रिरूपाः सप्त संक्रमाः संक्रामन्ति । द्विकप्रतिग्रहे अष्टपट्पञ्चद्विरूपाश्चत्वारः संक्रमाः संक्रामन्ति । एकप्रतिग्रहे पञ्च-त्रिद्व्येकरूपाश्चत्वारः संक्रमाः संक्रामन्ति । एतेषां श्रेणिद्वयमाश्रित्य भावना क्रियते, तत्र पूर्वमौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधविधिरु-च्यते—तत्र सम्यक्त्वस्य मिथ्यात्वमिश्रयोः प्रतिग्रहत्वेन तद्वर्जाः शेषास्त्रयोविंशतिः प्रकृतयश्चतुर्विंशतिसत्कर्मणां पुंवेदसंज्वलनचतुष्टयमिश्रसम्यक्त्वलक्षणे सप्तकरूपे प्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । अन्तरकरणे च कृते संज्वलनलोभस्य संक्रमाभावेन तच्छेषा द्वविंशतिः प्रकृतयः पूर्वके सप्तप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । ततो नपुंसकवेदे उपशान्ते एकविंशतिः प्रकृतयः तस्मिन्नेव सप्तप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । स्त्रीवेदे चोपशान्ते विंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत्तत्रैव संक्रामन्ति । ततः पुंवेदस्य समयोनावलिकाद्विकशेषायां प्रथमस्थितौ “दुसु तिसु आवलियासु” इति वचनप्रामा-ण्यात् प्रतिग्रहाभावेन तद्व्यतिरिक्ताः संज्वलनचतुष्टयसम्यक्त्वमिश्ररूपपट्कप्रतिग्रहे समयो-नावलिकाद्विकं यावत् प्रागुक्ता विंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततः पट्सु नौकपायेषूपशा-न्तेषु समयोनावलिकाद्विकं यावच्चतुर्दश प्रकृतयः प्रागुक्ते एव पट्प्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे संक्रामन्ति । ततः पुंवेदे उपशान्ते शेषास्त्रयोदश प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् पट्कप्रतिग्रहे एव संक्रामन्ति । ततः संज्वलनक्रोधस्य समयोनावलिकात्रिकशेषायां प्रथमस्थितौ प्रतिग्रहता न भवतीति प्रागुक्तपट्कात् तदपनीते शेषे पञ्चप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे समयोनावलिकाद्विकं यावत् ता एव त्रयोदश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानाचरणक्रोधद्विके

उपशान्ते समयोनावलिकाद्विकं यावत्तस्मिन्नेव पञ्चकप्रतिग्रहे एकादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततः संज्वलनक्रोधे उपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् पञ्चकप्रतिग्रहे दश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततः समयोनावलिकात्रिकशेषायां प्रथमस्थितौ संज्वलनमानस्यापि प्रतिग्रहता न भवतीति तदपनीते शेषचतुष्प्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे समयोनावलिकाद्विकं यावत् ता एव दश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणमानद्विके उपशान्ते समयोनावलिकाद्विकं यावदष्टौ प्रकृतयस्तस्मिन्नेव चतुष्कप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । ततः संज्वलनमाने उपशान्ते अन्तर्मुहूर्तं यावच्चतुष्कप्रतिग्रह एव सप्त प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततः संज्वलनमायायाः समयोनावलिकात्रिकशेषायां प्रतिग्रहता न भवतीति तदपनीते शेषत्रिकप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे ता एव सप्त प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रामन्ति । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणमायाद्विके उपशान्ते समयोनावलिकाद्विकं यावत् तस्मिन्नेव त्रिकप्रतिग्रहे पञ्च प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततः संज्वलनमायायामुपशान्तायामन्तर्मुहूर्तं यावच्चतस्रः प्रकृतयः त्रिकप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । किट्टीकरणाद्याः समयोनावलिकात्रिकशेषायां संज्वलनलोभस्याप्रतिग्रहे सति समयोनावलिकाद्विकं मध्यमलोभौ न संक्रामतोऽतः यावन्मिथ्यात्वमिश्ररूपं प्रकृतिद्वयमेव दर्शनद्विके संक्रामति, तदुक्तं—“किट्टीकरणाद्यां समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणलोभद्विकं संज्वलनलोभे न सक्रमयति, तदानीं तस्य पतदग्रहानिष्ठतेः” इति, ततोऽनिवृत्तिकरणचरमसमयेऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणलोभद्विके उपशान्ते । सूक्ष्मसम्पराये, उपशान्तमोहे च मिथ्यात्वं मिश्रसम्यक्त्वयोः, मिश्रं च सम्यक्त्वे संक्रामतीति द्विकरूपे प्रतिग्रहे द्वे प्रकृती संक्रामत इति प्रतिपादयिष्यामः । सर्वत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां सत्स्थानं चतुर्विंशतिप्रकृत्यात्मकं मतान्तरेणाष्टाविंशतिप्रकृत्यात्मकं बोध्यमिति ।

९ मे उपशमोपशमकानाम् (उपशमसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या-
मित्यग्रेऽपि उपशमोपशमकसंज्ञा)

| सं० | पत० | कालः | सत् | वन्धः | सं० | पत० | कालः | सत् | वन्धः |
|-----|-----|-------------------|-------|-------|-----|-----|-------------------|-------|-------|
| २३ | ७ | अन्तर्मुहूर्तः | २४-२८ | ५ | १३ | ५ | समयोनावलिकाद्विकः | २४-२८ | ३ |
| २२ | " | " | " | " | ११ | " | " | " | " |
| २१ | " | " | " | " | १० | " | अन्तर्मुहूर्तः | " | " |
| २० | " | " | " | " | " | ४ | समयोनावलिकाद्विकः | " | २ |
| " | ६ | समयोनावलिकाद्विकः | " | ४ | " | " | " | " | " |
| १४ | " | " | " | " | " | " | अन्तर्मुहूर्तः | " | " |
| १३ | " | अन्तर्मुहूर्तः | " | " | " | ३ | समयोनावलिकाद्विकः | " | १ |

| ५ | ३ | ११ | २७-२८ | १ | २ | २ | समयोनावलिकाद्विकः | २७-२८ | १ |
|---|---|----------------|-------|----|---|---|-------------------|-------|---|
| २ | २ | अन्तर्मुहूर्तः | ३३ | ३३ | | | | | |

अथ ध्यायिकसम्यग्दृष्टेरूपशमश्रेण्यां संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधविधिरुच्यते-अत्र सर्वत्रैकविंशतिप्रकृत्यात्मकं सत्स्थानं वाच्यम् । यानि च वन्धस्थानानि तान्येव प्रतिग्रह-स्थानान्यपि वाच्यानि । तत्रैकविंशतिसत्कर्मणाः पुंवेदसंज्वलनचतुष्टयरूपे पञ्चकप्रतिग्रहे एकविंशतिः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । अन्तरकरणे च कृते संज्वलनलोभस्य संक्रमो न भवतीति तदपनीते शेषा विंशतिः प्रकृतयः तस्मिन्नेव पञ्चकप्रतिग्रहे संक्रामन्ति, ताश्चान्तर्मुहूर्तं यावत् । ततो नपुंसकवेदे उपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् प्रागुक्ते एव पञ्चकप्रतिग्रहे एकोनविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । स्त्रीवेदे चोपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं यावद् द्वादश प्रकृतयः पञ्चकप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । ततः पुंवेदस्य समयोनावलिकाद्विकशेषायां प्रथमस्थितौ प्रतिग्रहता न भवतीति तदपनीते शेषे चतुष्करूपे प्रतिग्रहे समयोनावलिकाद्विकं यावद् द्वादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततो नोकपायपट्टं चोपशान्ते शेषा द्वादश प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावच्चतुष्कप्रतिग्रहे एव संक्रामन्ति । ततः पुंवेदे उपशान्तेऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् चतुष्कप्रतिग्रहे एकादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततः संज्वलनक्रो-धस्य समयोनावलिकात्रिकशेषायां प्रथमस्थितौ प्रतिग्रहता न भवतीति तदपनीते मान-मायालोभरूपे त्रिकप्रतिग्रहे समयोनावलिकाद्विकं यावदेकादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानधरणक्रोधद्विके उपशान्ते शेषा नव प्रकृतयः समयोनावलि-काद्विकं यावत् तस्मिन्नेव त्रिकप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । ततः संज्वलनक्रोधे उपशान्तेऽष्टौ प्रकृ-तयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् तस्मिन्नेव प्रतिग्रहे संक्रामन्ति । ततः संज्वलनमानस्य समयोनावलि-कात्रिकशेषायां प्रथमस्थितौ प्रतिग्रहता न भवतीति तदपनयने शेषे मायालोभरूपे द्विकप्रति-ग्रहे ता एषाष्टौ प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रामन्ति । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्या-ख्यानधरणमानद्विके उपशान्ते शेषाः षट् प्रकृतयः समयोनावलिकाद्विकं यावत् तस्मिन्नेव द्विकरूपे प्रतिग्रहे संक्रामन्ति । ततः संज्वलनमाने उपशान्ते पञ्च प्रकृतयः द्विकप्रतिग्रहेऽन्त-र्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । ततः संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां प्रतिग्रहता न भवतीति तदपनीते शेषे संज्वलनलोभरूपे प्रतिग्रहे प्रागुक्ता एव पञ्च प्रकृ-तयः समयोनावलिकाद्विकं यावत् संक्रामन्ति । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानधरणमाया-द्विके उपशान्ते समयोनावलिकाद्विकं यावत् तिस्रः प्रकृतयः संज्वलनलोभरूपे प्रतिग्रहे संक्रामन्ति । ततः संज्वलनमायायामुपशान्तायां मध्यमलोभद्विकमन्तर्मुहूर्तं यावत् संज्वल-नलोभे संक्रामन्ति । ततोऽनिवृत्तिवादरसम्प्रायचरमसमये मध्यमलोभद्विकमप्युपशान्तं । ततः सूक्ष्मसम्प्रायादी संक्रमप्रतिग्रहभावः । तदेवं ध्यायिकसम्यग्दृष्टेरूपशमश्रेण्यां संक्रम-प्रतिग्रहस्थानानां संवेधविधिरुक्तः ।

॥ ९ मे *क्षायिकोपशमकानाम् ॥

| सं० | पत० | कालः | सत् | वन्धः | सं० | पत० | कालः | सत् | वन्धः |
|-----|-----|-----------------|-----|-------|-----|-----|-----------------|-----|-------|
| २१ | ५ | अन्तर्मुहूर्तः | २१ | ५ | ९ | ३ | समयोनावलिकादिकः | २१ | ३ |
| २० | ॥ | " | " | " | ८ | " | अन्तर्मुहूर्तः | " | " |
| १९ | " | " | " | " | " | २ | समयोनावलिकादिकः | " | २ |
| १८ | " | " | " | " | ६ | " | " | " | " |
| " | ४ | समयोनावलिकादिकः | " | ४ | ५ | " | अन्तर्मुहूर्तः | " | " |
| १२ | " | " | " | " | " | १ | समयोनावलिकादिकः | " | १ |
| ११ | " | अन्तर्मुहूर्तः | " | " | ३ | " | " | " | " |
| " | ३ | समयोनावलिकादिकः | " | ३ | २ | " | अन्तर्मुहूर्तः | " | " |

साम्प्रतं क्षपकश्रेण्यां संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधविधिरुच्यते—तत्रैकविंशतिसत्ताकस्य क्षायिकसम्यग्रदृष्टेः पुंवेदसंज्वलनचतुष्टयरूपे पञ्चकप्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावदेकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानकपायाष्टके क्षीणे त्रयोदशसत्ताकस्यान्तर्मुहूर्तं यावत् त्रयोदश प्रकृतयः पञ्चकप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । ततस्त्रयोदशसत्ताकस्यैव त्रयोदशप्रकृतीनामन्तरकरणे कृते संज्वलनलोभस्य संक्रमाभावेन तद्वर्जा द्वादशप्रकृतयः तस्मिन्नेव पञ्चकप्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् संक्रामन्ति । ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादशसत्ताकस्याऽन्तर्मुहूर्तं यावत् एकादश प्रकृतयः तस्मिन्नेव पञ्चकप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । ततः स्त्रीवेदे क्षपिते एकादशसत्ताकस्यान्तर्मुहूर्तं यावत् पञ्चकप्रतिग्रहे दश प्रकृतयः संक्रामन्ति । तत एकादशसत्ताकस्यैव समयोनावलिकादिकशेषायां प्रथमस्थितौ पुंवेदस्य प्रतिग्रहाभावेन संज्वलनचतुष्टयरूपे प्रतिग्रहे समयोनावलिकादिकं यावत्पूर्वोक्ता एव दश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततो हास्यादिपट्टे क्षपिते पञ्चसत्ताकस्य समयोनावलिकादिकं यावच्चतुष्कप्रतिग्रहे चतसृणां प्रकृतीनां संक्रमो भवति । ततः पुंवेदः क्षीयते, तस्मिन्नेव समये संज्वलनक्रोधः पतद्ग्रहो न भवतीति तदपनीते त्रिकप्रतिग्रहे चतुःसत्ताकस्यान्तर्मुहूर्तं यावत् तिसृणां संक्रमो भवति, तदुक्तं पञ्चसंग्रहमूलवृत्तौ—“ततः पुरुषवेदे क्षपिते वत्कालमेव क्रोधस्य प्रतिग्रहत्वे नष्टे चतुर्गन्धकोऽन्तर्मुहूर्तं त्रिकसंक्रमं त्रिकप्रतिग्रहे संक्रमयति” इति । ततः समयोनावलिकादिकेन कालेन संज्वलनक्रोधः क्षीयते, तत्समये च संज्वलन-

मानोऽपि पतद्ग्रही न भवतीति तदनुसारणे मायालोभरूपे द्विप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे त्रिरु-
सत्ताकस्यान्तर्मुहूर्ते यावत् द्वयोः प्रकृत्योः संक्रमो भवति । ततः समयोनावलिकाद्विकेन
कालेन संज्वलनमानोपि धीयते, तत्समये च संज्वलनमायायाः प्रतिग्रहता नश्यति, ततो
द्विकसत्ताकस्य संज्वलनलोभरूपे प्रतिग्रहेऽन्तर्मुहूर्तं यावत्संज्वलनमायाया एव संक्रमो
भवति । ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमायापि धीयते । तत ऊर्ध्वं न
किमपि क्वापि संक्रामति । तदेवं संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधो भावितः क्षपकश्रेण्यामिति ।

॥ ९ मे (क्षपकश्रेण्याम्) ॥

| सं० | पत० | कालः | सत् | बन्धः | सं० | पत० | कालः | सत् | बन्धः |
|-----|-----|----------------|-----|-------|-----|-----|-------------------|-----|-------|
| २१ | ५ | अन्तर्मुहूर्तः | २१ | ५ | १० | ४ | समयोनावलिकाद्विकः | ११ | ४ |
| १३ | " | " | १३ | " | ४ | " | " | ५ | " |
| १२ | " | " | " | " | ३ | ३ | अन्तर्मुहूर्तः | ४ | ३ |
| ११ | " | " | ११ | " | २ | २ | " | ३ | २ |
| १० | " | " | ११ | " | १ | १ | " | २ | १ |

तदेवमुक्तो नयमगुणस्थाने संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधविधिः । अथ सूक्ष्मसम्परापे-
उपशान्तमोहे च युगपत्-संवेधो भण्यते

संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यामष्टाविंशतिसत्ताकस्य चतु-
विंशतिसत्ताकस्य वा मिथ्यात्वस्य मिश्रसम्यक्स्वरूपं प्रकृतिद्वयं, मिश्रस्य च सम्यक्त्वं प्रति-
ग्रहो भवतीति द्विप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे द्वे प्रकृती संक्रामतः । ते च गुणस्थानद्वयकाल
प्रमाणं यावदिति ।

॥ १०-११ गुणस्थानयोः (उपशमोपशमकानाम्) ॥

| | | | | |
|---|---|----------------|-------|---|
| २ | २ | अन्तर्मुहूर्तः | २८-२९ | ० |
|---|---|----------------|-------|---|

उपरित्तनेषु क्षीणमोहत्वादेव संक्रमस्थानं प्रतिग्रहस्थानं च न भवति, तथा च १२-१३
-१४ गुणस्थानेषु, क्षपकस्य दशमे च संक्रमपतद्ग्रहाभावः । तदेवं गुणस्थानेषु मोहनीयस्य
संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेध उक्त इति ॥

साम्प्रतं प्रसङ्गतः कस्मिन् प्रतिग्रहे के संक्रमा मोहनीयस्य संक्रामन्तीति प्रतिग्रहेषु
सङ्कलना प्रोच्यते-द्वाविंशतौ, एकोनविंशतौ, पञ्चदशके, एकादशके च प्रतिग्रहे सप्तविंश-
संक्र० २३

तिपङ्क्तिशतयोः संक्रमो भवति, तत्र मिथ्यादृष्टेः द्वाविंशतौ, एकोनविंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टेः, पञ्चदशके देशविरतस्य, एकादशके प्रमत्ताप्रमत्तयोश्च । मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य चैकविंशतौ, मिश्रस्य च सप्तदशके पञ्चविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । इदं च संक्रमस्थानं नियमेन चतुर्षु गतिषु भवति । तत्रोद्धृतमिश्रसम्यक्त्वस्य मिथ्यादृष्टेः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा सास्वादनमिश्रयोश्च भवतीत्यवसेयम् । द्वाविंशत्येकोनविंशतिपञ्चदशैकादशसप्तकरूपेषु पञ्चसु प्रतिग्रहेषु त्रयोविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति, तत्र मिथ्यादृष्टेर्द्वाविंशतौ, अविरतसम्यग्दृष्टेर्कोनविंशतौ, देशविरतस्य पञ्चदशके, प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानां एकादशके, औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य सप्तकप्रतिग्रहे त्रयोविंशतिप्रकृतीनां संक्रमो भवतीति । एतानि च पञ्च प्रतिग्रहस्थानानि पञ्चेन्द्रियेष्वेव भवन्ति, नान्यत्रेति । द्वाविंशतिसंक्रमस्थानमष्टादशचतुर्दशदशसप्तकरूपेषु चतुर्षु प्रतिग्रहेषु संक्रामन्ति, तत्राष्टादशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहेऽविरतसम्यग्दृष्टेः, देशविरतस्य चतुर्दशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे, प्रमत्ताप्रमत्तयोः दशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे, औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य च सप्तप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे द्वाविंशतिप्रकृतीनां संक्रमो भवति । अयं च संक्रमस्थानं मनुष्यगतावेव सम्यक्त्वमिश्रयोः सतोरेव भवतीति । सप्तदशकत्रयोदशकनवकसप्तकपञ्चकरूपेषु पञ्चसु प्रतिग्रहेष्वेकविंशतेः संक्रमो भवति । तत्राविरतसम्यग्दृष्टेः सप्तदशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे, देशविरतस्य त्रयोदशप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे, प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानां नवप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे, औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य सप्तप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे, धायिकसम्यग्दृष्टेश्चोभयश्रेण्यां वर्तमानस्य पञ्चप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे एकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति, केपाश्चिन्मतेन सास्वादनस्यैकविंशतिप्रतिग्रहे एकविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । शेषाणि संक्रमस्थानानि श्रेण्यामेव भवन्ति । तत्र विंशतेः सप्तकपङ्कपञ्चकरूपे प्रतिग्रहत्रिके संक्रमो भवति, तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य सप्तके पङ्के च, धायिकसम्यग्दृष्टेश्चोपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य पञ्चकप्रतिग्रहे विंशतेः संक्रमो भवति । तथा धायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य पञ्चकप्रतिग्रहे एकोनविंशतेः संक्रमो भवति । धायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्याष्टादश प्रकृतयः पञ्चके, चतुष्के च प्रतिग्रहे संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य पङ्कप्रतिग्रहे चतुर्दश प्रकृतयः संक्रामन्ति । तद्यौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य पङ्कप्रतिग्रहे, क्षपकश्रेण्यां च पञ्चकप्रतिग्रहे त्रयोदश प्रकृतयः संक्रामन्ति । तथा क्षपकश्रेण्यां पञ्चकप्रतिग्रहे, धायिकसम्यग्दृष्टेश्चोपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य चतुष्कप्रतिग्रहे द्वादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । तद्यौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां, क्षपकश्रेण्याञ्च वर्तमानस्य पञ्चकप्रतिग्रहे, धायिकसम्यग्दृष्टेश्चोपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य चतुष्के त्रिके च प्रतिग्रहे एकादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां धायिकसम्यग्दृष्टेश्च क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य पञ्चके चतुष्के च

प्रतिग्रहे दश प्रकृतयः संक्रामन्ति । धायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य त्रिकप्रतिग्रहे प्रकृतिनवकं संक्रामति । धायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य द्विके त्रिके च प्रतिग्रहे, औपशमिकसम्यग्दृष्टेश्चोपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य चतुष्कप्रतिग्रहेऽष्टौ प्रकृतयः संक्रामन्ति । तथौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य त्रिके चतुष्के च प्रतिग्रहे सप्त प्रकृतयः संक्रामन्ति । प्रकृतिपट्टं धायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य द्विप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे संक्रामति । प्रकृतिपञ्चकमौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य त्रिकपतद्ग्रहे, धायिकसम्यग्दृष्टेश्चोपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य द्विके एकके च प्रतिग्रहे संक्रामति । तथौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य त्रिकपतद्ग्रहे, क्षपकश्रेण्यां च चतुष्कप्रतिग्रहे चतस्रः प्रकृतयः संक्रामन्ति । तथा त्रिकप्रतिग्रहे क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य, एकके च धायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रकृतित्रिकं संक्रामति । द्विकप्रतिग्रहे औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य, धायिकसम्यग्दृष्टेश्च क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रकृतिद्विकं संक्रामति, तथा धायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य एकके प्रतिग्रहे प्रकृतिद्वयं संक्रामति । एकस्मिन् पतद्ग्रहे एका प्रकृतिः संक्रामति, सा च क्षपकश्रेण्यामेवेति । विंशत्यादीन्येकपर्यन्तानि सभरीनि संक्रमस्थानानि पतद्ग्रहेषु प्रागेव प्रपञ्चेनाभिहितानि, सङ्कलनाभागेन अत्र तु श्रेणिद्वयमाश्रित्योक्तानि ।

॥ मोहनीयस्य संक्रमपतद्ग्रहसंकलना ॥

| सं० | पत० | सामिन. | सं० | पत० | सामिन. | |
|-------|-----|----------------------|-----|-----|-------------------------|--|
| २७-२८ | २२ | मिथ्यादृष्टि | २२ | १८ | अविरतसम्यग्दृष्टि | सम्यक्त्वमिध सत्ताया मनुष्या पुं |
| " | १९ | अवि० सम्यग्दृष्टि. | " | १४ | देशविरत | |
| " | १५ | देशविरत | " | १० | प्रमत्ताप्रमत्तौ | |
| " | ११ | प्रमत्ताप्रमत्तौ | " | ७ | उपशमोपशमक | |
| २५ | २१ | मिथ्या० सात्वा० | २३ | १७ | अविरतसम्यग्दृष्टि | पराशरस्यैव |
| " | १७ | मिथ्य | " | १३ | देशविरत | |
| २३ | २२ | मिथ्यादृष्टि | " | ९ | प्रमत्ताप्रमत्तापूरा | |
| " | १९ | अविरतसम्यग्दृष्टि | " | ७ | उपशमोपशमक | |
| " | १५ | देशविरत | " | ५ | धायिकदृष्टिक्रमवधायक | |
| " | ११ | प्रमत्ताप्रमत्तापूरा | " | २३ | साम्बादना (हृदि नवम्बर) | |
| " | ७ | उपशमोपशमक | | | | |

॥ मोहनीयस्य संक्रमपतद्ग्रहसंकलना (श्रेणिगतानाम्) ॥

| संक्रम० | पत० | स्वामि० | | संक्रम० | पत० | स्वामि० | |
|---------|-------------|--------------------------------------|--------------------------|---------|-------------|--------------------------|----------------------------|
| | | सम्यक्त्वे | श्रेण्याम् | | | सम्यक्त्वे | श्रेण्याम् |
| २० | ७ ६ ५ | उपशमदृष्टिः " " क्षायिकदृष्टिः | उपशमश्रेण्या " " " | ८ | ४ ३ २ | उपशम० क्षायिक० " | उपशमश्रेण्याम् " " " |
| १९ | ५ | " " | " " | ७ | ४ ३ | उपशम० " | " " |
| १८ | ५ ४ | " " " | " " | ६ | २ | क्षायिक० | " " |
| १७ | ६ | उपशमदृष्टिः | " " | ५ | ३ २ १ | उपशम० क्षायिक० " | " " " " |
| १६ | ५ ४ | क्षायिकदृष्टिः | उपशमश्रेण्याम् | ४ | ४ ३ | " उपशम० | क्षपकश्रेण्या उपशम० |
| १५ | ५ ४ ३ | उप० क्षा० क्षायिक० " | उप० क्षप० उप० " | ३ | ३ १ | क्षायिक० क्षायिक० | क्षपकश्रेण्याम् उप० |
| १४ | ५ ४ | उप० क्षा० " " | उप० क्ष० " " | २ | २ १ | उप० क्षा० क्षायिक० | " क्षपक० उपशमश्रे० |
| १३ | ३ | — " | " — | १ | १ | " | क्षपकश्रेण्याम् |

अधुना क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुभयश्रेणीमाश्रित्य सङ्कलनोच्यते—संज्वलनचतुष्टयपुर्वेदरूपे पञ्चकप्रतिग्रहे एकविंशतिरुभयश्रेण्यां, विंशत्येकोनविंशत्यष्टादशरूपास्त्रयः संक्रमा उपशमश्रेण्यां, त्रयोदशद्वादशैकादशदशरूपाश्चत्वारः संक्रमाश्च क्षपकश्रेण्यां संक्रामन्ति । अष्टादशद्वादशैकादशरूपास्त्रयः संक्रमा उपशमश्रेण्यां, दशचतुष्करूपौ द्वौ संक्रमौ च क्षपकश्रेण्यां संज्वलनचतुष्टयरूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । त्रिकं क्षपकश्रेण्यामुपशमश्रेण्यां चैकादशनपाष्टकरूपास्त्रयः संक्रमाः संज्वलनमानमायालोभरूपास्तिसृषु प्रकृतिषु संक्रामन्ति । अष्टौ, पद, पञ्च चोपशमश्रेण्यां, क्षपकश्रेण्यां च द्वे प्रकृती मायालोभरूपद्विकप्रतिग्रहे संक्रामन्ति । क्षपकश्रेण्यामेका, उपशमश्रेण्यां च द्वित्रिपञ्चकरूपाः संक्रमा लोभरूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । पृथक् श्रेणिद्वयमाश्रित्य तु प्रागुक्तानुसारतोऽवसेयम् ।

॥ क्षा० दृष्टेरुभयश्रेण्यां पतद्ग्रहेषु संक्रमस्थानसंकलना ॥

| पत० | संक्रम० | कस्यां श्रेण्याम् | पत० | संक्रम० | कस्यां श्रेण्याम् |
|-----|---------|-------------------|-----|---------|-------------------|
| ५ | २१ | उभयश्रेण्याम् | ३ | ११ | उभयश्रेण्याम् |
| " | २० | उपशमश्रेण्याम् | " | ९ | |
| " | १९ | | " | ८ | |
| " | १८ | | " | ३ | क्षपकश्रेण्याम् |
| " | १३ | क्षपकश्रेण्याम् | २ | ८ | उपशमश्रेण्याम् |
| " | १२ | | " | ९ | |
| " | ११ | | " | ५ | |
| " | १० | | " | २ | क्षपकश्रेण्याम् |
| ४ | १८ | उपशमश्रेण्याम् | १ | १ | " |
| " | १२ | | " | २ | उपशमश्रेण्याम् |
| " | ११ | | " | ३ | |
| " | १० | क्षपकश्रेण्याम् | " | ५ | |
| " | ४ | | | | |

उक्ता मोहनीयस्य गुणस्थानेषु संकलना । अध नामकर्मणो गुणस्थानकेषु संवेधद्वारेण स्वामित्वं चिन्त्यते, तत्र मिथ्यादृष्टौ पद प्रतिग्रहस्थानानि, तद्यथा-त्रयोविंशतिः, पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशच्चेति । तत्रापर्यासैकेन्द्रियप्रायोग्यं त्रयोविंशतिप्रतिग्रहस्थानं वादरसूक्ष्मप्रत्येकसाधारणैश्चतुष्प्रकारं भवति । पर्यासैकेन्द्रियप्रायोग्यं, अपर्यासविकलेन्द्रियप्रायोग्यं, अपर्यासपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यप्रायोग्यं च पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं प्रतिग्रहस्थानं भवति, तच्च पर्यासैकेन्द्रियप्रायोग्यं विंशतिप्रकारमपर्यासविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यप्रायोग्यमेकैकप्रकारमिति पञ्चविंशतिप्रकारम् । पर्यासैकेन्द्रियप्रायोग्यं षड्विंशतिप्रकृत्यात्मकं प्रतिग्रहस्थानं षोडशप्रकारैर्भिद्यते । अष्टाविंशतिप्रतिग्रहस्थानं नरकप्रायोग्यमेकप्रकारं, देवप्रायोग्यं चाष्टप्रकारमिति नवप्रकारं भवति । एकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं प्रतिग्रहस्थानं पर्यासविकलेन्द्रियप्रायोग्यं प्रत्येकमष्टाष्टप्रकारमिति चतुर्विंशतिप्रकारं, पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यप्रायोग्यं तु प्रत्येकमष्टाधिकपदचत्वारिंशच्छतप्रकारं भवति, सर्वसंख्यया चत्वारिंशदधिकं द्विनवतिशतप्रकारं भवति । पर्यासविकलेन्द्रियप्रायोग्यं त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं प्रतिग्रहस्थानं प्रत्येकमष्टा भिद्यते, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं त्वष्टाधिकपदचत्वारिंशच्छतधा भिद्यते, सर्वसंख्यया द्वात्रिंशदधिकपदचत्वारिंशच्छत-

प्रकारं भवति, तदुक्तं—“चउ पणवीसा सोलस, नव चत्ताला सया य बाणउया । वत्तीसुत्तर-
च्छायालसया मिच्छरस घन्धविहा ॥ १ ॥” इति ।

॥ नामकर्मणः पतद्ग्रहाः ॥

| पत० | कस्य प्रायोग्याः | भङ्गाः | पत० | कस्य प्रयोग्याः | भङ्गाः |
|-----|--|------------------------------|-----|--|--------------------------------|
| २३ | अपरांतेकेन्द्रियप्रायोग्यम् | ४ | २८ | नरकप्रायोग्यम् देवप्रायोग्यम् | १ ८ } = ९ |
| २५ | परांतेकेन्द्रियप्रायोग्यम् अपरांतेविकलेन्द्रिय० ॥ पञ्चे० तिर्यक्प्रा० ॥ मनुष्यप्रायोग्यम् | २० १-१-१ } = २५ १ १ | २९ | परांतेविकले० प्रा० पञ्चे० तिर्यक्प्रा० मनुष्यप्रायोग्यम् | ८-८-८ ४९०८ ४९०८ } = ९२४० |
| २६ | परांतेकेन्द्रियप्रा० | १९ | ३० | परांतेविकले० प्रा० पञ्चे० तिर्यक्प्रा० | ८-८-८ ४९०८ } = ४९३२ |

मिथ्यादृष्टौ पदं संक्रमस्थानानि, तद्यथा—व्युत्तरशतं, पणवतिः, पञ्चनवतिः, त्रिनवतिः, चतुरशीतिः, व्यशीतिश्चेति । तत्र त्रयोविंशतिप्रतिग्रहे तिरश्चां पणवतिवर्जानि पञ्चापि सत्त्व-
स्थानानि संक्रामन्ति । मनुष्याणां पणवतिव्यशीतिवर्जानि चत्वारि स्थानानि संक्रामन्ति ।
पञ्चविंशतौ, पद्मविंशतौ च प्रतिग्रहे तिर्यङ्मनुष्याणां त्रयोविंशतिप्रतिग्रहवद् बोध्यम्,
देवानां च व्युत्तरशतपञ्चनवतिरूपं द्वयं संक्रामति, नवरं देवानां पञ्चविंशतिप्रतिग्रहस्थानं
वाद्रपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्यशःकीर्तिपदैरष्टप्रकारं भवतीति । नरक-
प्रायोग्येऽष्टाविंशतिप्रतिग्रहे मनुष्याणां व्युत्तरशतपणवतिपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिरू-
पाणि पञ्च संक्रामन्ति, तत्र व्युत्तरशतसत्कर्मणां व्युत्तरशतं, वज्रजिननामकानां नरका-
भिमुखानां पणवतिः, पञ्चनवतिसत्ताकानां पञ्चनवतिः, पञ्चनवतिसत्ताकानां नरक-
द्विकस्यावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानानां त्रिनवतिः, देवद्विकवर्जानां त्रिनवतिसत्ताकानां
नरकद्विकवैक्रियसप्तकयोर्वन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानानां चतुरशीतिः संक्रामति ।
तिरश्चांमप्येवमेव, केवलं पणवतिस्थानं न संक्रामति, तेषां जिननाम्नः सत्ताभावात् । देव-
प्रायोग्याष्टाविंशतिप्रतिग्रहेऽपि व्युत्तरशतसत्ताकानां व्युत्तरशतं, पञ्चनवतिसत्ताकानां पञ्च-
नवतिः, पञ्चनवतिसत्ताकानां देवद्विकस्यावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानानां त्रिनवतिः,
नरकद्विकवर्जानां त्रिनवतिसत्ताकानां देवद्विकवैक्रियसप्तकयोर्वन्धावलिकाया अभ्यन्तरे
वर्तमानानां चतुरशीतिस्तिर्यङ्मनुष्याणां संक्रामति । एकोनत्रिंशति, त्रिंशति च तिर्यक्प्रा-
योग्यप्रतिग्रहे तिरश्चां व्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिव्यशीतिरूपाणि पञ्च, मनुष्याणां
च व्यशीतिवर्जानि चत्वारि संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्ये एकोन-
त्रिंशति, त्रिंशति च देवनारकाणां व्युत्तरशतपञ्चनवतिरूपं द्वयं संक्रामति । मनुष्यप्रायोग्ये-

कोनत्रिंशति प्रतिग्रहे तिरश्चां द्युत्तरशतपञ्चनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिरूपाणि चत्वारि संक्रामन्ति, तत्र चतुरशीतिसत्त्वाक्रानां मनुजद्विकस्य बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानानां द्यशीतिस्थानं संक्रामति, तत्रैव च मनुष्याणां द्यशीतिवर्जानि त्रीणि संक्रामन्ति, देवानां द्युत्तरशतपञ्चनवतिरूपं द्वयं संक्रामति, नारकाणां च द्युत्तरशतपण्णवतिपञ्चनवतिरूपं सत्त्वस्थानत्रिकं संक्रामति, तत्र तीर्थंकरसत्कर्मरहितानां पण्णवतिर्ज द्विकं संक्रामति, पण्णवतिसत्त्वस्थानं त्वपर्याप्तावस्थायां वर्धमानानां तीर्थंकरसत्कर्मणामवसेयमित्युक्तो निध्याहृष्टौ संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधः ।

॥ मिथ्यात्वे नास्तिः पतद्ग्रहे संक्रमस्य संवेधः ॥

| पत्रसंख्या | संकमस्यानानि | संकमस्यामितः |
|-----------------------|-------------------------------------|---|
| २३ | १०२-९५-९३-८४-८२ | तिर्यङ्गः । |
| " | १०२-९५-९३-८४ | मनुष्याः । |
| २५-२६ | १०२-९५-९३-८४-८२ | तिर्यङ्गः । |
| " | १०२-९५-९३-८४ | मनुष्याः । |
| २५-२६ | १०२-९५ | देवाः । |
| नरक प्रा० २८ | १०२ ९६ ९५ ९३ ८४ | १०२ सत्ताकरतिर्यङ्गौ । यद्विनियामनरो नरकोन्मुखः । ९५ सत्ताकरतिर्यङ्गौ । नरकद्रिकवर्णप्रभावलिकान्तगतवरतिर्यङ्गौ ९५ सत्ताको । देवद्रिकवर्ण ९३ सत्ताको नरकद्रिकवैक्रियसहकपोर्वेन्द्रावलिका- न्तगतवरतिर्यङ्गौ १०२ सत्ताकरतिर्यङ्गौ । |
| देवप्रा० २८ | १०२ ९५ ९३ ८४ | १०२ सत्ताकरतिर्यङ्गौ । ९५ " " " " " " देवद्रिकवर्णप्रभावलिकान्तगतौ । नरकद्रिकवर्ण ९३ सत्ताकरतिर्यङ्गौ देव २ वै० ७ योर्वेन्द्रावलिका- न्तगतौ । |
| तिर्य० प्रा० २०-३० | १०२-९५-९३-८४-८२ १०२-९५-९३-८४ | तिर्यङ्गः । मनुष्याः । |

| | | |
|---------------------------|-----------------------|---|
| पञ्चे० ति० प्रा० २९-३० | १०२-९५ | देवा नारकाश्च । |
| मनु० प्रायो० २९ | १०२ ९५ ८४ ८२ | १०२ सत्ताकतिर्यञ्चः । ९५ सत्ताकतिर्यञ्चः । ८४ " " । ८४ " " मनु० द्विकवन्धावलिकान्तर्गताः । |
| " | १०२-९५-८४ | सत्सत्ताकमनुष्याः । |
| " | १०२-९५ | " देवाः । |
| " | १०२-९६-९५ | " नारकाः । (नवरं बद्धमिननामनारकाणां ९६ संक्रमः) |

अथ सास्वादनगुणस्थाने संवेधः उच्यते-अत्र त्रीणि प्रतिग्रहस्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशच्चेति । तत्राष्टाविंशतिप्रकृत्यात्मकं प्रतिग्रहस्थानं नरकप्रायोग्यं, देवप्रायोग्यं च । नरकप्रायोग्यं त्वत्र न भवति, नरकप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदात्, देवप्रायोग्यं च पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणामष्टप्रकारं भवति । एकोनत्रिंशत्प्रतिग्रहस्थानं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यप्रायोग्यं चतुःषष्टिशतप्रकारं चतुर्गतिकानां भवति, तथा हि-पञ्चभिः संस्थानैः, पञ्चभिः संहननैः, प्रशस्ताप्रशस्तखगतिभ्यां, स्थिरास्थिराभ्यां, शुभाशुभाभ्यां, सुभगदुर्भगाभ्यां, सुस्वरदुःस्वराभ्यां, आदेयानादेयाभ्यां, यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां च गुण्यमानं तिर्यकप्रायोग्यं द्वात्रिंशच्छतप्रकारं, मनुष्यप्रायोग्यं च द्वात्रिंशच्छतप्रकारमुभयमिलने उक्तप्रकारमेकोनत्रिंशत्प्रतिग्रहस्थानं भवति । त्रिंशत्प्रतिग्रहस्थानमपि प्रागुक्तप्रकारेण द्वात्रिंशच्छतप्रकारं भवति । त्रीण्यपि प्रतिग्रहस्थानानि सर्वसंख्यया अष्टाधिकानि पण्यवतिशतप्रकाराणि भवन्ति, तदुक्तं-“अष्ट सया चोसर्हि, वत्तीससया य सासणे भगिया । अष्टावीसाईधुं, सव्वाण्डहिय छण्णइ ॥ १ ॥” इति ।

॥ सास्वादने नामकर्मणः पतद्व्यहाः ॥

| पत० | कस्य प्रायोग्याः | भङ्गाः | स्वासितः |
|-----|--------------------------------|--------|--------------------|
| २८ | देवप्रायोग्याः | ८ | पञ्चे० ति० मनुष्यः |
| २९ | पञ्चे० ति० मनु० प्रायो० | ६१०० | चातुर्गतिकाः |
| ३० | पर्या० विकले० पञ्चे० तिर्यञ्चः | ३२०० | " |

अत्र संक्रमस्थाने तु द्वे भवतः, तद्यथा-श्रुतरशतं, पञ्चनवतिश्चेति । तत्राष्टाविंशतिप्रतिग्रहे मनुष्याणां द्वयं, तिरश्चां चैकमेव पञ्चनवतिप्रकारम् । एकोनत्रिंशत्प्रतिग्रहेऽपि मनुष्याणां श्रेणीतः प्रतिपातसम्भवेन द्वयं, शेषाणां पुनः पञ्चनवतिप्रकृत्यात्मकमेव

भवति । त्रिंशत्प्रतिग्रहे चतुर्गतिकानामप्येकमेव पञ्चनवतिप्रकृत्यात्मकमिति ।

॥ २ ये नाम्नः पतद्ग्रहे संक्रमसंवेधः ॥

| पत० | संक्रमः | स्वामिनः |
|-----|---------|---------------|
| २८ | १०२-९५ | नराः |
| | ९५ | तिर्यग्जः |
| २९ | १०२-९५ | नराः |
| | ९५ | तिर्यग्जः |
| ३० | ९५ | चातुर्गतिभ्यः |

मिश्रदृष्टौ द्वे प्रतिग्रहस्थाने भवतः, तत्र तिर्यग्मनुष्याणां देवप्रायोग्याऽष्टा-विंशतिप्रतिग्रहस्थानं, देवनारकाणां च मनुष्यप्रायोग्यमेकोनविंशत्प्रतिग्रहस्थानम्। प्रत्येकं पुनः स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-यशः-कीर्त्यशःकीर्तिपदैरष्टप्रकारं भवति, सर्व-संख्यया द्वे अपि प्रतिग्रहे षोडशप्रकारे भवतः। द्वयोरपि प्रतिग्रहस्थानयोर्द्वे द्वे संक्रमस्थाने भवतः, तद्यथा-द्युत्तरशतं, पञ्चनवतिरिति ।

॥ ३ ये नाम्नः ५० सं० संवेधः ॥

| पत० | कस्य प्रायोग्याः | भङ्गाः | पत० स्वामिनः | संक्रमः |
|-----|------------------|--------|--------------|---------|
| २८ | देवप्रायो० | ८ | नरातिर्यग्जौ | १०२-९५ |
| २९ | नरप्रायो० | ८ | देवनारकाः | १०२-९५ |

अविरतसम्यग्दृष्टेस्त्रीणि प्रतिग्रहस्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः, एकोनविंशत्, त्रिंशच्च। तानि स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-यशःकीर्त्यशःकीर्तिपदैरष्टप्रकाराणि भवन्ति। अष्टाविंशतिः देवप्रायोग्यं तिर्यग्मनुष्याणां, मनुष्याणां चैतजिनयुतं देवप्रायोग्यमेकोनविंशदपि भवति। देवनारकाणां मनुष्यगतिप्रायोग्यं एकोनविंशत्, तेषामेव च तत्प्रायोग्यं जिनयुतं त्रिंशद्भवतीत्येवं चतुष्टयप्रकारेण सर्वसंख्यया त्रीण्यपि प्रतिग्रहस्थानानि द्वाविंशत्प्रकाराणि भवन्ति। चत्वारि संक्रमस्थानानि, तद्यथा-द्युत्तरशतं, द्युत्तरशतं, पण्णवतिः, पञ्चनवतिरिति। अष्टाविंशतिप्रतिग्रहे द्युत्तरशतपञ्चनवतिरूपं द्वयं संक्रामति। एकोनविंशत्प्रतिग्रहेऽपि देवनारकाणामेतदेव द्विकं संक्रामति। मनुष्याणामेकोनविंशत्प्रतिग्रहे जिननाम्नि बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमाने तूक्तरूपं द्वयं, आवलिकाया ऊर्ध्वं तु द्युत्तरशतं पण्णवतिर्वा संक्रामति। त्रिंशत्प्रतिग्रहे देवानां द्युत्तरशतं पण्णवतिर्वा संक्रामति। नारकाणां पण्णवतिरेव संक्रामति।

॥ अविरतसम्यग्दृष्टौ नाम्नः पतद्ग्रहाः ॥

| पत० | कस्य प्रायोग्याः | भङ्गाः | स्वामिनः | पत० | कस्य प्रायोग्याः | भङ्गाः | स्वामिनः |
|-----|------------------|--------|-------------|-----|------------------|--------|-----------|
| २८ | देवप्रा० | ८ | तिर्यग्जनरौ | २९ | देवप्रा० | ८ | मनुष्याः |
| | | | | | मनु०प्रा० | ८ | देवनारकाः |
| | | | | ३० | मनुष्यप्रा० | ८ | देवनारकाः |

॥ ४ र्थे संक्रमसंवेधः ॥

| पत० | संक्रमाः | स्वामिनः |
|-----|----------|-------------------------------|
| २८ | १०२-९५ | नारका देवाश्च |
| २९ | १०२-९५ | „ |
| | १०२-९५ | जिननामवन्धावलिनान्तर्गता नराः |
| | १०३-९६ | „ लिङ्कोर्ध्वं नराः |
| ३० | १०३-९६ | देवाः |
| | ९६ | नारकाः |

१२शतं पणवतिर्था संक्रामति । देशविरतस्येव प्रमत्तसंयतस्यापि, नवरमेतद्गुणस्थानं मनुजानामेवेति सुष्ठु विभावनीयम् ।

॥ देशविरते, प्रमत्ते च नान्नः पतद्ग्रहाः संक्रमसंवेधश्च ॥

| पत० | प्रायोग्याः | पत० भङ्गाः | संक्रमाः | स्वामिनः |
|-----|-------------|------------|----------|---------------------------|
| २८ | देवप्रा० | ८ | १०२-९५ | निर्वर्द्धनराः |
| २९ | „ | ८ | १०२-९५ | जि० बन्धावलिकान्तर्गतनराः |
| | | | १०३-९६ | जि० बन्धावलिकोर्ध्वं नराः |

अप्रमत्तस्य चत्वारि प्रतिग्रहस्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशद्, एक-
त्रिंशच्च । अत्रास्थिराशुभायशःकीर्तीनां बन्धव्यवच्छेदेन चतुर्णामपि पतद्ग्रहाणां भङ्गाभावो
वाच्यः । संक्रमस्थानानि चत्वारि, तद्यथा-त्र्युत्तरशतं, द्युत्तरशतं, पणवतिः, पञ्चनवति-
रिति । अष्टाविंशतिपतद्ग्रहे पञ्चनवतिः, एकोनत्रिंशत्प्रतिग्रहे जिननाम्नि बन्धावलिकाया
अभ्यन्तरे वर्तमाने पञ्चनवतिः, उपरि तु पणवतिः । त्रिंशत्पतद्ग्रहेऽपि आहारकनाम्नि
बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमाने पञ्चनवतिः, उपरि तु द्युत्तरशतं । एकत्रिंशत्पतद्ग्रहे
तु जिनाहारकयोर्वन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानयोः पञ्चनवतिः अभ्योर्वन्धावलि-

॥ अग्रमत्ते नाम्नः पतद्वग्रहाः संक्रमसंवेधश्च ॥

| पत० | प्रायोग्याः | मन्त्राः | संक्रमस्वामिनः | संक्रमः |
|-----|-------------|----------|----------------|---|
| २८ | देवमा० | १ | नराः | ९५ |
| २९ | " | १ | " | ९५ विनयन्धावलिभन्तः— ९६ " कोषं— |
| ३० | " | १ | " | ९५ आहारकयन्धावलिकान्तः— १०२ " कोषं— |
| ३१ | " | १ | " | ९५ विनाहारकयन्धावलिकान्तः— १०३ विनाहारकयन्धावलिकोषं— १०२ विनयन्धावलिकान्तः, आहारकयन्धावलिकोषं च— ९६ आहारकयन्धावलिकान्तः, विनयन्धावलिकायास्तत्त्वं— |

अपूर्वकरणे पञ्च प्रतिग्रहस्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः, एकोनविंशत्, त्रिंशद्, एकविंशद्, एकमिति । संक्रमस्थानानि पञ्च भवन्ति, तद्यथा-त्र्युत्तरशतं, द्युत्तरशतम्, एकोत्तरशतं, यण्यवतिः, पञ्चनवतिः, चतुर्नवतिरिति । चतुर्षु पतद्वग्रहेष्वग्रमत्तसंयतस्येव भायना कार्या । एकस्मिन् पतद्वग्रहे तु त्र्युत्तरशतसत्कर्मणः पतद्वग्रहे कृतां यशःकीर्तिमपनीय शेषं द्युत्तरशतं संक्रामति । द्युत्तरशतसत्कर्मण एकोत्तरशतं, यण्यवतिसत्ताकस्य पञ्चनवतिः, पञ्चनवतिसत्ताकस्य चतुर्नवतिरेकस्मिन्पतद्वग्रहे संक्रामति ।

॥ ८ मे नाम्नः पतद्वग्रहे संक्रमसंवेधः ॥

| पत० | संक्रमः | स्वामिनः | पत० | संक्रमः | स्वामिनः |
|-----|-------------|-------------|-----|---------|----------------|
| २८ | अग्रमत्तवत् | अग्रमत्तवत् | १ | १०२ | १०३ सत्ताकनराः |
| २९ | " | " | | १०३ | १०३ " |
| ३० | " | " | | ९५ | ९६ " |
| ३१ | " | " | | ९६ | ९६ " |

अनिवृत्तिकरणे सूक्ष्मसम्पराये चैकप्रकृत्यात्मकमेकमेव प्रतिग्रहस्थानम्, अष्टौ संक्रम-स्थानानि च; तद्यथा-द्युत्तरशतं, एकोत्तरशतं, पञ्चनवतिः, चतुर्नवतिः, एकोननवतिः, अष्टाशीतिः, द्यशीतिः, एकाशीतिरिति । तत्राद्यानि चत्वारि उपशमश्रेण्यां, क्षपकश्रेण्यां च त्रयोदशप्रकृतिक्षयादर्वाङ्क, उत्तराणि चत्वारि तु त्रयोदशप्रकृतिक्षयादुपरि क्षपकश्रेण्यां वर्तमानानां संक्रामन्तीति ।

॥ ९-१० मे नाम्नः पतद्ग्रहे संक्रमसंवेधः ॥

| पत० | संक्रमः | स्वामिनः |
|-----|---------------|---|
| १ | १०२-१०१-९५-९४ | उभयश्रेण्याम् (१३ क्षयादर्वाङ्क) नराः |
| | ८९-८८-८२-८१ | क्षपकश्रेण्यां (१३ क्षयानुपूर्व) ॥ |

उपशान्तादौ न प्रतिग्रहस्थानं नापि संक्रमस्थानं, नाम्नो बन्धाभावादित्युक्तो गुणस्थानेषु संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधः ॥

अथ जीवस्थानद्वारेण संक्रमप्रतिग्रहाणां स्वामिन उच्यन्ते-जीवस्थानेषु गुणस्थानानि स्वयं परिभावंनीयानि । तत्र ज्ञानावरणान्तराययोः पञ्च २ प्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे पञ्च २ प्रकृत्यात्मकमेकैकमेव संक्रमस्थानं चतुर्दशस्वपि जीवस्थानेषु संक्रामति ।

गोत्रस्य तेजोवायुरूपेभ्वेकेन्द्रियेषु उच्चैर्गोत्रे उद्बलिते सति तत्र संक्रमपतद्ग्रहाभावो वाच्यः । तथा तेजोवायुभ्यो निर्गतस्योद्बलितोच्चैर्गोत्रस्य द्वीन्द्रियादिपूतपन्नस्थानापन्नपर्याप्त-भावस्यापि संक्रमप्रतिग्रहाभावो वाच्यः । पर्याप्तभवनानन्तरं तूच्चैर्गोत्रस्य बध्यमानत्वेन नीचैर्गोत्रस्य संक्रमो भवति, मतान्तरेण तु द्वीन्द्रियादिपूतपन्नः सन् प्रथमसमये एवोच्चैर्गोत्रस्य बध्यमानत्वेन नीचैर्गोत्रं संक्रामति तदुक्तम्-“कलङ्कलीसत्त्वेऽपि द्वीन्द्रियादिपूतपन्नः सन् प्रथमसमये एव पर्याप्त्युत्तरकालं बोधैर्गोत्रं बद्ध्वा मनुष्येष्वसकृदुच्चैर्गोत्रमास्कन्दति, उच्चैर्गोत्रोद्बलनेन कलङ्कलीभावमापन्नः” इति । तथा च सति पदसु पर्याप्तेषु संक्रमप्रतिग्रहौ भवत एव, सद्यसु चापर्याप्तेषुद्बलितोच्चैर्गोत्रस्य यावदुच्चैर्गोत्रं न वप्नाति तावन्न संक्रमप्रतिग्रहौ भवतः । मतान्तरेण तु द्वीन्द्रियादिपूतचित्प्रथमसमये एव तौ भवतः । अनुद्बलितोच्चैर्गोत्राणां तु त्रयोदशानामपि संक्रमप्रतिग्रहौ परावर्तमानेन भवतः । यस्याः प्रकृतेः बन्धस्तस्याः प्रतिग्रहता, तदन्या तु संक्रामति । संज्ञिपर्याप्तकेषु सास्वादनं यावदुभयोरुच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रयोः परावर्तमानत्वेन प्रतिग्रहता, मिश्रादूर्ध्वं सूक्ष्मसम्परायं यावदुच्चैर्गोत्रस्यैव प्रतिग्रहता, न नीचैर्गोत्रस्य बन्धाभावात् ।

वेदनीयस्य त्रयोदशसु जीवस्थानेषूभयोः प्रतिग्रहता संक्रमश्च । संज्ञिपर्याप्तके प्रमत्तं

यावदुभयोः प्रतिग्रहता, अप्रमत्तात् सूक्ष्मं यावत् सातस्यैव पदग्रहता, असातस्य वन्धा-
भावादिति । यस्याः प्रकृतेः प्रतिग्रहता तदन्यायाः संक्रम इति ।

त्रयोदशसु दर्शनावरणीयस्य नवप्रकृत्यात्मके प्रतिग्रहे नवप्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानं संक्रा-
मति । संज्ञिनि पर्याप्तके च नवकप्रतिग्रहे नवक्रमेव; पङ्क्तप्रतिग्रहे, चतुष्कप्रतिग्रहे च नवकं,
पङ्क्तं चेति ।

पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मकेन्द्रियापर्याप्तवादरैकेन्द्रियापर्याप्तद्वीन्द्रियत्राीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञि-
संज्ञिरूपेषु अष्टसु जीवस्थानेषु निष्प्यात्वं, चारित्रमोहनीयसत्का चैकविंशतिरिति द्वाविंश-
तिप्रकृत्यात्मकं प्रागुक्तं पङ्क्तकारं द्वाविंशतिरूपं मोहनीयस्य प्रतिग्रहस्थानं भवति । अष्टसु
संक्रमस्थानानि त्रीणि भवन्ति, तद्यथा-सप्तविंशतिः, पङ्क्तिशतिः, पञ्चविंशतिश्चेति । तत्राष्टा-
विंशतिसत्ताकानां सम्यक्त्वमोहनीयं यावदुद्धटनासंक्रमेण सर्वथा निष्ठां न याति, तावद्
द्वाविंशतौ सप्तविंशतिः संक्रामति । सम्यक्त्व उद्धलिते तु सप्तविंशतिसत्ताकानां पङ्क्तिशतिः
संक्रामति । मिथे चोद्धलिते पङ्क्तिशतिसत्ताकानामनादिमिष्यादृष्टीनां, पङ्क्तिशतिसत्ताकानां
च मिष्यात्ववर्जकविंशतौ पञ्चविंशतिः संक्रामति । अपर्याप्तास्त्वत्र लब्ध्या द्रष्टव्याः, अन्यथा
करणपर्याप्ते संज्ञिनि तुर्यगुणस्थाने सप्तदशैकोनविंशतिरूपे द्वे प्रतिग्रहस्थाने, एकविंशतित्र-
योविंशतिसप्तविंशतिरूपाणि च त्रीणि संक्रमस्थानानि भवन्ति, तथाहि-आद्यकषायचतुष्कव-
र्जद्वादशकषायभयजुगुप्साहास्यरतियुगलारतिशोकेयुगलान्यतरयुगलपुंवेदमिश्रसम्यक्त्वरूप-
प्वैकोनविंशतिप्रतिग्रहेषु सम्यक्त्ववर्जाः सप्तविंशतिः प्रकृतयः संक्रामन्ति । विसंयोजितान-
न्तानुयन्धनस्तस्मिन्नेवैकोनविंशतिप्रतिग्रहे त्रयोविंशतिः संक्रामति । मिश्रसम्यक्त्ववर्ज-
सप्तदशप्रतिग्रहे एकविंशतिः संक्रामति । पर्याप्तवादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिरूपेषु
पञ्चसु जीवस्थानेषु द्वे प्रतिग्रहस्थाने भवतः, तद्यथा-द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च, सप्तविंश-
तिपङ्क्तिशतिपञ्चविंशतिरूपाणि च त्रीणि संक्रमस्थानानि भवन्ति । तत्र निष्प्यादृष्टं द्वाविं-
शतिप्रतिग्रहे सप्तविंशतिपङ्क्तिशतिरूपं संक्रमस्थानद्वयं संक्रामति । एकविंशतौ निष्प्यादृष्टेः
सात्वादनस्य च पञ्चविंशतिः संक्रामति । पर्याप्ते संज्ञिनि प्रागुक्तान्यष्टादशप्रतिग्रहस्थानानि
त्रयोविंशतिसंक्रमस्थानानि च सप्रभेदानि भवन्ति ।

नान्नः सप्तसु लब्ध्यपर्याप्तेष्वष्टेषु पञ्चसु पर्याप्तेषु च पञ्च पञ्च प्रतिग्रहस्थानानि भवन्ति,
तद्यथा-त्रयोविंशतिः, पञ्चविंशतिः, पङ्क्तिशतिः, एकोनविंशत्, त्रिंशच्चेति । एतानि च
तिर्यङ्मनुजप्रायोग्यानि प्रतिग्रहस्थानानि प्रागिवात्रापि सप्रपञ्चं बाध्यानि । एतेषु द्वादश-
स्वपि जीवस्थानेषु संक्रमस्थानान्यपि पञ्च भवन्ति, तद्यथा-द्युत्तरशतं, पञ्चनवतिः, विन-
यतिः, चतुरशीतिः, द्वाशीतिरिति । पञ्चस्वपि प्रतिग्रहेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च संक्रमस्थानानि
संक्रामन्तीति तु संवेधः । केवलं तेजोवायुवर्जेषु द्वादशस्वपि जीवस्थानेषु द्वाशीतिरूपं संक्रम-
स्थानं शरीरपर्याप्तेरुर्ध्वमावलिकामात्रमेव संक्रामति न परतः, यतः शरीरपर्याप्त्यनन्तरमवश्य-
मेव मनुष्यद्विकं वध्नाति, तदुक्तं-“शरीरपर्याप्ता हि पर्याप्तस्तेजोवायुवर्जः सर्वोऽपि मनुष्यगतिमनुष्या-

नुपूर्व्यो नियमाद्भाति” इति, ततो वन्धावलिकाया ऊर्ध्वं मनुजद्विकस्यापि संक्रमो भवतीति ।
 लब्ध्या पर्याप्तके करणेन त्वपर्याप्तके संज्ञिनि तुर्यगुणस्थाने अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशद्विंशद्रूपं
 प्रतिग्रहस्थानत्रिकं स्यात् । तत्र अष्टाविंशत्यां व्युत्तरशतं पञ्चनवतिर्वा संक्रामति । एकोनत्रिंशति,
 त्रिंशति च व्युत्तरशतं पण्णवतिर्वा संक्रामति । असंज्ञिनि पर्याप्तके षट् प्रतिग्रहस्थानानि भवन्ति,
 तद्यथा—त्रयोविंशतिः, पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशच्चेति ।
 तत्राष्टाविंशतिवर्जानि पञ्च पतद्ग्रहस्थानानि तिर्यङ्मनुष्यप्रायोग्यानि, अष्टाविंशतिपतद्ग्र-
 हस्थानं देवगतिनरकगतिप्रायोग्यमिति । संक्रमस्थानानि चासंज्ञिनि पर्याप्तके पञ्च भवन्ति,
 तद्यथा—व्युत्तरशतं, पञ्चनवतिः, त्रिनवतिः, चतुरशीतिः, द्व्यशीतिश्चेति । तत्राष्टाविंशतिवर्जेषु
 पञ्चसु प्रतिग्रहेषु प्रत्येकेषु पञ्च पञ्च संक्रमस्थानानि शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वमावलिकामात्रं यावत्,
 तत उपरि द्व्यशीतिवर्जानि चत्वारि स्थानानि संक्रामन्ति । अष्टाविंशतिपतद्ग्रहेऽपि द्व्यशीतिव-
 र्जानि चत्वारि स्थानानि संक्रामन्ति । संज्ञिपर्याप्तके अष्टौ प्रतिग्रहस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—
 त्रयोविंशतिः, पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशत्, एकत्रिंशत्,
 एका चेति । संक्रमस्थानानि द्वादश, तद्यथा—व्युत्तरशतं, व्युत्तरशतं, एकोत्तरशतं, पण्णवतिः,
 पञ्चनवतिः, चतुर्नवतिः, त्रिनवतिः, एकोननवतिः, अष्टाशीतिः, चतुरशीतिः, द्व्यशीतिः,
 एकाशीतिश्चेति । तत्र त्रयोविंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशतिषु त्रीषु प्रतिग्रहेषु प्रत्येकं व्युत्तरशतप-
 ञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिरूपाणि पञ्च पञ्च संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । अष्टाविं-
 शत्यां व्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिरूपाणि चत्वारि संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति ।
 एकोनत्रिंशति, त्रिंशति च प्रतिग्रहे व्युत्तरशतव्युत्तरशतपण्णवतिपञ्चनवतित्रिनवतिचतुर-
 शीतिद्व्यशीतिरूपाणि सप्त संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । एकत्रिंशति व्युत्तरशतव्युत्तरशत-
 पण्णवतिपञ्चनवतिरूपाणि चत्वारि संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । एकस्मिन् पतद्ग्रहे व्युत्तर-
 शतैकोत्तरशतपञ्चनवतिचतुर्नवत्येकोननवत्यष्टाशीतिद्व्यशीत्येकाशीतिरूपाण्यष्टौ संक्रमस्था-
 नानि संक्रामन्तीति जीवस्थानेषूक्तः संक्रमप्रतिग्रहस्थानानां संवेधः । अत्रोक्तशेषं संक्रमप्रति-
 ग्रहसत्ताबन्धप्रकृतिस्थानभङ्गादिकं सर्वं स्वयमेव परिभाषनीयं, विस्तरभयाच्च नात्र लिख्यत
 इति समाप्तोऽयं प्रथमो विभागः ॥

संक्रमश्च पतद्ग्रहः स्थानके गुणजीवयोः ।

संवेधश्च तयोस्तत्र भागेऽवसेय आदिमे ॥

सर्वाश्चर्यकरे प्रभावभवने श्रीदानसूरीशितुः,

साम्राज्ये विजयोत्तरेण मुनिना प्रेमामिधान्तेपदा ।

संदृष्टे वरसंक्रमाख्यकरणे कर्मस्वरूपातिथौ,

सप्ताष्टाद्वादशाब्दसंवति शुभे भागोऽजनिष्ठादिमः ॥

